चन्द्रशेखरचक्रवर्तिकृतसन्दर्भदीपिकाटीकया समलङ्कृतम्
अभिज्ञानशकुन्तलम्

Prakashika Series
No. 10

General Editor
Dipti S. Tripathi

चन्द्रशेखरचक्रवर्तिकृतसन्दर्भदीपिकाटीकया समलङ्कृतम्
अभिज्ञानशकुन्तलम्

सम्पादक:

वसन्तकुमार म० भट्ट

राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन

नयी दिल्ली

तथा

न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन

नयी दिल्ली

प्रकाशक :
राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन
11, मानसिंह रोड,
नई दिल्ली–110 001
फोन : 2338 3894; फैक्स : 2307 3387
E-mail: director.namami@nic.in
www.namami.org

सह–प्रकाशक :
न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन
208, द्वितीय तल, प्रकाशदीप बिल्डिंग,
4735/22, अंसारी रोड, दरिया–गंज,
नई दिल्ली–110002
फोन : 011-23280214, 011-23280209
E-mail : deepak.nbbc@yahoo.in

प्रथम संस्करण : 2013

ISBN: 978-93-80829-02-9 (Series)
ISBN: 978-93-80829-18-0 (Vol. X)

मूल्य : Rs. 300.00

आमुख

संस्कृत साहित्य में ही नहीं विश्व साहित्य में भी अभिज्ञानशकुन्तलम् का स्थान अद्वितीय है। कालिदास का यह अद्‌भुत नाटक साहित्याकाश का वह जाज्वल्यमान प्रदीप है जिसने समालोचकों, साहित्यप्रेमियों एवं सामान्य पाठकों को भी रसाप्यायित किया है। लेकिन जिस प्रकार इसके रचयिता कालिदास के विषय में ऐतिहासिक प्रमाणों के भाव में मतमतान्तर प्रचलित हैं उसी प्रकार अभिज्ञानशकुन्तलम् को लेकर भी पाठों के विषय में अनेक भेद उपलब्ध होते हैं। सबसे पहले तो नाटक का नाम ही अभिज्ञानशकुन्तलम् एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् दोनों रूपों में उपलब्ध होता है। पुन: नाटक के आकार, विस्तार तथा उसमें उपलब्ध श्लोकों की संख्या को लेकर भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इस नाट्यकृति की दो पाठ परम्पराएँ उपलब्ध होती हैं (1) लघुपाठ एवं (2) वृहत् पाठ। लघुपाठ परम्परा में, देवनागरी में लिखित एवं भारत के दाक्षिणात्य प्रान्तों में उपलब्ध पाठ प्रकाशित हो चुके हैं। वृहत् पाठ परम्परा में बंगाली, मैथिली, काश्मीरी एवं उत्कल प्रान्त में उपलब्ध पाठ-भेद विद्वानों के समक्ष मूल पाठ के निर्धारण में समस्याएँ उत्पन्न करते हैं। इतना ही नहीं इन पाठ-भेदों पर उपलब्ध टीकाओं की भी लम्बी सूची है। यह विपुल साहित्य कालिदास के मूल पाठ तक पहुँचने में अनेक रूपों में सहायक होता है तो उसके साथ ही अनेक समस्याएँ भी उत्पन्न करता है। यह खेद एवं चिन्ता का विषय है कि अद्यावधि शाकुन्तल की वैसी पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं हो सकी है जिसे कालिदास की मूलकृति के सर्वाधिक निकट माना जा सके। यह अनुपलब्धि जहाँ एक ओर सम्पादन का कार्य कठिन बना देता है वहीं दूसरी ओर इस बात का साक्षात् प्रमाण है कि काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक एवं बंगाल से लेकर गुजरात तक इस नाटक को कितनी लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। डॉ० रिचर्ड पिशेल ने सबसे पहले बंगाल में उपलब्ध पाठ के आधार पर समीक्षित पाठ का प्रकाशन किया था, उसके बाद से अनेक विद्वानों ने विभिन्न पाठों एवं टीकाओं की तुलना कर के मूल पाठ तक पहुँचने का प्रयत्न किया है।

कालिदास की कृतियों का कोई भी मूल पाठ उपलब्ध नहीं होने के कारण समालोचकों के लिए मूल पाठ के निर्धारण में टीकाएँ सहायक सामग्री सिद्ध होती हैं। केवल मूल ग्रन्थ के पाठों के आधार पर किया गया सम्पादन अनेक बार सर्वथा निर्दुष्ट पाठ का निर्धारण नहीं कर पाता क्योंकि मूल ग्रन्थ का पाठ-भेद लिपिकारों और नाटक के सन्दर्भ में मंचीय

आवश्यकताओं के लिए निर्देशकों की दृष्टि और सुविधा से नियन्त्रित होता है। टीकाकार, रचना के साहित्यिक सन्दर्भों का, उसके गुण-दोषों का एवं पाठ की स्वीकार्यता का तार्किक विश्लेषण कर टीका में अपना मन्तव्य रखता है; इसीलिए शाकुन्तल जैसी प्रचलित एवं लोक प्रसिद्ध कृति के पाठ निर्धारण में टीकाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

शाकुन्तल की शंकरकृत रसचन्द्रिका एवं नरहरिकृत अभिज्ञानशकुन्तल टिप्पणी मिथिला विद्यापीठ में सन् 1957 में प्रकाशित हो चुकी है। उत्कलीय पाठ पर श्री नवकिशोरकर शास्त्री ने आधुनिक काल में एक टीका लिखी है। देवनागरी पाठ पर राघव भट्ट की टीका का नाम अर्थद्योतनिका है। शाकुन्तल की सर्वाधिक टीकाएँ दाक्षिणात्य पाठ पर उपलब्ध होती हैं। इनमें से 'चर्चा' टीका के लेखक का नाम अज्ञात है लेकिन अन्य टीकाओं में काटयवेम की कुमारगिरिराजीया एवं अभिराम की दिङ्मात्रदर्शना उल्लेखनीय हैं। शाकुन्तलव्याख्या श्रीनिवासाचार्य की कृति है। घनश्याम ने संजीवन टिप्पण की रचना की है एवं नारायण पण्डित की टीका का नाम प्राकृतविवृति है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत में शाकुन्तल अत्यधिक लोकप्रिय था और लम्बे समय तक समालोचना का विषय बना रहा।

चन्द्रशेखर नामक टीकाकार ने अभिज्ञानशकुन्तल पर सन्दर्भदीपिका नामक टीका लिखी है। इसी लेखक की शिशुपालवध पर सन्दर्भ चिन्तनम् टीका उपलब्ध होती है। विभिन्न अंत: साक्ष्यों के आधार पर प्रो० वसन्त भट्ट ने लेखक का समय ईसवी सन् 1600-1650 के बीच अनुमान किया है। 17वीं शताब्दी की यह टीका तत्काल उपलब्ध पूर्व के टीकाकारों की टीकाओं से निश्चय ही समृद्ध हुई होगी।

प्रो० वसन्त भट्ट ने पूर्व में अप्रकाशित टीका के सम्पादन में दो पाण्डुलिपियों का उपयोग किया है। जिनमें से एक को वे मूल एवं दूसरी को इसकी अनुकृति मानते हैं। सिर्फ टीका का सम्पादन करना इस बात को स्पष्ट नहीं करता कि वह टीका किस पाठ पर आधारित है अत: प्रो० भट्ट ने रिचर्ड पिशेल द्वारा सम्पादित पाठ को मूल आधार बनाया है।

प्रो० भट्ट ने अत्यधिक श्रम एवं निष्ठा से पूर्वापर का सम्यक् विनियोग करते हुए यह श्रम साध्य सम्पादन किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत प्रमाण आगे भी विद्वानों को अभिज्ञानशकुन्तल के कालिदासीय मूल पाठ तक पहुँचने में सहायता करेंगे, ऐसा विश्वास है। साहित्य के इस प्रामाणिक ग्रन्थ-सम्पादन के लिए मिशन प्रो० वसन्त भट्ट का आभारी है। न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन ने इसके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन में जो अभिनिवेश किया है उसके लिए मिशन की ओर से साधुवाद। विद्वज्जन की प्रतिक्रियाएँ मिशन के प्रकाशनों को सार्थकता एवं गति प्रदान करेंगी।

प्रथम आषाढ 1935 **दीप्ति त्रिपाठी**

22 जून, 2013

नयी दिल्ली

अस्मदीयम्

महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् की देवनागरी वाचना पर राघवभट्ट की "अर्थद्योतनिका" टीका प्रकाशित है तथा दाक्षिणात्य वाचना पर बहुत सारी टीकायें प्रकाशित हुई हैं। इनमें काटयवेम की कुमारगिरिराजीया, अभिराम की दिङ्मात्रदर्शिनी, श्रीनिवासाचार्य की व्याख्या, घनश्याम की सञ्जीवन-टिप्पण, अज्ञातकर्तृक चर्चा टीका गणमान्य हुई हैं। मैथिली वाचना पर शङ्कर एवं नरहरि की दो टीकायें भी प्रकाशित हुई हैं। लेकिन इस नाटक की बंगाली वाचना पर लिखी गयी एक भी टीका अद्यावधि प्रकाशित नहीं हुई थी। इस वाचना पर चन्द्रशेखर चक्रवर्ती ने टीका लिखी थी, किन्तु उसकी एक भी पाण्डुलिपि भारत में नहीं थी। आज यहाँ पर चन्द्रशेखर चक्रवर्ती की "सन्दर्भ-दीपिका" टीका का समीक्षित पाठसम्पादन प्रकाशित किया जाता है। यह क्षण एक अपूर्व उत्सव समान है। क्योंकि भारत में लिखी गयी, लेकिन आज इन्डिया ऑफिस लाईब्रेरी, लंदन के संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही दो पाण्डुलिपियों के आधार पर उसीका प्रकाशन हो रहा है। ये दोनों पाण्डुलिपियाँ बंगलिपि में लिखी गयी हैं। उसका विनियोग डॉ. रिचार्ड पिशेल एवं डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल के द्वारा किया गया था। पिशेल ने इस टीका के कुछ अंश अपने प्रथम संस्करण में दिये थे। लेकिन अद्यावधि उसका साद्यन्त पाठ देवनागरी में लिप्यन्तरण करके समीक्षित संस्करण के रूप में प्रकाशित नहीं हुआ था। यह आज कालिदासानुरागिओं के समक्ष प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है।।

करीब एक सौ साल से ऐसा पूर्वाग्रह फैला हुआ है कि अभिज्ञानशकुन्तलम् का बंगाली वाचना में प्रवहमान पाठ प्रक्षेपों से भरा है और वह मौलिकता से बिछड़ा हुआ पाठ है। देवनागरी पाठ की ओर पक्षपात दिखानेवाले प्रॉफे. पी. एन. पाटणकर (1902), प्रॉफे. शारदारञ्जन राय (1908), और पण्डितप्रवर डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी (1986) आदि विद्वानों ने बंगाली वाचना के पाठ की कड़ी आलोचना की है, और देवनागरी वाचना के पाठ को ही मूलभूत पाठ माना है। आज सारे भारतवर्ष में इस नाटक का पठन-पाठन देवनागरी वाचना के पाठ से ही चल रहा है।। लेकिन प्रॉफे. दिलीपकुमार काञ्जीलाल (1980)ने पहली बार बंगाली पाठ की आपेक्षिक प्राचीनता एवं मौलिकता का समर्थन अनेक प्रमाणों

से किया है। जिससे इस विवादग्रस्त प्रश्न में पुनरपि नवजागृति लायी गयी है। भूतकाल में कतिपय ऐसे भी विद्वान् आये हैं, जैसे कि – प्रो० श्री बलवन्तराय क. ठाकोर (गुजरात, 1922), जिन्होंने किसी एक वाचना के पाठ का आग्रह नहीं जताया था। किन्तु सभी वाचनाओं के पाठान्तरों का आलोडन करके, इकलेक्टीक प्रिन्सिपल्स का आश्रयण करते हुए, जहाँ से भी अधिक नाट्यक्षमता वाला पाठ मिले उसका चयन करके शाकुन्तल का पाठ पुनर्गठित करने का कहा था। (यह अभिगम ऑल इन्डिया ऑरिएन्टल कॉन्फरेन्स के प्रथम अधिवेशन, पूणे, 1912 में "द टेक्स्ट ऑफ शकुन्तला" शीर्षकवाले शोध-आलेख से व्यक्त किया गया था।) तत्पश्चात् श्रद्धेय प्रो० एस. के. बेलवलकर जी (पूणे, 1923)ने अभिज्ञानशाकुन्तल के विभिन्न दृश्यों की उच्चतर समीक्षा करके, काश्मीरी पाठ की ओर अपना पक्षपात घोषित किया था। संक्षेप में कहें तो, विगत शताब्दी में केवल चार-पाँच विद्वानों ने ही इस नाटक की पाठालोचना की है। और अभी भी अभिज्ञानशाकुन्तल की सर्वसम्मत हो सके ऐसी समीक्षितावृत्ति बनाने का कार्य अवशिष्ट है। क्योंकि 1. काश्मीरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं का सही समीक्षित पाठसम्पादन अभी तक अवशिष्ट है, तथा 2. बंगाली वाचना पर लिखी गयी चन्द्रशेखर चक्रवर्ती जैसे महत्त्वपूर्ण टीकाकार की टीका अद्यावधि अप्रकाशित रही थी। किसी भी कृति का समीक्षित पाठसम्पादन तैयार करने में प्राचीन टीकाएँ सहायक-सामग्री की भूमिका निभाती हैं। अतः उसका प्रकाशन परम उपकारक सिद्ध होगा।

अभिज्ञानशकुन्तल की उपलब्ध पाँचों वाचनाओं में से बंगाली वाचना का पाठ ही सब से प्राचीन है ऐसा डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल (1980) ने सिद्ध किया है। लेकिन बंगाली वाचना का पाठ ही सर्वांश में मौलिक भी होगा यह मानना मुश्किल है। अतः चन्द्रशेखर चक्रवर्ती की इस सन्दर्भदीपिका टीका का समीक्षित पाठसम्पादन करने के साथ साथ, बंगाली पाठ की उच्चतर समीक्षा करना भी अनिवार्य है ऐसा सोचा गया है। इस तरह की समीक्षा के लिए मौलिकता का दावा करनेवाली देवनागरी एवं बंगाली वाचनाओं का तुलनात्मक परीक्षण अधिक फलदायी होगा इस विचार से प्रेरित होकर यहाँ बंगाली एवं देवनागरी पाठ में प्रक्षेप एवं संक्षेप का तुलनात्मक विवरण भी प्रस्तुत किया गया है। बंगाली पाठ मौलिकता के नजदीक होते हुए भी उसमें कुछ ऐसे अंश दिखते हैं कि जो कृतिनिष्ठ आन्तरिक प्रमाणों से प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं। देवनागरी के पाठ में अनेक स्थानों पर कटौती करके पाठ को संक्षिप्त किया गया है यहाँ उस पर भी विस्तार से चर्चा की गयी है। इस चर्चा के दौरान, इस नाटक के पाठ का संचरण-इतिहास भी ध्यान में आया है। चतुर्थाङ्क के आरम्भिक चार श्लोकों के पाठभेद से ऐसा इङ्गित मिला है कि शाकुन्तल की विद्यमान पाण्डुलिपिओं में शारदालिपि के पाठ से आरम्भ करके पहले मैथिली वाचना में पाठसंक्रमण हुआ है। तदनन्तर मैथिली से बंगाली वाचना का बृहत्पाठ आकारित हुआ होगा और चतुर्थ

स्तर पर बृहत्पाठ में से संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया शुरू होकर देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं का लघुपाठ सम्भूत हुआ है।। यदि इन दोनों पाठ–परम्पराओं की उच्चतर समीक्षा करके मौलिकता कहाँ पर संनिहित है यह निर्णीत नहीं किया जायेगा और दोनों पाठ–परम्पराओं के पक्षधर परस्पर विमुख या उदासीन ही रहेंगे तो अभिज्ञानशाकुन्तल के सही पाठ से और सही सौन्दर्य से हम अभी भी वञ्चित रहेंगे। आशा है कि प्रस्तुत प्रयास से इस दिशा में नया अरुणोदय होगा। इस कार्य में मेरे अनेक प्रिय छात्रों ने निरन्तर परिश्रम किया है। पाण्डुलिपियों का देवनागरी में लिप्यन्तरण करने में श्रीमती भारती पटेल, श्री धमेन्द्र भट्ट साधुवाद के पात्र हैं। श्री सञ्जय दमयन्ती एवं श्रीमती शिप्रा दत्त के प्रति भी सहायता के लिए आभार।

राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन की विदुषी निदेशिका प्रो० दीप्ति त्रिपाठी का सादर आभार जिन्होंने प्रकाशिका सिरीज़ में इस ग्रन्थ के प्रकाशन का प्रस्ताव स्वीकार ही नहीं किया, उसे तुरंत कार्यान्वित भी किया।

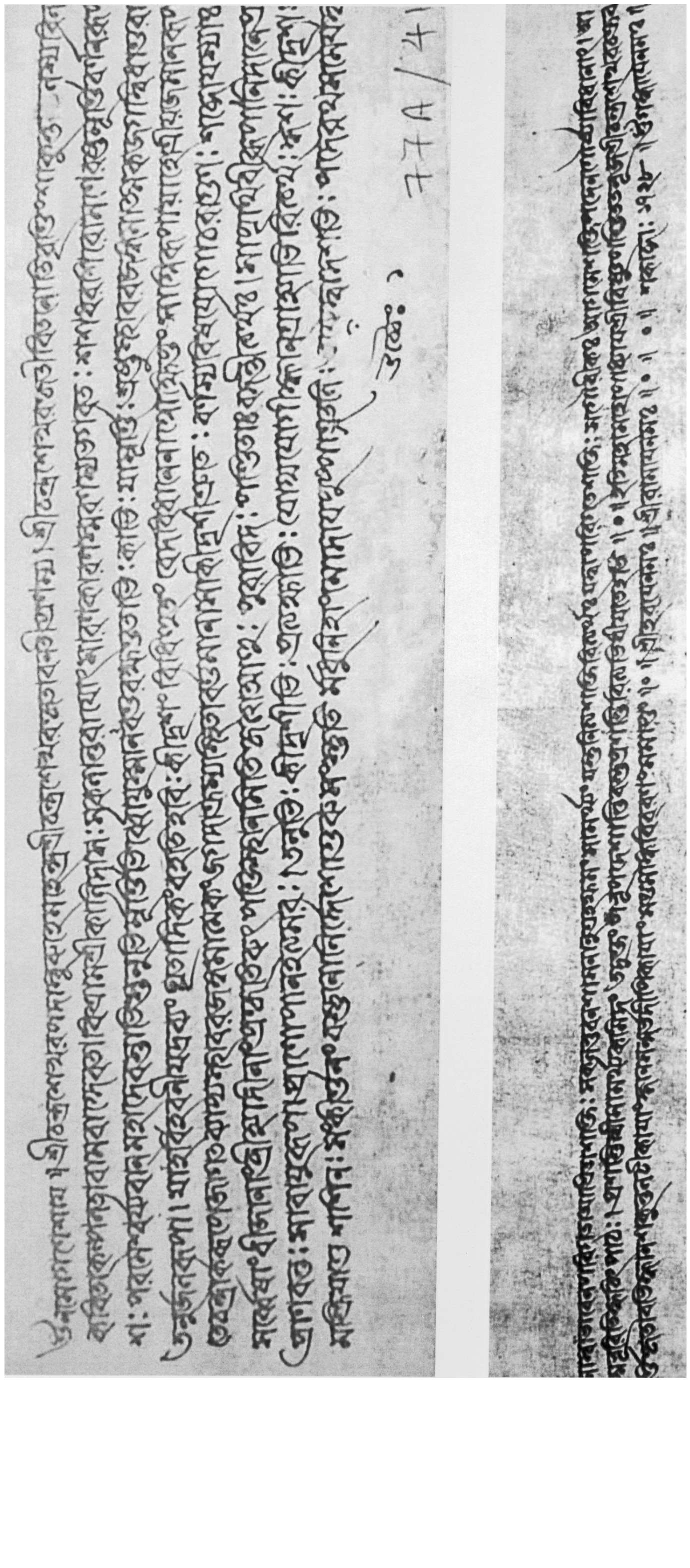
सहधर्मचारिणी श्रीमती वृन्दा भट्ट तथा सुपुत्री डॉ० कृष्णा एवं चि० विश्वेश मेरे कार्य में प्रेरणा स्रोत रहे हैं। उन्हें आभार व्यक्त कर उनके महत्त्व को कम नहीं करूँगा। इस कार्य की पूर्ति में विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान करने के लिए निम्नांकित विद्वानों का नाम स्मरण समीचीन होगा। सबसे पहले चन्द्रशेखर चक्रवर्ती की इस टीका की दो पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध करवाने के लिए इण्डिया ऑफिस लाईब्रेरी, लंदन के प्रति मैं औपचारिकता निभाते हुए हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिनके अभाव में यह सम्पादन सम्भव ही नहीं था। एक तीसरी प्रति के रूप में, डॉ० दिलीप कुमार काञ्जीलाल ने जो इस टीका की प्रति अपने हाथों से लंदन में लिखी थी, वह मुझे प्रदान की थी, उसके लिए भी मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ और प्रणाम निवेदित करता हूँ। इस कार्य के प्रति शुभाशंसा प्रदान करने के लिए मैं पूज्यश्री डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी जी, डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी, डॉ० जितेन्द्र शाह, डॉ० बालकृष्ण शर्मा, डॉ० प्रभुनाथ द्विवेदी को सादर प्रणामाञ्जलि निवेदन करता हूँ।

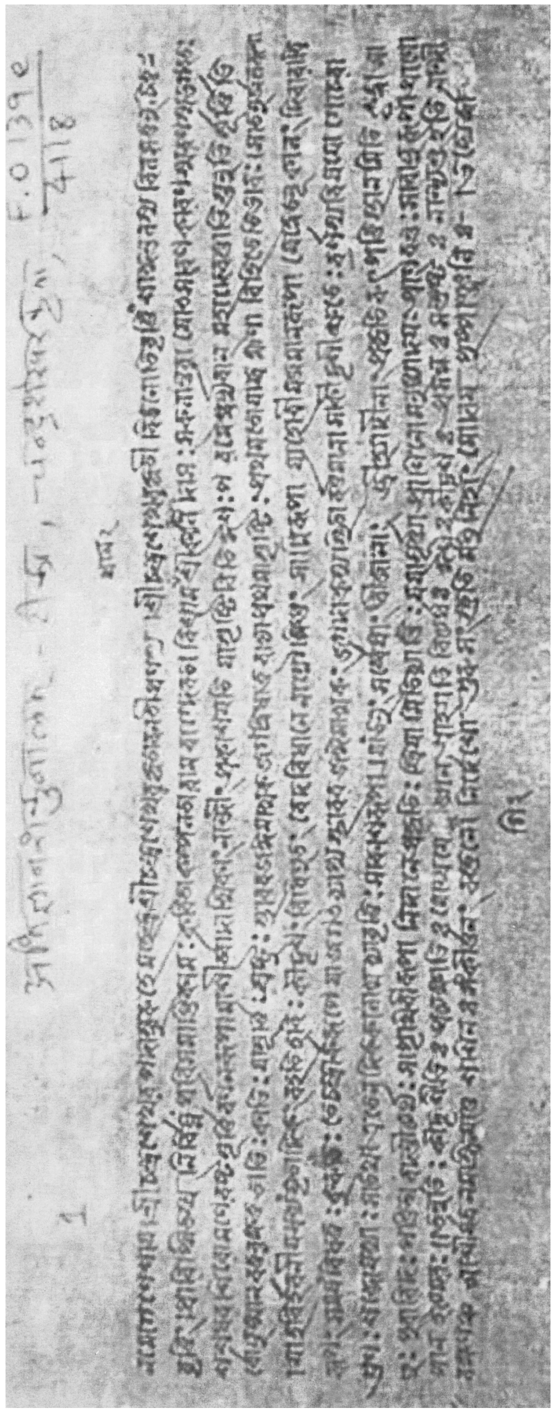
14 जनवरी, 2013 — **वसन्तकुमार म० भट्ट**

मकरसंक्रान्ति — अहमदावाद

अनुक्रमणिका

पाण्डुलिपियों के फोटोग्राफ्स





इन्डिया ऑफिस लाईब्रेरी, लंदन के संग्रहालय में स्थित मेन्युस्क्रिप्ट, क्रमांक 4117 एवं 4118

प्रस्तावना

1. उपोद्घात

कवि कालिदास का अभिज्ञानशकुन्तल नाटक न केवल संस्कृत नाट्य-साहित्य में उत्तमोत्तम सर्जन है, किन्तु विश्वनाट्य साहित्य में भी वह प्रथम पङ्क्ति में विराजमान है। यह नाटक श्रेष्ठ एवं सर्वाधिक लोकप्रिय होने से रङ्गमञ्च पर भी उसकी प्रस्तुति बार बार होती रही है। किन्तु इसी कारण से उसके मूलपाठ में भी निरन्तर बहुविध परिवर्तन होते रहे हैं। परिणामत: आज भारत देश की विभिन्न लिपियों में लिखी गयी पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ इस नाट्यकृति का पाठ दो पाठपरम्पराओं में प्रवाहित हुआ मिलता है। (1) बृहद् पाठ एवं (2) लघु पाठ। पहली, बृहद् पाठपरम्परा की तीन या चार वाचनायें मिलती हैं। जैसे– 1. बंगाली 2. मैथिली, 3. काश्मीरी और 4. उत्कलीय। दूसरी, लघु पाठपरम्परा की दो वाचनायें दिखती हैं–5. देवनागरी, एवं 6. दाक्षिणात्य। (इन पाँचों वाचनाओं को रंगावृत्तियों के रूप में भी देख सकते हैं। मंचन के दृष्टिकोण से देखा जाय तो बृहत्पाठवाला नाटक अभिज्ञानशकुन्तल नाम से प्रचलित हुआ है तथा लघुपाठवाला अभिज्ञान-शाकुन्तल नाम से प्रचलित हुआ है। इस नाटक की द्विविध पाठपरम्पराओं पर टीकाकारों ने जब टीका-टिप्पण लिखे तब उन्होंने अलग अलग प्रान्त में प्रचलित पाठपरम्परा को अपने सामने रखा। अत: इन टीका-टिप्पणादि का सम्बन्ध भी किन किन वाचनाओं के साथ है वह भी ज्ञातव्य है। प्राप्त सूचनाओं के आधार पर कहा जाता है कि (1) बंगाली वाचना पर दो टीकायें लिखी गयी हैं:-(क) चन्द्रशेखर चक्रवर्ती की "सन्दर्भदीपिका" टीका, जिसकी समीक्षितावृत्ति आपके हाथ में है। यह प्रथम बार प्रकाशित हो रही है। (ख) न्यायाचार्य की "रसिकमनोरमा" नामक टीका, जिसके सम्पादन का कार्य अभी चल रहा है। (2) मैथिली पाठ पर शङ्कर की "रसचन्द्रिका" एवं नरहरिकृत "अभिज्ञानशकुन्तलटिप्पणी", जो मिथिला विद्यापीठ, (सन्1957 में) दरभङ्गा से प्रकाशित हुई है। (3) काश्मीरी पाठ पर किसी ने टीका लिखी है या नहीं उसकी कोई सूचना नहीं है। (4) उत्कलीय पाठ (जिसको स्वतन्त्र पाठपरम्परा कहना मुश्किल है, उस) पर एक आधुनिक टीका मिलती है, जिसके रचयिता हैं श्रीनवकिशोरकर शास्त्री, वाराणसी। (5) देवनागरी पाठ पर राघवभट्ट ने एक टीका लिखी है, जिसका नाम "अर्थद्योतनिका" है और (6) जो दाक्षिणात्य पाठ है, उस पर अनेक

टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। जैसे 1. काटयवेम की "कुमारगिरिराजीया" नामक टीका, 2. अभिराम की "दिङ्मात्रदर्शना" व्याख्या, 3. श्रीनिवासाचार्य की "शाकुन्तलव्याख्या", 4. घनश्याम की "सञ्जीवन-टिप्पण", 5. अज्ञातकर्तृक "चर्चा" टीका, 6. नीलकण्ठ दीक्षित की टीका, 7. नारायण पण्डित की "प्राकृत-विवृति" टीका इत्यादि।।

अभिज्ञानशकुन्तल की पाँचों वाचनाओं में से बंगाली वाचना का पाठ ही डॉ० रिचार्ड पिशेल के द्वारा सर्व प्रथम "समीक्षित-पाठ" के रूप में प्रकाशित हुआ था। तथा डॉ० दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने दुबारा इसी तरह का कार्य प्रस्तुत किया है। जिसमें उन्होंने तीन काश्मीरी पाण्डुलिपियों का भी विनियोग किया है। डॉ० काञ्जीलाल ने यह सयुक्तिक सिद्ध किया है कि अभिज्ञानशकुन्तल की सभी वाचनाओं में से बंगाली वाचना का पाठ ही प्राचीनतम है। तथापि इस वाचना के पाठ पर लिखी गयी दो टीकाओं में से एक भी टीका को प्रकाशित होने का सौभाग्य नहीं मिला था। अत: बंगाली पाण्डुलिपियों में प्रवाहित हुए इस नाटक के पाठ पर लिखी गयी चन्द्रशेखर चक्रवर्ती (ईसा की 16वीं शताब्दी) की इस "सन्दर्भदीपिका" टीका का प्रकाशन-कार्य चिरकाल से अभिलषित था। प्रस्तुत प्रकाशन से वह सम्पन्न हो रहा है।

2. टीका-ग्रन्थों के प्रकाशन की उपयोगिता

संस्कृत काव्य-साहित्य की विभिन्न कृतिओं पर बहुत प्राचीन समय से टीका-टिप्पण-व्याख्यादि का प्रणयन होता रहा है। काव्य-सर्जन की प्रक्रिया के साथ साथ टीकाओं का प्रणयन होना भी स्वाभाविक ही है। क्योंकि सरस्वती का प्रथम उन्मेश कारयित्री प्रतिभा के रूप में प्रकट होता है, तथा दूसरा उन्मेश भावयित्री प्रतिभा के रूप में उदित होता है। जिसको आनन्दवर्धन ने "सरस्वत्यास्तत्त्वं कवि-सहृदयाख्यं विजयते।" इन शब्दों से कहा है। इस तरह साहित्य-जगत् में काव्यकृतियों के अनुज के रूप में टीका-ग्रन्थों का मूल्य भी महत्त्वपूर्ण है। इन टीका-ग्रन्थों के सहारे हम काव्यसौन्दर्य को पाने के लिए कदाचित् विशेष रूप से सक्षम हो सकते हैं। किन्तु आधुनिक युग में, काव्यकृतियों के रसास्वाद में सहायक ग्रन्थों के रूप में टीका-ग्रन्थों का मूल्य यथावत् रहते हुए भी क्योंकि हमारा एक दूसरे दृष्टिकोण से भी इनका महत्त्व बहुत अधिक प्रतीत होने लगा है। संस्कृत साहित्य ईसा पूर्व से चला आ रहा है और उसके पाठसंचरण का इतिहास अन्धेरे में होने से कविओं के द्वारा प्रणीत इन काव्यों के मूल पाठ का निर्धारण करना ही "इदं प्रथमतया" कर्तव्य बन गया है। पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहा पाठ तो दो सौ या तीन सौ साल से अधिक पुराना नहीं होता है क्योंकि पाण्डुलिपियाँ भूर्जपत्र या ताडपत्र, कागजादि जैसे अस्थाई फलक पर लिखी होने से उसके पुनर्लेखन/ प्रतिलिपिकरण की बार बार आवश्यकता रहती है। जिसके कारण आज उपलब्ध होनेवाली प्राय: सभी पाण्डुलिपियाँ दो सौ, तीन सौ साल से अधिक पुरानी नहीं होती हैं। अब पाठ-सम्पादक जब किसी भी एक-कर्तृक हो ऐसे काव्य के मूल पाठ

का सम्पादन करना चाहता है तब उसका अन्तिम लक्ष्य तो कवि-प्रणीत हो ऐसे मौलिक पाठ की गवेषणा करना, अथवा कवि-प्रणीत होने की जिस में सब से अधिक सम्भावना है ऐसे पाठ का निर्धारण करना होता है।[1] इस अन्तिम लक्ष्य को सिद्ध करने से पहले, पाठसम्पादक को प्राचीन काल से चली आ रही शताधिक पाण्डुलिपियों में से सब से पुराने समय में लिखी गयी हो ऐसी पाण्डुलिपि के सहारे "प्राचीनतर" काल के पाठ को ढूँढना है। और प्राचीनतर पाठ का निश्चय करने के बाद, उस काव्यकृति पर लिखी गयी टीकाओं में प्रतिबिम्बित हो रहे प्राचीनतम पाठ को भी ढूँढना आवश्यक होता है। क्योंकि काव्यकृति की पाण्डुलिपियाँ तो दो सौ, तीन सौ साल से अधिक पुरानी होती नहीं है, जब कि उनके टीकाकार तो इन पाण्डुलिपियों के रचना-काल से कहीं अधिक प्राचीनतर काल में बैठे होते हैं। अतः किसी भी एक-कर्तृक काव्य के प्राचीनतम पाठ को उजागर करने के लिए टीका-ग्रन्थों का मूल्य निर्विवाद रूप से बहुत अधिक है।। प्रस्तुत सन्दर्भ में बंगाली पाण्डुलिपियों के आधार पर प्रॉफे. रिचार्ड पिशेल (1876) तथा डॉ० दिलीपकुमार काञ्जीलाल (1980) ने अभिज्ञानशकुन्तल के बंगाली पाठ का समीक्षित पाठ-सम्पादन प्रकाशित किया है। लेकिन उसमें केवल नाटक के पाठ को संचरित करनेवाली बंगाली पाण्डुलिपियों का प्राधान्येन विनियोग हुआ है ऐसा दिखता है। यद्यपि उन दोनों महाशयों को चन्द्रशेखर की टीका का सुचारु परिचय है और उन्होंने उसका (प्राकृत उक्तियों के पाठ का निश्चय करने के लिए) बहुशः विनियोग भी किया है ऐसा कहा है। फिर भी चन्द्रशेखर चक्रवर्ती की टीका में प्रतिबिम्बित हो रहे पाठ के साथ बंगाली पाण्डुलिपियों में संचरित हुए पाठ का तौलनिक अभ्यास करके बंगाली पाठपरम्परा का प्राचीनतर पाठ कौन सा हो सकता है उसका निष्कर्ष शायद नहीं निकाला है ऐसा लगता है। कहने का तात्पर्य यही है कि केवल नाट्यकृति के पाठ की पाण्डुलिपियों के आधार पर समीक्षित पाठसम्पादन तैयार करने से पहले उस नाट्यकृति की जितनी भी टीकायें उपलब्ध हो सकती हैं उनका प्रकाशन होना चाहिए। टीकाकार अतिप्राचीन काल के होने से उनके समक्ष निश्चित रूप से अधिक पुरानी पाठपरम्परा हो सकती है। अतः ऐसी प्राचीन काल की टीकायें पाठसम्पादन के कार्य में अधिक श्रद्धेय "सहायक सामग्री" मानी जाती हैं, जिसमें काव्यकृतियों की पाण्डुलिपियों में संचरित हुए पाठ की अपेक्षा से अधिक प्राचीनतर पाठ सुरक्षित मिल सकता है। अतः प्रस्तुत टीका के सम्पादन से यह भी जानने को मिलेगा की बंगाली पाठ का प्राचीनतम स्वरूप कैसा रहा है।

---

1. प्राच्यविद्या से सम्बद्ध साहित्य की कृतियों का पाठ पञ्चविध है। 1. अकर्तृक वेदसाहित्य (मन्त्रसंहितायें), 2. श्रुतसाहित्य (बुद्ध एवं महावीर की वाणी), 3. अनेककर्तृक रचनायें (सूत्र, रामायण-महाभारतादि), 4. एककर्तृक रचनायें (काव्य, शास्त्रग्रन्थ, भाष्यादि) एवं 5. उत्कीर्ण शिलालेखादि। द्वितीय-तृतीय प्रकार के पाठ के संशोधन में केवल प्राचीनतम पाठ का निर्धारण ही इष्ट माना जाता है।

3. समीक्षणीय सामग्री के रूप में उपयुक्त पाण्डुलिपिओं का विवरण

टीकाकार चन्द्रशेखर चक्रवर्ती के द्वारा प्रणीत "अभिज्ञान-शकुन्तल-सन्दर्भदीपिका" (अपर नाम "अभिज्ञानशकुन्तल-विवरण") नामक टीका की दो पाण्डुलिपियाँ दि इण्डिया ऑफिस लाईब्रेरी, लन्दन के डीस्क्रिप्टिव केटलॉग में, (1) san, ms, i.o. 77-a : Keith, 4117 एवं (2) san, ms, i-o-1398e : Keith, 4118 क्रमाङ्क से निर्दिष्ट हैं।।

(क) प्रथम मातृका (क्रमांक–77–अ.) 4117, जिसके फलक का आकार 12×08 इंच है और पीले कागज पर पुरानी बंगलिपि में लिखी गयी है। यह कुल मिला कर 38 फोलियो में परिसीमित है। प्रत्येक पृष्ठ पर 8 पङ्क्तियाँ लिखी हैं, तथा प्रत्येक पङ्क्ति में प्राय: 76 अक्षर अंकित हैं। इस मातृका का लेखन-काल 1728 शकाब्द है, अर्थात् 1806 ई.स. में लिखी गयी है।।

(ख) द्वितीय मातृका (कोलब्रुक कलेक्शन, क्रमांक–1398,) 4118 है, जिसमें 12×06 इंच का फलक है और पुराने पीले कागज पर लिखी गयी है। प्रत्येक पृष्ठ पर10 पङ्क्तियाँ लिखी गयी हैं तथा प्रत्येक पङ्क्ति में करीब 60 अक्षर अंकित हैं। यह पाण्डुलिपि 18वीं शताब्दी के आरम्भिक समय में बंगलिपि में लिखी गयी है। यह पाण्डुलिपि कुल मिला के 40 फोलियो में परिसीमित है। 22 से 36 क्रमाङ्क के फोलियो लिखनेवाला लिपिकार कोई अन्य व्यक्ति हो सकता है। पुष्पिका भी किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा लिखी गयी दिखती है। यह मातृका पहलीवाली से अधिक सुवाच्य है।

(ग) डॉ॰ श्रीदिलीपकुमार काञ्जीलाल ने (लन्दन में) ऊपर वर्णित दोनों पाण्डुलिपियों की एक प्रतिलिपि अपने हाथों से लिखी थी। उन्होंने वह कॉपी उनकी ओर से मुझे सहर्ष भेंट की है। मूल मातृकायें जहाँ भी अवाच्य या सन्देहास्पद थीं वहाँ पर उनकी लिखी हुई प्रतिलिपि का विनियोग किया गया है जिसके लिये मैं डॉ॰ काञ्जीलालजी के प्रति आभारी हूँ और प्रणामाञ्जलि के साथ उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।।

(घ) ऐसा संकेत मिलता है कि एक और पाण्डुलिपि भी बांग्ला देश की राजशाही लाईब्रेरी में सुरक्षित है, जिसका क्रमांक–4336 है। परन्तु वहाँ पर किये गये पत्राचार का कोई प्रत्युत्तर मिला नहीं है।

4. प्रस्तुत पाठसम्पादन का परिचय एवं स्वीकृत नियम

भूमिका:–पूर्व-निर्दिष्ट दोनों बंगीय लिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपिओं में संचरित पाठ का सर्व प्रथम देवनागरी-लिप्यन्तरण किया जाना चाहिए। इस टीका का पाठ देवनागरी में उपलब्ध होने पर ही इसका विनियोग व्यापक फलक पर हो सकता है। तदनन्तर, द्वितीय सोपान पर पाण्डुलिपिओं में पढ़े गये पाठ का व्याकरणानुसारी शुद्धिकरण करना परम

आवश्यक है। इसके लिये लिपिकार के प्रमादजन्य-स्खलनों को दूर करना तथा जहाँ भी कोई अवाच्यांश हो तो उस अंश का दूसरी पाण्डुलिपि के आधार पर विशदीकरण करना जरूरी है। दूसरी पाण्डुलिपि के पाठ से साथ पहली पाण्डुलिपि के पाठ का मिलान करते समय जो जो पाठभेद मिलते हैं उसका पादटीप में निर्देश किया गया है। दोनों प्रतियों का तुलनात्मक अभ्यास करके व्याकरण-शुद्ध एवं पूर्वापर सन्दर्भ में सुसंगत हो ऐसे पाठ का चयन करके, उसे आधुनिक विरामचिह्नादि के साथ, एक सुगम एवं परिष्कृत संस्करण तैयार करने का लक्ष्य रखा है।

भाष्य, वृत्ति, टीकादि रूप कृतियाँ अनेक-कर्तृक नहीं होने से (अर्थात् एक-कर्तृक होने के कारण ऐसे) टीका-ग्रन्थों के पाठ-सम्पादन में वाचनाभेद की प्राय:[2] समस्या नहीं होती है। अत: टीका-ग्रन्थ की दो प्रतियाँ जब समान काल में लिखी गयी हों तब उन दोनों में से किसी एक प्रति का पाठ, जो अधिक शुद्ध प्रतीत होता हो, उसको मुख्य आधार के रूप में स्वीकारना चाहिए। यदि उस आधारभूत प्रति में भी कुत्रचित् अवाच्यांश, अशुद्ध पाठ्यांश दिखायी दे तो वहाँ पर दूसरी प्रति का सहारा लेकर मूल पाठ का परिष्कृत स्वरूप तैयार किया जा सकता है। अत: प्रस्तुत टीका का देवनागरी लिप्यन्तरण और उसका एक परिशुद्ध संस्करण तैयार करना सम्पादक का प्रमुख कर्तव्य रहा है।

यहाँ जिन दो पाण्डुलिपियों का उपयोग किया गया है वह किसी एक पूर्वज पाण्डुलिपि से प्रतिलिपि करके तैयार की गयी प्रतीत होती हैं क्योंकि दोनों पाण्डुलिपियों के पाठ में प्राय: सर्वत्र समानता है। पाण्डुलिपि क्रमांक-4118 में कुत्रचित् एक या दो वाक्य अधिक हैं। अन्यथा समान पाठ्यांश मिलता है। अत: इन दोनों को हम समान वंशज प्रतियाँ कहेंगे। इन पाण्डुलिपिओं में संचरित हुए पाठ्यांश का पूर्व इतिहास प्रतिलिपि-कर्ताओं ने कहीं पर भी लिखा नहीं है, किन्तु उसका अनुमान किया जा सकता है:-

"क्ष" (चन्द्रशेखर का अप्राप्य स्वहस्तलेख)

↓

"ज्ञ" (अज्ञात पूर्वज प्रति)

↓

4117 क्रमांक की वंशज पाण्डुलिपि .... 4118 क्रमांक की वंशज पाण्डुलिपि

इस तरह से उपलब्ध की गयी दोनों पाण्डुलिपियों का सम्बन्ध अनुमित किया जा सकता है। (बांग्लादेश में इसी टीका की जो तीसरी पाण्डुलिपि होने की जानकारी मिलती है, वह अनुपलब्ध होने से उसका सम्बन्ध अभी नहीं सोचा जा सकता है।)

---

2. कालिदास के पद्यकाव्यों के प्रथम टीकाकार काश्मीर के वल्लभदेव की टीका में ऐसी समस्या निश्चित रूप से है कि उसका शारदा लिपिवाली पाण्डुलिपियों का पाठ और देवनागरी पाण्डुलिपियों में मिलने वाला पाठ बहुश: भिन्न दिखायी देता है। अत: वहाँ वाचनाभेद की समस्या हो सकती है।

इस सम्पादन में उपर्युक्त दोनों पाण्डुलिपियाँ एक समान पूर्वज से बनी हैं ऐसा दिखता है, इसलिए किसी एक पाण्डुलिपि का पाठ मुख्य रूप से स्वीकारा हो और दूसरी प्रति का पाठ गौण माना हो, ऐसा नहीं है। दोनों प्रतिओं में मिल रहे समान पाठ्यांश में से जिसका पाठ कुत्रचित् अशुद्ध मालूम हुआ है, उसको पादटीप में रखा गया है। जहाँ दोनों में एक समान अशुद्धि दिख रही हो वहाँ पर पाठ की संशुद्धि प्रदर्शित करने के लिए निम्नोक्त कोष्ठकों का विनियोग किया गया है।।

(क) जहाँ किसी खण्डित या लुप्तांशवाले शब्द में किसी एक या दो वर्ण की पूर्ति करनी आवश्यक लगती है वहाँ [ ] इस तरह के कोष्ठक से क्षतिपूर्ति की गयी है।। उदाहरण के रूप में–[न] कदाचित् स[त्]पुरुषा: शोकपरवशा भवन्ति। (पृ. 203)

(ख) जहाँ पर लिपिकार के प्रमाद या अनवधान से किसी अनर्थक वर्ण का लेखन (=पुनर्लेखन) दिख रहा हो और उसे हटाना आवश्यक लगता है, उस निष्कास्य अंश को { } इस कोष्ठक में रखा गया है। उदाहरण रूप में–सखि, चपल: खल्वेष नूनम्। निवारयितुमेकाकिनी न पारयि{ष}ष्यसि। (पृ. 146)

(ग) किसी अशुद्ध पाठ्यांश के स्थान में सूचित शुद्ध पाठ को प्रदर्शित करने के लिए इस सामान्य ( ) कोष्ठक का विनियोग किया है।। (यहाँ पाण्डुलिपि में जो अशुद्ध मिलता है उसको पहले यथावत् रखते हुए सूचितांश को ही कोष्ठक में दिया गया है।) उदाहरण के रूप में–अत्र तावद् दु:स्व(ष)न्तम् स्मर। यतो राजरक्षितानि तपोवनानि। (पृ. 111)

(घ) किसी शुद्ध पाठ्यांश के स्थान में शुद्ध पाठ की कल्पना करना मुश्किल था उसको इस (?) तरह के निशान से अंकित किया है। उदाहरण रूप में–सोमवन्मनपत्यषे (?)। (पृ. 164)

(ङ) और जब पाण्डुलिपियों में कुछ अंश लुप्त या खण्डित मिलता है (और उसका पुनर्गठन सम्भव नहीं है) तो उसे .... बिन्दुओं की लकीर से व्यक्त किया गया है।

सारांश यही है कि दोनों पाण्डुलिपियों का विवेक पुरस्सर विनियोग करते हुए प्रस्तुत टीका का पाठ परिष्कृत रूप में सम्पादित करने का उपक्रम रखा गया है। तथा उपर्युक्त विविध प्रकोष्ठों का विनियोग करने के साथ साथ अल्पविराम, पूर्णविरामादि का भी विनिवेश करके मूल पाठ्यांश को सुगम बनाने का भी लक्ष्य रखा है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण स्पष्टता यह करनी है कि अकेले चन्द्रशेखर की टीका का पाठ प्रस्तुत करने से नाटक के किस पाठ पर टीका लिखी जा रही है वह तुरन्त नहीं मालूम होता है। अत: पहले नाट्यकृति का मूल पाठ देकर चन्द्रशेखर की तत्सम्बद्ध टीका उसके नीचे ही दी गयी है। यहाँ नाट्यकृति का जो पाठ दिया है वह प्राय: डॉ० रिचार्ड पिशेल की आवृत्ति का अनुसरण करते हुए रखा है। एवं जहाँ पर भी डॉ० रिचार्ड पिशेल ने किसी श्लोक को

"मूल पाठ" माना नहीं है, और उसे हटा दिया है, किन्तु टीकाकार चन्द्रशेखर ने ऐसे श्लोक पर टीका लिखी है तो उस श्लोक को यहाँ [ ] इस तरह के प्रकोष्ठ में रखा गया है। ऐसा करने से यहाँ तुलनात्मक दृष्टि से दो बातें ध्यान में आ सकेंगी कि चन्द्रशेखर ने कितने श्लोकोंवाले नाटक का पाठ स्वीकारा है, और चन्द्रशेखर ने जिन प्राकृत उक्तियों का संस्कृत–च्छायानुवाद दिया है उनमें से डॉ० रिचार्ड पिशेल ने कितनी सहायता प्राप्त की है। यद्यपि डॉ० पिशेल ने ऐसा कहा है कि उन्होंने प्राकृत उक्तियों के पाठ का निर्धारण करने के लिए चन्द्रशेखर की टीका से काफी सहायता ली है, फिर भी यहाँ प्रस्तुत हो रहे नाट्यकृति के पाठ और टीका को पाठ का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने से मालूम होगा कि कुछ ऐसे भी स्थान हैं जहाँ पर डॉ० पिशेल ने चन्द्रशेखर का अनुसरण नहीं किया है। यहाँ प्राकृत उक्ति के ध्वन्यात्मक स्वरूप–निर्धारण का प्रश्न तो द्वितीय सोपान पर आता है। किन्तु प्रथम सोपान पर तो उस उक्ति का, उसी स्वरूप में मूल नाटक में होना या नहीं होना–यह निश्चित करना ही महत्त्वपूर्ण बात बन जाती है। डॉ० पिशेल के प्राकृत भाषा के तलस्पर्शी ज्ञान को लेकर कोई विवाद नहीं हो सकता है किन्तु चन्द्रशेखर ने जिस प्राकृत उक्ति को मूल पाठ का अंश माना हो, और डॉ० पिशेल ने उसका त्याग किया हो या कुछ परिवर्तित पाठ को माना हो तो उन दोनों में से प्राचीनतर पाठ क्या हो सकता है? वह विचारणीय बनता है। इस दृष्टि से यहाँ केवल टीका का पाठ न देकर, नाटक के पाठ को (वह भी डॉ० पिशेल–अनुसारी) देकर, ठीक उसके नीचे ही टीका का पाठ देना उपयुक्त समझा है।

5. चन्द्रशेखर का परिचय एवं काल

अभिज्ञानशकुन्तल पर लिखी गयी जिस "सन्दर्भदीपिका" टीका का पाठ यहाँ प्रस्तुत हो रहा है उसके रचयिता बंगाल के चन्द्रशेखर चक्रवर्ती हैं। उन्होंने पुष्पिका में अपने बारे में निम्नोक्त जानकारी दी है:–उनके पिता का नाम श्री विष्णु पण्डित है, जिनको महामहोपाध्याय की उपाधि भी दी गयी थी। इसके अलावा और कोई जानकारी उन्होंने नहीं दी है। संस्कृत साहित्य के अनगिनत रचनाकारों में चन्द्रशेखर नामधारी व्यक्ति भी एकाधिक हैं।[3] अतः अभिज्ञानशकुन्तल पर सन्दर्भदीपिका लिखनेवाले चन्द्रशेखर कौन थे यह निश्चित करना बड़ा मुश्किल कार्य है। डॉ० दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने इस विषय में लिखा है कि

---

3. एशियाटिक सोसायटी के केटलॉग में लिखा है कि एक (1) चन्द्रशेखरपण्डित ने सन्दर्भचिन्तामणि टीका की रचना की है। दूसरे (2) चन्द्रशेखरवाचस्पति ने धर्मदीपिका लिखी थी। तथा तीसरे (3) चन्द्रशेखरशर्मा ने स्मृतिदुर्गमभञ्जनम् एवं तत्वचन्द्रिका की रचना की है। यह चन्द्रशेखर शर्मा नवद्वीप में स्थायी बने वारेन्द्र ब्राह्मण थे। महानाटक पर टीका लिखनेवाले एक (4) चौथे चन्द्रशेखर सर्वथा कोई भिन्न व्यक्ति ही हैं। श्रीराजेन्द्र लाल मित्र के मत से "महामहोपाध्याय चन्द्रशेखर" एवं "चन्द्रशेखर वाचस्पति" ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं। लेकिन इस अभिप्राय के समर्थन में उन्होंने कोई सबल तर्क नहीं दिया है।

केटलॉगस केटलॉगोरम में चन्द्रशेखर नामधारी कुल 11 व्यक्ति निर्दिष्ट किये गये हैं। किन्तु अभिज्ञान-शकुन्तल पर "सन्दर्भदीपिका" टीका लिखनेवाला चन्द्रशेखर रङ्गभट्ट का पौत्र और विष्णु पण्डित का पुत्र है। इस विष्णु पण्डित की पहचान निश्चित नहीं है। प्रॉफेसर मोनियर विलियम्स एवं डॉ० ऑटो बोथलिंक के मतानुसार यह चन्द्रशेखर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के पिता थे। किन्तु प्रॉफेसर डॉ० दिलीपकुमार काञ्जीलाल (1980) के मतानुसार ऐसा मानना उचित नहीं है। क्योंकि स्वयं चन्द्रशेखर ने अनेक स्थानों पर साहित्यदर्पण का उल्लेख किया है। अत: वह विश्वनाथ के पुरोगामी या पिता नहीं हो सकते हैं।[4]

चन्द्रशेखर ने अभिज्ञानशकुन्तल पर सन्दर्भदीपिका टीका लिखने के उपरान्त 1. शिशुपालवध पर सन्दर्भचिन्तामणि टीका, तथा 2. हनुमन्नाटक पर भी टीका लिखी है। चन्द्रशेखर ने इस सन्दर्भ-चिन्तामणि टीका में एक भावदत्त नामक विद्वान् का नामोल्लेख किया है। इस भावदत्त ने जो तत्त्वकौमुदी नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसकी पाण्डुलिपि में लक्ष्मण संवत 572 का निर्देश है। अब लक्ष्मण संवत 572 में "शक संवत 1552" चल रहा था, जिसमें "ईसवीय 1630" चल रही थी। इस के आधार पर चन्द्रशेखर का समय ई. स. 1600 से 1650 के बीच में अनुमित किया जा सकता है।

प्रॉफेसर रिचार्ड पिशेल के मतानुसार (Die Recension der Śakuntala, p. 7) चन्द्रशेखर अभिज्ञान-शकुन्तल का सर्वोत्तम टीकाकार है। या यों कहें कि सब से बड़ा एवं बुद्धिमान् टीकाकार है। उसमें निष्पक्ष न्यायिक बुद्धि, सतर्क पाठसन्तुलन, उपलब्ध सामग्री का सही मूल्यांकन, परम्परा का समुचित ज्ञान एवं श्रद्धेय पाठ-निर्धारण की क्षमता होने से वह एक अच्छा पाठालोचक बन सका है। यद्यपि उसमें कुत्रचित् ज्यादा आत्मविश्वास दिखता है, एवं वह अपने नजदीक के पुरोगामी शंकर की ओर तीव्र-प्रतिक्रिया भी दिखाता है। बड़ा विद्वान् होने से उसने "महामहोपाध्याय" की उपाधि भी अर्जित की है।।

6. लिपिकार द्वारा दी गयी सूचनायें

चन्द्रशेखर चक्रवर्ती की अभिज्ञानशकुन्तल नाटक पर लिखी गयी सन्दर्भदीपिका टीका की उपलब्ध की गयी दो पाण्डुलिपियों के लिखने वाले लेखक कौन थे? यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है। किन्तु उन्होंने इन पाण्डुलिपियों के अन्त में जो पुष्पिका के रूप में दो-चार पंक्तियाँ लिखी हैं उसमें से निम्नोक्त सूचनाएँ मिलती हैं। जैसे कि,

---

4. But Chandrashekhar himself had quoted long passages from the Sahitya-darpana and has referred to some of the emendations occuring in the Sahityadarpana, which clearly proves his posteriority to Vishvanatha.–D.K. Kanjilal, preface, p. 24

इति महामहोपाध्याय-श्रीविष्णुपण्डित-तनूज-
श्रीचन्द्रशेखर-चक्रवर्तिकृतावभिज्ञानशकुन्तलटीकायां (ज्ञान)सन्दर्भदीपिकायां[5]
सप्तमाङ्क-विवरणं समाप्तम्।।
श्रीहरये नम:।। श्रीरामाय नम:।। शकाब्दा: 1728।। ॐ गङ्गायै नम:।।

इससे यह सूचित होता है कि मातृका 4117 के अनुसार समग्र टीका का नाम "ज्ञानसन्दर्भदीपिका" है और मातृका 4118 के अनुसार "सन्दर्भदीपिका" नाम है। यद्यपि इसके अलावा टीका के आरम्भ में तो इस टीका का नाम केवल "सन्दर्भदीपिका" इतना ही दिया है। चन्द्रशेखर ने शिशुपालवध पर जो टीका लिखी है उसे "सन्दर्भचिन्तामणि" नाम दिया है जिससे सिद्ध होता है कि इस टीका का सही नाम "सन्दर्भदीपिका" ही होगा। प्रथमांक की पूर्ति होने पर दोनों ही पाण्डुलिपियों में ऐसी पुष्पिका दी गयी है–इति महामहोपाध्याय-श्रीविष्णु-पण्डित-तनुजन्म-श्रीचन्द्रशेखर-चक्रवर्ति-कृतावभिज्ञान-शकुन्तल-टीकायां प्रथमाङ्क-विवरणम्।। अन्यत्र अङ्कों की समाप्ति पर, संक्षेप में उसे एक अन्य नाम, "अभिज्ञानशकुन्तल-विवरण" से भी घोषित किया गया है तथा कुत्रचित् इतना भी नहीं लिखा है। केवल अमुक अंक समाप्त हुआ इतना ही बताया गया है।।

लिपिकारों के लेखन में कुछ विशेषतायें इस प्रकार दिख रही हैं:–

(क) दोनों पाण्डुलिपियाँ बंगीय लिपि में लिखी हुई हैं। लेकिन दोनों पाण्डुलिपियाँ लिखनेवाले व्यक्ति भिन्न भिन्न हैं। तथा मातृका 4117 का लेखन-काल शकाब्दा: 1728 है, जो ईसा का 1806 वर्ष होगा। मातृका 4118 की पुष्पिका में लेखनकाल नहीं है।।

(ख) यहाँ कुछ संयुक्ताक्षरों की वर्तनी में प्राचीनता झलक रही है। तद्यथा–अवग्रह, ज्ञ, ङ्क, इत्यादि। इसी तरह से वकार एवं रेफ की वर्तनी में बिन्दी के चिह्न से स्पष्टता लायी जा सकती थी, जो नहीं है।

(ग) पाण्डुलिपि क्रमांक-4117 में प्राय: सर्वत्र "प्रियंवदा" के स्थान में "प्रियमुदा" ऐसा शब्द रखा गया है, जो लिपिकार के अज्ञान या अशक्ति का दुष्परिणाम हो सकता है।

7. चन्द्रशेखर द्वारा स्वीकृत बंगाली पाठ का स्वरूप

चन्द्रशेखर की सन्दर्भदीपिका-टीका का सब से पहले जो परिचय देना आवश्यक है वह यह कि उन्होंने अभिज्ञानशकुन्तल पर टीका लिखते समय अपने समक्ष नैरन्तर्येण शङ्कर की रसचन्द्रिका टीका को रखा है। लेकिन शङ्कर के द्वारा स्वीकृत जो पाठ है उससे अपना साम्प्रदायिक बंगाली पाठ जहाँ जहाँ पृथक् है उसकी ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया ही है। उदाहरण के रूप में देखें तो–

---

5. मातृका 4118 इत्यत्र तु केवलं "सन्दर्भदीपिकायाम्" इति लिखितं वर्तते।

(क) प्रथमाङ्क में सरसिजमनुविद्धम्० (1-19) श्लोक के बाद "अपि च" से अवतारित, कठिनमपि मृगाक्ष्या वल्कलं कान्तरूपम्० (1-20) ऐसा एक विशेष श्लोक चन्द्रशेखर ने माना है और उस पर व्याख्या की है। किन्तु यह श्लोक मैथिल पाठपरम्परा में नहीं होने से शङ्कर ने उस पर व्याख्या नहीं लिखी है। इस बात की जानकारी दिखाते हुए चन्द्रशेखर ने लिखा है कि-पद्यमिदं दाक्षिणात्य-तीरभुक्तीयग्रन्थेषु न दृश्यते। अर्थात् यह श्लोक केवल बंगाल की पाठपरम्परा में ही प्रचलित है। वह दाक्षिणात्य (याने उत्कलीय-?) एवं तीरभुक्तीय (याने तिरहुत-बिहार) की परम्परा में कहीं पर भी नहीं मिलता है।।

(ख) प्रथमाङ्क में शकुन्तला की उक्ति है-अम्मो, नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरः अभिलषति। इस पर चन्द्रशेखर ने लिखा है कि, शङ्करस्तु सलिलसेकसम्भ्रान्तो मधुकरो वदनं मे अभिलषति पीडयतीति पाठान्तरमाह। अर्थात् चन्द्रशेखर मैथिल पाठ में कुछ प्रक्षिप्त अंश है उसकी जानकारी रखते हैं।

(ग) तृतीयाङ्क में शकुन्तला की उक्ति है-तद्यदि वाम् अनुमतं ततः तथा प्रयतेथाम् यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि। अन्यथा स्मरतं माम्। इस पर चन्द्रशेखर ने लिखा है कि-अन्यथा प्रसीदतं, सिञ्चतम् इदानीं मे उदकम्, मामुदकैः सिञ्चतमित्यर्थः इति शङ्करसम्मतः पाठोऽर्थश्च।। यहाँ "स्मरतम्" के स्थान पर "सिञ्चतम् उदकम्" जैसा पाठभेद मैथिल परम्परा में है।

(घ) तृतीयाङ्क में राजा की उक्ति है-सुन्दरि, किमन्यत्। इदमप्युपकृतिपक्षे सुरभि मुखं ते मया यदाघ्रातम्। ननु कमलस्य मधुकरः सन्तुष्यति गन्धमात्रेण।। (3-37) यहाँ पर चन्द्रशेखर ने लिखा है कि-ननु निश्चये। न त्विति शङ्करः। तेनालिङ्गनमपि देहीति भावः इति व्याचष्टे दृष्टान्तः। यहाँ उपर्युक्त श्लोक में "ननु" के स्थान में मैथिल परम्परा में "न तु" इतना ही परिवर्तित किया हुआ जो पाठभेद है (और जिसके कारण पूरा वाक्यार्थ बदल जाता है), वह चन्द्रशेखर अच्छी तरह से जानते हैं ऐसा उन्होंने लिखा है।

(ङ) उसी तरह से चतुर्थाङ्क में प्रियंवदा की उक्ति है-अहो, आभरणार्हं ते रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैः विप्रकार्यते। इस पर चन्द्रशेखर ने लिखा है कि, आभरणान्ते अस्य वा रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रक्रियते पीड्यते। विप्रलभ्यत इति शङ्करः पठति।।

(च) पञ्चमाङ्क में शकुन्तला की उक्ति है-इदम् अवस्थान्तरं गते तादृशे अनुरागे किं वा स्मारितेन। अथवा, आत्मेदानीं मे शोधनीयः। भवतु। व्यवसिष्यामि। इस पर चन्द्रशेखर लिखते हैं कि, शङ्करस्तु शोचनीय इति पठित्वा, सदसि तादृशं रहस्यप्रकाशनात् त्रपया शोचनीया भविष्यसीति भावः इत्याह। भवतु, व्यवस्यामि रहस्यं वक्तुमिति शेषः। वदिष्यामीति शाङ्करः पाठः।

इन उदाहरणों से यह निश्चित होता है कि चन्द्रशेखर ने बंगाली-लिपि में संचरित हुए (साम्प्रदायिक) पाठ का ही अनुसरण किया है। तथा वे, मैथिली पाठ से बंगाली पाठ कहाँ कहाँ पर भिन्न पाठ परम्परावाला है, यह बहुत बारिकी के साथ दिखाते रहे हैं।

टीकाकार चन्द्रशेखर को बंगाल का परम्परागत (साम्प्रदायिक) पाठ अभिमत है। यह पाठ शङ्कर के द्वारा स्वीकृत मैथिली पाठ से कई स्थानों पर पृथक् ही है। उन्होंने इस मैथिल पाठपरम्परा को "शङ्करधृत: पाठ" के नाम से या "तीरभुक्तीय" (तिरहुत) के नाम से निर्दिष्ट किया है। अब यह भी ज्ञातव्य है कि चन्द्रशेखर ने अपने समय की कुछ और भी पाठपरम्पराओं का निर्देश किया है। जैसे कि-1. विदेशीय, 2. प्राचीनपुस्तक और 3. दाक्षिणात्य पाठपरम्परा। यहाँ विदेशीय पाठ शब्द से सम्भवत: काश्मीर या नेपाल की परम्परा का निर्देश हो सकता है। प्राचीनपुस्तक शब्द से तो केवल किसी प्राचीन काल की हस्तलिखित प्रति का ही उल्लेख करते हैं ऐसा मालूम होता है। लेकिन उन्होंने जो दाक्षिणात्य पाठपरम्परा का एक स्थान पर उल्लेख किया है वह भ्रम में डालनेवाला है। सामान्य रूप से दाक्षिणात्य शब्द से कोई भी व्यक्ति उसे दक्षिण भारत की पाठपरम्परा मानने को तैयार हो जायेगा। लेकिन चन्द्रशेखर ने जिन श्लोकों को दाक्षिणात्य पाठपरम्परा का श्लोक कहा है वह श्लोक दक्षिण भारत के एक भी अभिज्ञानशकुन्तल में नहीं मिलता है। जैसे कि-

अस्यास्तुङ्गमिव स्तनद्वयमिदं, निम्नेव नाभिः स्थिता
दृश्यन्ते विषमोन्नताश्च वलयो भित्तौ समायामपि।
अङ्गे च प्रतिभाति मार्दवमिदं स्निग्धप्रभावाच्चिरं
प्रेम्णा मन्मुखमीषदीक्षत इव स्मेरा च वक्तीव माम्।।

(6-16)

इस श्लोक पर चन्द्रशेखर ने लिखा है कि-पद्यमिदम् अनतिमधुरं दाक्षिणात्यपुस्तकेष्वेव दृश्यते। अब प्रश्न होता है कि यह दाक्षिणात्य परम्परा कहाँ की है? क्योंकि यह श्लोक दक्षिण भारत के एक भी टीकाकार, जैसे कि, काटयवेम, अभिराम, घनश्याम, श्रीनिवासाचार्य, नीलकण्ठ, चर्चा आदि के द्वारा किसी भी तरह से निर्दिष्ट नहीं है। अत: ऐसा सूचित होता है कि चन्द्रशेखर यहाँ "दाक्षिणात्य" शब्द से सम्भवत: उत्कलीय पाठ परम्परा का निर्देश कर रहे होंगे। उत्कल प्रदेश बंगाल से दक्षिण में कहा जा सकता है। और उत्कलदेशीय श्रीनवकिशोरकर शास्त्रीजी ने जो अभिज्ञानशाकुन्तल प्रकाशित किया है उसमें यह श्लोक है। इस दृष्टि से सोचने पर चन्द्रशेखर अपनी बंगाल की पाठ परम्परा को जानने के साथ साथ काश्मीर या नेपाल की, तीरभुक्तीय यानि बिहार की मैथिल एवं (बंगाल से दक्षिण में स्थित) उत्कल की पाठपरम्परा को भी जानते थे। चन्द्रशेखर ने चतुर्दिक् फैली पाठ परम्पराओं को जानने के बावजूद उनमें से अपनी बंगाल की पाठपरम्परा की अस्मिता बनाये रखने का जो उपक्रम रखा है उसीमें उसकी मूल्यवत्ता निहित है।

यद्यपि यहाँ उल्लेखनीय है कि चन्द्रशेखर के द्वारा प्रस्तुत किये गये करीब 15 पाठान्तरों में से 4 पाठान्तर काश्मीरी पाठ के साथ संगत बैठते हैं। उदा. 1. कृतार्थेदानीम् गमिष्यसि। 2. नेदं विस्मरिष्यामि। 3. कृतावमर्षाम् अनुमन्यमानः। 4. कण्वाश्रम की गौतमी की पहचान देते हुए उसे कण्व की "धर्मभगिनी कनीयसी" कहा है, जो काश्मीरी पाठ के अनुरूप है। इसके अलावा अन्य सभी पाठान्तर प्रायः बंगाली वाचना के साथ संगत होते हैं।

प्रस्तुत चर्चा के उपसंहार में इतना कहेंगे कि चन्द्रशेखर ने कुल मिला कर 225 श्लोकोंवाले अभिज्ञानशकुन्तल के पाठ पर टीका लिखी है। उन्होंने जिस पाठ को स्वीकार करके टीका लिखी है, वह बंगाल का परम्परागत पाठ है। यद्यपि यह उल्लेखनीय है कि प्रेमचन्द, डमरुवल्लभ एवं कृष्णनाथ जैसे सम्पादकों ने अतीत में बंगाली पाठ का जो (230 श्लोकोंवाला) एक प्रलम्ब पाठ प्रकाशित किया था उससे भिन्न पाठ चन्द्रशेखर ने स्वीकारा है। इस तरह चन्द्रशेखर ने बंगाल का जो पाठ स्वीकारा है वह अधिक पुराना एवं प्रामाणिक है।

दूसरा ध्यातव्य बिन्दु यह भी है कि टीकाकार चन्द्रशेखर जिस बंगाली पाठ को पुरस्कृत कर रहे है वह डॉ० रिचार्ड पिशेल (1876 ई.सन्) द्वारा सम्पादित जो "समीक्षित पाठ" है, उससे कुत्रचित् भिन्न और शायद पुराना पाठ है। इस सन्दर्भ में, विद्वानों के समक्ष कुछ ठोस प्रमाण रखना आवश्यक है:–(क) डॉ० रिचार्ड पिशेल ने और डॉ० दिलीपकुमार काञ्जीलालजी ने बंगालीलिपि में लिखित पाण्डुलिपियों में प्रत्येक अङ्क की समाप्ति पर उन अङ्कों के जो विभिन्न नाम दिये हैं, जैसे–1. इत्याखेटको नाम प्रथमोऽङ्कः। 2. इत्याख्यानगुप्तिर्नाम द्वितीयोऽङ्कः। 3. इति शृङ्गारभोगो नाम तृतीयोऽङ्कः। 4. इति शकुन्तलाप्रस्थानं नाम चतुर्थोऽङ्कः। 5. इति शकुन्तला-प्रत्याख्यानं नाम पञ्चमोऽङ्कः। इत्यादि उसे स्वीकृत रखा है एवं उल्लिखित किया है। किन्तु टीकाकार चन्द्रशेखर ने तो किसी भी अङ्क के नाम का निर्देश ही नहीं किया है। सम्भव है कि इस नाटक के अङ्कों का नामाभिधान करने का प्रघात चन्द्रशेखर के काल के पश्चात् शुरू हुआ हो। (ख) डॉ० रिचार्ड पिशेल ने और डॉ० दिलीपकुमार काञ्जीलालजी ने अपने समीक्षित पाठ में (तृतीयाङ्क के एक सन्दर्भ में) शकुन्तला की उक्ति इस तरह दी है: अज्जउत्त, एसा खु मम वुत्तन्तोवलम्भणणिमित्तं अज्जा गोदमी आअदा। ता विडवन्तरिदो होहि। (आर्यपुत्र, एषा खलु मम वृत्तान्तोपलम्भननिमित्तम् आर्या गौतमी आगता। ततो विटपान्तरितो भव।) यहाँ पर "समीक्षित पाठ" में, कण्व मुनि के आश्रम में रहनेवाली गौतमी कौन थी? उसकी कोई पहचान नहीं दी गयी है। किन्तु टीकाकार चन्द्रशेखर ने अपनी टीका में उपर्युक्त प्राकृत उक्ति के संस्कृतच्छायानुवाद में लिखा है कि–आर्यपुत्र, एषा खलु तातकण्वस्य धर्म्मभगिनी कनीयसीवार्या गौतमी मम वृत्तान्तोपलम्भननिमित्तमागता। तद् विटपान्तरितो भव।। अर्थात् चन्द्रशेखर के सामने अभिज्ञानशकुन्तल की जो पाठ परम्परा है उसमें गौतमी को कण्व मुनि

की छोटी धर्मभगिनी बताया गया है। (ग) रिचार्ड पिशेल की समीक्षितावृत्ति में कुल मिला कर 222 श्लोकोंवाला पाठ ग्राह्य रखा गया है। लेकिन चन्द्रशेखर ने 225 श्लोकों पर टीका लिखी है। इसका निष्कर्ष यही है कि चन्द्रशेखर द्वारा पुरस्कृत बंगाली पाठ और "बंगाली वाचना का समीक्षित पाठ" के नाम से रिचार्ड पिशेल के द्वारा सम्पादित जो पाठ है उन दोनों में जो अन्तर है वह भी अतीव ध्यानास्पद है।

यद्यपि डॉ० रिचार्ड पिशेल ने ऐसा प्रकट शब्दों में कहा है कि उनका समीक्षित पाठ चन्द्रशेखर की टीका पर ही सम्पूर्णतया आधारित है।

> Candraśekhara's text is the basis of the present edition- In the Appendix I have added his version of the Prakrit passages, and his various readings as far as they could be ascertained from his commentary.
>
> (Pischel's Preface to the First Edititon p- 10);
> Kalidasa's Śakuntala, Ed- Richard Pischel,
> Harward University Press, Second ed. 1922

लेकिन अब जब चन्द्रशेखर की टीका का प्रथम बार प्रकाशन हो रहा है तब मालूम होता है कि रिचार्ड पिशेल का पाठ चन्द्रशेखर की टीका में स्वीकृत पाठ के साथ सम्पूर्णतया मिलता जुलता नहीं है। वह तो बहुशः बंगाली पाण्डुलिपिओं पर आश्रित है। अर्थात् उपलब्ध बंगाली पाण्डुलिपियों के समय से अधिक पुराने समय की यह टीका होते हुए भी, (और उसमें बंगाल का साम्प्रदायिक पाठ प्रतिबिम्बित हो रहा है फिर भी) प्राकृत उक्तिओं का संस्कृतच्छायानुवाद देने के लिए भी उन्होंने सर्वत्र चन्द्रशेखर की टीका का अनुगमन नहीं किया है। एवमेव, संस्कृत उक्तिओं का पाठ भी चन्द्रशेखर के द्वारा जो स्वीकृत है वह भी सूक्ष्मेक्षिका से ध्यान में नहीं लिया गया है। इस सन्दर्भ में कुछ उदाहरण देखने से यह बात और भी स्पष्ट होगी।

(क) तृतीयाङ्क में दोनों सहेलियों की उक्ति है:–अइ अत्तगुणावमाणिणि, को णाम संतावणिव्वाव-इत्तिअं सारदीअं जोण्हं आदवत्तेण वारइस्सदि। इसका संस्कृतच्छायानुवाद इस तरह से किया गया है: अयि आत्मगुणावमानिनि, को नाम संतापनिर्वापयित्रीं शारदीयां ज्योत्स्नाम् आतपत्रेण वारयिष्यति।। (3–17 के नीचे), लेकिन चन्द्रशेखर ने उसका अनुवाद इन शब्दों से किया है: आत्मगुणावमानिनि, को नाम सन्तापनिर्वाणकारिणीं शारदीयां ज्योत्स्नाम् आतपत्रेण वारयिष्यति।। यहाँ निर्वापयित्रीम् के स्थान में निर्वाणकारिणीम् ऐसा अनुवाद है।

(ख) चतुर्थाङ्क में शकुन्तला के सुशोभन के लिए वनस्पति ने जो आभरण, लाक्षारसादि दिये हैं उसको देख कर प्रियंवदा बोलती है कि–कोडरसंभवा वि महुअरी पोक्खरमहुं जेव अहिलसदि। इसका संस्कृतच्छायानुवाद डॉ० रिचार्ड पिशेल ने "कोटरसम्भवापि

मधुकरी पुष्करमधु एव अभिलषति।" ऐसा दिया है। लेकिन चन्द्रशेखर ने जो संस्कृतच्छायानुवाद दिया है उसमें "पुष्करमधु" के स्थान पर "पुष्परसं मधु" ऐसा पाठ है। अर्थात् चन्द्रशेखर के सामने जो प्राकृत उक्ति होगी वह डॉ० रिचार्ड द्वारा स्वीकृत पाठ से भिन्न होनी चाहिए।

(ग) षष्ठाङ्क के आरम्भ में, धीवरक की उक्ति है:–शहये किल ये वि णिन्दिदे ण हु शे कम्म विवय्यणीअके। पशुमालिं कलेदिं दालुणं अणुकम्पामिदुले वि शोणिके।।(6-1), इसका डॉ० रिचार्ड पिशेल ने संस्कृतच्छायानुवाद इस तरह दिया है: सहजं किल यद्यपि निन्दितं न खलु तत् कर्म विवर्जनीयम्। पशुमारणं करोति दारुणमनुकम्पामृदुलोपि सौनिकः।। किन्तु टीकाकार चन्द्रशेखर ने जो संस्कृतच्छायानुवाद किया है वह चतुर्थ चरण में बहुशः भिन्न है। जैसे कि–सहजं किल यदपि निन्दितं न खलु तत् कर्म विवर्जनीयम्। पशुमारणं करोति कारणात् षट्कर्मा विदुरो श्रोत्रियः।। यहाँ रिचार्ड पिशेल ने बंगाली पाण्डुलिपिओं में संचरित हुए पाठ की ओर ही ध्यान दिया है, और टीकाकार ने किस पाठ का आदर किया है वह नहीं देखा है। वस्तुतः पाठनिर्धारण के लिए पाण्डुलिपिओं की संख्या को निर्णायक न मान कर, टीकाग्रन्थों में संचरित हुए पुराने जमाने के पाठ का ही समादर करना चाहिए। क्योंकि प्रथम सोपान पर पाठसम्पादक का लक्ष्य तो प्राचीन से प्राचीनतर पाठ को उजागर करना ही हो सकता है।। लगता है कि रिचार्ड पिशेल ने यह नहीं सोचा है कि सौनिक (पशुघातक) को अनुकम्पामृदुल कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् किसी अज्ञात ब्राह्मणपक्षपाती व्यक्ति ने ही श्रोत्रिय शब्द को परिवर्तित करके यह सौनिक वाला पाठ प्रस्तुत किया होगा। मतलब की कवि कालिदास के हाथ से तो श्रोत्रिय को ही अनुकम्पामृदु (अथवा षट्कर्मा विदुरः) कहा गया होगा।। यहाँ विशेष रूप से एक ही बात ध्यानार्ह है कि रिचार्ड पिशेल ने, (और इस सन्दर्भ में डॉ० दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने भी) टीकाकार चन्द्रशेखर के द्वारा दिये गये श्रोत्रिय जैसे प्राचीनतर पाठ की ओर पूर्णतया ध्यान नहीं दिया है।

(घ) षष्ठाङ्क में दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र मँगवाता है और उसको देखते हुए एक श्लोक का उच्चारण करता है:–

अस्यास्तुङ्गमिव स्तनद्वयमिदं, निम्नेव नाभिः स्थिता
दृश्यन्ते विषमोन्नताश्च वलयो भित्तौ समायामपि।
अङ्गे च प्रतिभाति मार्दवमिदं स्निग्धप्रभावाच्चिरं
प्रेम्णा मन्मुखमीषदीक्षत इव स्मेरा च वक्तीव माम्।।

6–16

यद्यपि टीकाकार चन्द्रशेखर ने उस श्लोक की टीका में लिखा है कि "पद्यमिदम् अनतिमधुरं दाक्षिणात्यपुस्तकेष्वेव दृश्यते"। (हमारे अनुमान से यह दाक्षिणात्य पाठ

बंगाल के दक्षिण में आया हुआ उत्कल प्रदेश होगा, क्योंकि काटयवेमादि दाक्षिणात्यादि टीकाकारों ने इस श्लोक को उल्लिखित ही नहीं किया है।) इस लिए डॉ० रिचार्ड पिशेल ने उसको अपने समीक्षित पाठ में स्थान नहीं दिया है। किन्तु रिचार्ड पिशेल ने यहाँ विदूषक की जो उक्ति को मान्यता दी है वह ध्यातव्य है:–भो भावमधुरा रेखा। स्खलति इव मे दृष्टिः निम्नोन्नतप्रदेशेषु। किं बहुना, सत्त्वानुप्रवेशशङ्कया आलपनकौतूहलं मे जनयति।। यहाँ विदूषक की दृष्टि चित्रित शकुन्तला की देहयष्टि के निम्न एवं उन्नतप्रदेश पर स्खलन कर रही है–इस प्रकार की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध तो स्पष्ट रूप से उपर्युक्त श्लोक के (वर्ण्य विषय के) साथ ही है। अतः रिचार्ड पिशेल को यदि विदूषक की यह उक्ति मान्य है तो फिर उपर्युक्त श्लोक को भी रखना चाहिए था। दूसरी तरह से यह बात कही जाय तो, यह दाक्षिणात्य अर्थात् उत्कलीय परम्परा का श्लोक समीक्षित पाठ के रूप में ग्राह्य नहीं है। क्योंकि टीकाकार चन्द्रशेखर के अभिप्राय से वह अनतिमधुर श्लोक है। तो फिर इस श्लोक के साथ सम्बद्ध विदूषक की जो उक्ति (भी अनतिमधुर) थी उसको भी निकाल देना चाहिए था। समीक्षित पाठ में से विदूषक की उक्ति को हटाने की आवश्यकता का कारण न केवल उस उक्ति का अनौचित्य ही है, किन्तु टीकाकार चन्द्रशेखर ने भी विदूषक की इस उक्ति का संस्कृत च्छायानुवाद नहीं दिया है। मतलब कि चन्द्रशेखर के सामने विद्यमान जो भी बंगाली पाठपरम्परा होगी उसमें विदूषक की उक्ति होगी ही नहीं, जिसके कारण चन्द्रशेखर ने उसका संस्कृतच्छायानुवाद नहीं दिया है। यह एक ऐसा ठोस कारण है जिसकी वजह से विदूषक की पूर्वोक्त उक्ति प्रक्षिप्त होने का इशारा मिल जाता है।

(ङ) तृतीयाङ्क का एक अन्य सन्दर्भ भी द्रष्टव्य है: दुष्यन्त कहता है कि सुन्दरि, जो मधुकर होता है वह कमल की गन्ध मात्र से सन्तुष्ट रहता है (3–37)। तब शकुन्तला प्रश्न करती है कि–असंतोषे पुनः किं करोति। जिसको सुनते ही राजा "इदम् इदम्", बोलता हुआ शकुन्तला के प्रति प्रेमचेष्टा शुरू करता है। यहाँ पर एक रंगसूचना है:– "इति व्यवसितो वक्त्र ढौकते"। डॉ० रिचार्ड पिशेल ने इसी स्वरूप में उक्त रंगसूचना को छपवाया है। लेकिन इस रंगसूचना पर चन्द्रशेखर ने जो टीका लिखी है उसको यदि हम देखें तो लगता है कि रिचार्ड पिशेलजी चन्द्रशेखर की बात को समझ ही नहीं पाये हैं। चन्द्रशेखर ने लिखा है कि शकुन्तला वक्त्रं ढौकते गूहति। ......। शकुन्तला कर्त्री वक्त्रं ढौकते, पिधत्त इत्यर्थः। न तु चुम्बतीत्यर्थः।। अर्थात् इस रंगसूचना में दुष्यन्त को क्या करना है और शकुन्तला को क्या करना है उसकी भिन्न भिन्न दो सूचनायें रखी गयी हैं। और इस लिए रिचार्ड पिशेल को इस रंगसूचना में इति व्यवसितः के बाद एक अल्पविराम का चिह्न रखना अनिवार्य था, (जो उन्होंने नहीं

रखा है)। क्योंकि टीकाकार चन्द्रशेखर ने साफ लिखा है कि शकुन्तला के मुख पर दुष्यन्त चुम्बन करता है ऐसा अर्थ नहीं है। अन्यथा आगे चल कर दुष्यन्त जो बोलता है कि "(अस्या मुखं) कथमप्युन्नमितं, न चुम्बितं तत्" इस पङ्क्ति से विरोध आयेगा। अतः यहाँ तो ढौकते का अर्थ पिधत्ते, याने शकुन्तला (स्वयं) अपना मुख हाथों से ढकती है ऐसा ही करना चाहिए। और रंगसूचना में पाठसम्पादक को बीच में अल्पविराम का चिह्न जोड़ना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर बंगाली पाठ का समीक्षित पाठसम्पादन करने में टीकाकार चन्द्रशेखर की टीका का पूरा अनुगमन नहीं किया गया है यह बात सिद्ध होती है।।

सारभूत बात यही है कि किसी भी कृति के समीक्षित पाठसम्पादन में मूल कृति की पाण्डुलिपिओं के साथ साथ, उन पर लिखी गयी टीकाओं का विनियोग भी प्राचीनतर पाठ को उजागर करने के लिये असाधारण महत्त्व रखता है। चन्द्रशेखर की टीका जो अद्यावधि अप्रकाशित रही थी, उसका बंगाली पाठपरम्परा का प्राचीनतर स्वरूप पुनः संप्राप्त करने के लिए एक सहायक प्रमाण के रूप में महत्त्व अनुपेक्ष्य था।

8. चन्द्रशेखर की टीका का विश्लेषण

चन्द्रशेखर ने अपनी सन्दर्भदीपिका टीका में जिन ग्रन्थों का नाम-निर्देश किया है वह इस प्रकार है:- 1. नाट्यलोचन के रचयिता त्रिलोचन मिश्र, 2. वामदेव, 3. चतुर्भुज मिश्र, 4. भर्तृहरि मिश्र, 5. अमर, 6. शंकर, 7. मेदिनी, 8. भरत, 9. भविष्यपुराण, 10. शाश्वत, 11. अद्भुतसागर, 12. विश्व, 13. यज्ञ नारायण दीक्षित (15 शती के अन्त में) प्रणीत साहित्यरत्नाकर, 14. अनन्तार्णव, 15. दर्पणकार, (विश्वनाथ द्वारा रचित साहित्यदर्पण), 16. त्रिकाण्डशेष, 17. हारावली, 18. अमरटीका, और 19. प्राकृतप्रकाश इत्यादि। इन सब के निर्देशों की गिनती की जाय तो 209 से अधिक है। जब कोई टीकाकार अपनी अभीष्ट कृति पर टीका लिखता है तब वह शब्दार्थ से लेकर वाक्यार्थ एवं काव्य-सौन्दर्य तक की सीमाओं को विशद करने की कोशिश करता है। ऐसे कार्य में यदि विविध ग्रन्थों के सन्दर्भ की दीपिका भी प्रस्तुत की जाय तो वैसी "सन्दर्भदीपिका" टीका अधिक श्रद्धेय सिद्ध होती है। चन्द्रशेखर ने अनेक स्थानों पर विविध कोषग्रन्थ के उद्धरण, भरतमुनि के विधिविधान, प्राकृतसूत्रों का प्रमाण, अलङ्कारों की पहचान प्रस्तुत करके एक अच्छे टीकाकार की भूमिका निभायी है।

चन्द्रशेखर ने उपर्युक्त जिन जिन ग्रन्थकारों का निर्देश किया है उनमें से एक, अपने पुरोगामी टीकाकार शङ्कर का अनेक स्थानों पर जो उल्लेख किया है वह ध्यानार्ह है। शंकर, जिसने अभिज्ञानशकुन्तल की मैथिली वाचना पर "रसचन्द्रिका" नामक टीका लिखी है, उसका चन्द्रशेखर ने करीब 85 बार नामशः उल्लेख किया है। लेकिन चन्द्रशेखर ने शङ्कर की टीका से कुत्रचित् प्रेरणा प्राप्त करते हुए भी, अपनी अस्मिता को बनाये रखा है। जैसा

पहले बताया गया है चन्द्रशेखर ने शङ्कर के मैथिल पाठ से अपना बंगाली पाठ भिन्न है इस बात को केन्द्र में रखा है। अनेक स्थानों पर उन्होंने शंकर के द्वारा स्वीकृत पाठभेद को उल्लिखित किया है या शङ्कर के द्वारा किये हुए शब्दार्थ से मतभेद भी प्रदर्शित किया है। एवमेव, अनेक स्थान पर उसके दिये हुए शब्दार्थ की कड़ी आलोचना भी की है। उदाहरण के लिए–परिग्रहबहुत्वेपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः। समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्।। (3–23) यहाँ पर शङ्कर ने समुद्र-शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि, "समुद्र एव रसना मेखला यस्याः सा समुद्रावच्छिन्ना उर्वी मही युवयोरियं सखी शकुन्तला। तत्पक्षे समुद्ररसना सचिह्नमेखला। यद्वा समुद्ररसना साङ्गुरीयकमेखला। यद्वा मुदं हर्षं, राति ददाति, मुद्रं हर्षदं यद् रसनं भाषणं, तेन सह वर्तते, समुद्ररसना प्रियभाषिणीत्यर्थः।।" (मिथिलासंस्करण, 1957, पृ. 218) यहाँ समुद्ररसना का अर्थ "प्रियभाषिणी (शकुन्तला)" करने के लिए निर्वचन का जिस तरह से आश्रयण किया गया है, वह पाण्डित्य-प्रदर्शन का उत्तम निदर्श है। और राघवभट्ट भी उसका अनुसरण करने को लालायित हो गये हैं, फिर भी चन्द्रशेखर की दृष्टि में तो वह अग्राह्य ही है। उन्होंने अपनी टीका में स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि कुव्याख्या तूपेक्षिता।

इसमें, इन सब के साथ चन्द्रशेखर का मुख्य योगदान है प्राकृत उक्तिओं का संस्कृतच्छायानुवाद। यहाँ एक स्पष्टता सविशेष करनी है कि शङ्कर ने नाटक की प्राकृत उक्तियों की व्याख्या की है, किन्तु चन्द्रशेखर ने ऐसी उक्तियों का सीधा संस्कृतच्छायानुवाद दिया है। इसी लिए इस नाटक की प्राकृत उक्तिओं के पाठनिर्धारण में यह टीका अधिक उपकारक सिद्ध होती है। द्वितीयाङ्क के आरम्भ में विदूषक की उक्ति है। यहाँ चन्द्रशेखर के सामने इस उक्ति के अभिनयन की दो विधायें होगी। अतः उनकी टीका में दो पाठान्तरों के साथ विवरण दिया जाता है। जैसे कि, हीमाणहे–शब्दः प्राकृते खेदे। तदाह भरतः–हीमाणहे भये खेदे इति।। ही ही भोः इति च पाठः। ही ही भोः शब्दो विस्मये। यदाह भरतः–ही ही भो विस्मयार्थे तु प्रयुञ्जीत विदूषक इति।। विदूषक की उक्ति का आरम्भ दो तरह से होता है–यह बात चन्द्रशेखर ठीक तरह से जानते हैं, जिसके लिए भरत मुनि का ही वचन प्रमाण के रूप में विद्यमान है यह भी वे जानते हैं। डॉ० रिचार्ड पिशेल ने चन्द्रशेखर की प्राकृतभाषा विषयक ऐसी जानकारी को देख कर ही, उसकी टीका को अधिक प्रमाणभूत माना था।

शङ्कर काव्यार्थ-ग्रहण में अलंकार का निरतिशय महत्त्व स्वीकारते हैं, और अनेक जगहों पर विभिन्न अलङ्कारों का अभिज्ञान भी करवाते हैं। चन्द्रशेखर ने जो अनेक स्थानों पर शङ्कर का मत उल्लिखित किया है, इसका एक फायदा यह हुआ है कि शङ्कर की रसचन्द्रिका टीका का पाठ षष्ठांक के मध्य भाग 6/12 से लेकर सप्तमांक के आरम्भ तक कुछ भाग खण्डित हुआ है। तो लिपिकारों ने इतने खण्डित अंश के स्थान में चन्द्रशेखर की टीका का भाग उठाकर उनकी थीगड़ी लगा दी है! ऐसा करने का मुख्य कारण एक ही था

कि चन्द्रशेखर ने अपनी टीका में आरम्भ से लेकर अन्त तक बार बार शंकर का मत उद्धृत किया है। अत: जहाँ पर भी शंकर की टीका खण्डित हुई है उसका कुछ कुछ अन्दाजा चन्द्रशेखर की टीका से मिल सकता था। यह बात रिचार्ड पिशेल (1876) ने लिखी थी कि शंकर की टीका का खण्डितांश चन्द्रशेखर की टीका से पूर्ण किया गया है, लेकिन मैथिली पाठ के सम्पादक श्री रमानाथ झा (1957) को इसकी जानकारी ही नहीं थी। इस लिए उन्होंने ऐसा लिखा है कि किसी लिपिकार ने शङ्कर की विस्तृत टीका का इतने भाग में संक्षेप कर दिया है।[6] सम्भव है कि रमानाथ झा ने रिचार्ड पिशेल की आवृत्ति ही नहीं देखी हो।

इनके अलावा चन्द्रशेखर ने नाट्यशास्त्रीय परिभाषाओं को विशद करने के लिए बहुत स्थानों पर भरत मुनि का नामोल्लेखपूर्वक उद्धरण दिये हैं। तथा नाट्यलोचन, कविकल्पलता, साहित्यदर्पणादि का भी विनियोग किया है। चन्द्रशेखर "अन्ये, केचिद्, गुरव:" जैसे शब्दों से किन का निर्देश करना चाहते है वह हम नहीं जान सकते हैं। उन्होंने विश्वनाथ के द्वारा अभिज्ञानशकुन्तल के तृतीयाङ्क के अन्तिम श्लोक में "कथमपि उन्नमितं न चुम्बितं तत्" के स्थान पर "कथमपि उन्नमितं न चुम्बितं तु" जैसा पाठभेद स्वीकारा गया है, एवं पञ्चम अङ्क के पञ्चम श्लोक में जो नवीन पाठान्तर की उद्‌भावना की है उसका उल्लेख भी किया है। वे लिखते हैं कि–दर्पणकारेण तु नवीकृतपाठान्तरेण पद्यम् इदमुदाहृतम्। (यहाँ पर वे विश्वनाथ को अपने पिता के रूप में उल्लिखित नहीं करते हैं। टीका की पुष्पिका में तो उन्होंने अपने आप को विष्णु पण्डित का पुत्र कहा है।) एवमेव, गाहन्तां महिषा: (1- 10) श्लोक पर उन्होंने काव्यदोष के सन्दर्भ में जो चर्चा प्रस्तुत की है उसमें "प्राज्ञ" शब्द से महिमभट्ट के मत का निर्देश भी किया है।

अभिज्ञानशकुन्तल एक नाटक होने से उसमें दो चरित्रों के बीच में जो बातचीत होती है, जो संवाद होते हैं, उसमें नाना अव्ययों का विनिवेश बहुश: होता है। अत: इन अव्ययों का सन्दर्भगत अर्थ स्पष्ट करने की जिम्मेवारी टीकाकार की होती है। इस कार्य को शङ्कर ने तो किया ही था, लेकिन चन्द्रशेखर ने उसमें भी कुत्रचित् कुछ विशेष भी जोड़ा है, कुछ अलग भी अर्थ दिखलाये हैं। यह भी एक महनीय सेवा कही जा सकती है। एक उदाहरण देखना आवश्यक है: प्रथमाङ्क में, न खलु न खलु० वाले (1–10) श्लोक में "क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं, क्व च निशितनिपाता: सारपुङ्खा शरास्ते।" इस पङ्क्ति में दो बार क्व निपात का विनिवेश किया गया है। यहाँ पर शङ्कर ने क्व–द्वय के प्रयोग का

6. It is much more reasonable to belive that this protion is an abridgement from the original commentary by a scribe, who had, perhaps, no time to make a complete copy of the manuscript which he was transcribing. See: The Abhijnanaśakuntalam, with the commentaries of Śankara & Narahari, Ed. Ramanath Jha, Darbhanga, 1957, p. 27.

समाधान देते हुए कहा है कि विस्मय और विषाद प्रदर्शित करने के लिए क्व की पुनरुक्ति दोषजनक नहीं मानी जाती है। लेकिन चन्द्रशेखर के मत में ऐसा व्याख्यान तो कुव्याख्यान है। अत: उसका स्वारस्य स्पष्ट करने के लिए चन्द्रशेखर ने अपने किसी गुरुजी का मत लिखा है। उसमें कहा है कि धनुर्धारी व्यक्ति के लिए दो पौरुष गिने जाते हैं। एक, दुर्भेद्य वस्तु का भेदन करना और दूसरा, दुर्म्मर व्यक्ति को मारना। लेकिन प्रकृत में तो पुष्प में ऐसा कोई दुर्भेद्यत्व नहीं है और हरिण में दुर्म्मरत्व नहीं है। इस तरह अत्यन्त असम्भवित बात के लिए क्व-द्वय का प्रयोग होता है। इस तरह से चन्द्रशेखर ने अन्यत्र भी अमर, त्रिकाण्डशेष, अमरटीका, विश्व, मेदिनी, शाश्वत, हारावली, कोष इत्यादि का विनियोग किया है तथा आवश्यकता होने पर अमुक शब्द का देशी भाषा में क्या अर्थ होता है वह भी लिखा है। (इन सभी सन्दर्भग्रन्थों की सूची को परिशिष्ट-2 में रखा गया है।)

चन्द्रशेखर के द्वारा प्रस्तुत किये गये करीब 15 पाठान्तरों में से कुछ पाठान्तर काश्मीरी वाचना के साथ संगत बैठते हैं। उदा. 1. प्रथमाङ्क में, नेदं विस्मरिष्यामि। 2.चतुर्थाङ्क में, कृतावमर्षाम् अनुमन्यमान:। 3. तृतीयाङ्क के अन्त भाग में, कण्वाश्रम की गौतमी की पहचान देते हुए उसे कण्व की "धर्मभगिनी कनीयसी" कहा है, जो काश्मीरी पाठ के अनुरूप है। इसके अलावा अन्य सभी पाठान्तर प्राय: बंगाली वाचना के साथ संगत होते हैं।

चन्द्रशेखर ने कुल मिला कर 225 श्लोकोंवाले अभिज्ञानशकुन्तल के पाठ पर टीका लिखी है। उन्होंने जो पाठ स्वीकार कर टीका लिखी है, वह बंगाली वाचना का परम्परागत पाठ है। यद्यपि यह उल्लेखनीय है कि प्रेमचन्द, डमरुवल्लभ एवं कृष्णनाथ ने भूतकाल में बंगाली वाचना का जो (230 श्लोकोंवाला) एक प्रलम्ब पाठ प्रकाशित किया था उससे भिन्न पाठ चन्द्रशेखर ने स्वीकारा है। इस तरह चन्द्रशेखर ने बंगाली वाचना का जो पाठ स्वीकारा है वही अधिक प्रामाणिक लगता है। चन्द्रशेखर ने प्राचीनतम पाण्डुलिपियों में संचरित बंगाल के साम्प्रदायिक पाठ को ही स्वीकारा है। कुछ श्लोकों का पाठ प्राचीन काल से पाण्डुलिपियों में संचरित होते हुए भी उसको प्रक्षिप्त भी बताया है। उदाहरण के रूप में-कठिनमपि० (1-20), तुम्हे .. महिला:। (5-24), अ(त)स्या: तुङ्गमिव० (6-16) इत्यादि। इसके आधार पर कह सकते हैं कि बंगाली वाचना का जो पाठ चन्द्रशेखर ने स्वीकारा है, वह अपेक्षाकृत अधिक श्रद्धेय है, और उसमें प्रक्षिप्तांश कम हैं।

बंगाली पाठ की मौलिकता के समर्थक कृतिनिष्ठ प्रमाण

0-0 महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक का मूल पाठ कैसा होगा? यह प्रश्न निरतिशय विवादास्पद होते हुए भी विद्वानों के लिये अनुपेक्ष्य है। क्योंकि, किसी भी एक-कर्तृक काव्य के पाठ की मौलिकता जब तक सिद्ध नहीं होती है तब तक उसके काव्यशास्त्रीय गुण-दोष की चर्चा करना, या उसमें से किसी भी तरह का काव्यार्थ निकालना

विवादास्पद एवं कदाचित् अन्यथासिद्ध हो सकता है। अतः काव्य की साहित्यशास्त्रीय समीक्षा करने से पहले उसके पाठ की आलोचना करना अनिवार्य है।

0–1 अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक का पाठ मुख्य रूप से दो–लघु और बृहत्–पाठपरम्पराओं में प्रचलित हुआ है। किन्तु, इस नाटक की रचना एक ही कवि ने की है, अर्थात् यह नाटक एककर्तृक है तो उसका मूल पाठ भी एक ही स्वरूप का होना अपेक्षित है। दो तरह का अभिज्ञानश(शा)कुन्तल तो कालिदास ने नहीं लिखा होगा। अतः हमें यह ढूँढना ही चाहिये कि इस नाटक की दो तरह की पाठपरम्पराओं में से किसका पाठ मौलिक होने की सम्भावना ज्यादा है। तार्किक दृष्टि से सोचा जाय तो यहाँ दो तरह की सम्भावनायें दिखायी देती हैं। जैसे कि, 1. कालिदास-प्रणीत मूल पाठ लघु–आकार का, अर्थात् लघुपाठ होगा, और परवर्ती काल में उसी मूल पाठ में नाट्यप्रयोग के दौरान कुछ नये अंश जोड़े गये होंगे। इस तरह शाकुन्तल का बृहत् पाठ कालान्तर में तैयार हुआ होगा। अथवा 2. महाकवि के द्वारा नाटक का बृहत्पाठ ही पहले से लिखा गया होगा और कालान्तर में उसमें से कुछ अंश काट–छाट कर (रंगभूमि की आवश्यकतानुसार और सीमित समय में जिसकी प्रस्तुति हो सके ऐसा) संक्षिप्त (लघु) पाठ तैयार किया गया होगा। अतः यह कहना मुश्किल है कि महाकवि कालिदास ने ही अपने हाथ से लिखा हो ऐसा (मौलिक) पाठ इन दोनों में से कौन सी पाठपरम्परा में सुरक्षित रहा होगा? इस सन्दर्भ में, नाटक की काव्यशास्त्रीय दृष्टि से आलोचना करके विद्वानों ने दो पक्ष बना लिये हैं–देवनागरी पाण्डुलिपियों में संचरित लघुपाठ ही अधिक व्यञ्जनापूर्ण है, इसलिए उसीको श्रद्धेय पाठ परम्परा मानना चाहिए। तथा बंगाली और मैथिली पाठ में स्थूल शृङ्गारिक दृश्यावली ज्यादा है,[7] अतः उसमें मौलिक पाठ का होना संशयग्रस्त है। दूसरी ओर, अल्पसंख्यक विद्वान् ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि देवनागरी वाचना का संक्षिप्त पाठ तो कालान्तर में बनाया गया है।

बंगाली पाण्डुलिपिओं में संचरित हुआ पाठ ही मौलिक है ऐसा कहनेवालों में सर्वप्रथम कोलकाता के प्रॉफेसर डॉ० श्री दिलीपकुमार काञ्जीलाल (Kanjilal, A reconstruction of the Abhijñānaśakuntalam, 1980) का प्रयास अतीव ध्यानास्पद है। उन्होंने अनेकानेक प्रमाणों से यह स्थापित किया है कि बंगालीलिपि में संचरित हुआ पाठ ही सर्वाधिक श्रद्धेय है, एवं प्राचीनतम भी है। सम्माननीय विद्वान् डॉ० श्री काञ्जीलाल ने अपने मत के समर्थन में जो प्रमाण दिये हैं वे श्रीहर्ष की नाटिकायें एवं काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के उद्धरणादि रूप बाह्य प्रमाण हैं। अब यहाँ बंगाली पाठ की मौलिकता

---

7. बँगीय पाठ में प्रथम मिलन में ही शकुन्तला अठखेलियाँ करती दिखायी गयी है, जो कालिदास की प्रवृत्ति से विरुद्ध है।। कालिदास: अपनी बात (भारतीय दृष्टि) डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, कालिदास संस्थान, वाराणसी, 2004, पृ० 54

के सविशेष समर्थक बन सके ऐसे कुछ आन्तरिक प्रमाण, जो सर्वथा कृतिनिष्ठ ही हैं, उसकी ओर सहृदयों का ध्यान आकृष्ट किया जाता है[8]।

1–1 प्रो. श्री एस. के. बेलवलकर जी ने सब से पहले इस बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि देवनागरी पाण्डुलिपिओं में संचरित हुए अभिज्ञानशाकुन्तल के (तृतीयाङ्क के) पाठ में समयसम्बन्धी जो सूचना दी गयी है, उनमें अन्तर्निहित एक विसंगति खटकनेवाली है। जैसे कि–तृतीयाङ्क का आरम्भ मध्याह्न में होता है। नायक दुष्यन्त उग्र–आतपवाले मध्याह्न में शकुन्तला को ढूँढ़ने के लिए मालिनी नदी के आसपास लतावलयों में जाता है।[9] उसके बाद पुष्पशैय्या पर लेटी हुई शकुन्तला रंगमंच पर आती है, उसके साथ दो सहेलियाँ भी है। यहाँ क्रमशः शकुन्तला की शरीरबाधा का कारण उन्मीलित होता है, शकुन्तला मदनलेख लिखती है और राजा प्रकट होकर शकुन्तला को अपने कुल की प्रतिष्ठा के रूप में बताता है। इसको सुन कर आश्वस्त हुई दोनों सहेलियाँ मृगबाल को उसकी माता के पास पहुँचाने का बहाना बनाकर (नायक–नायिका को एकान्त देने के लिए) वहाँ से चली जाती हैं। अब एकाकिनी शकुन्तला लतामण्डप से बाहर चली जाने को तत्पर होती है तो राजा उसे कहते हैं कि–"सुन्दरि, अपरिनिर्वाणो दिवसः। इयं च ते शरीरावस्था। उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदल–कल्पितस्तनावरणम् कथम् आतपे गमिष्यसि परिबाधा पेलवैरङ्गैः। (3–19) (इति बलादेनां निवर्तयति।)" यहाँ दुष्यन्त ने साफ बताया है कि अभी दिवस परिणत नहीं हुआ है। लतामण्डप से बाहर कड़ी धूप में तुम कैसे जाओगी? किन्तु, देवनागरी वाचना के पाठ में दुष्यन्त के इस वाक्य से सूचित होता है कि यह मध्याह्न का समय चल रहा है। उसके बाद नायक–नायिका के बीच केवल पाँच–छह संवाद ही होते हैं और तुरन्त नेपथ्य से कहा जाता है कि–चक्रवाकवधुके, आमन्त्रयस्व प्रियसहचरम्। उपस्थिता रजनी। हे चक्रवाकी, अपने प्रियसहचर से बिदा ले लो, रात्रि का आगमन हो गया है।। इस तरह से देवनागरी पाठ में, मध्याह्न में शुरू हुई एकान्त मिलन की घटना केवल पाँच–छह संवादों में समेट ली जाती है और तुरन्त रात्रि का आगमन होने की सूचना दी जाती है। सुज्ञ प्रेक्षक देख सकेगा कि मध्याह्न एवं रात्रि के बीच में कितना लम्बा अन्तराल पड़ा है और इस समयावधि में पाँच–छह संवाद से कहीं अधिक बातचीत एवं घटना घटित होना अपेक्षित है। लेकिन देवनागरी पाठ में ऐसा कुछ विस्तार है ही नहीं। अतः सिद्ध हो जाता है कि देवनागरी पाठ में अनेक संवादों की भारी कटौती की गयी है।

8. डॉ० एस.के. बेलवलकरजी, पूना ने "निसर्ग–कन्या शकुन्तला" (कालिदास–ग्रन्थावली, अनु. सीताराम चतुर्वेदी, अलीगढ़, 1963) शीर्षक वाले आलेख में जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं वे आन्तरिक सम्भावना के बलवत्तर उदाहरण हैं।

9. क्व नु खलु संस्थिते कर्मणि सदस्यै रनुज्ञातः श्रमक्लान्तमात्मानं विनोदयामि। (निःश्वस्य) किं न खलु मे प्रियादर्शनादृते शरणमन्यत्। यावदेना मन्त्रमायिष्यामि। (सूर्यम् अवलोक्य) इमामुग्रातपवेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति। तत्रैव गच्छामि। –अभिज्ञानशाकुन्तलम्, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, 2006, पृ. 87

इसके प्रतिपक्ष में, बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क के पाठ में मध्याह्न, सायंसन्ध्या[10] और फिर रात्रि का सन्दर्भ स्पष्ट रूप से उल्लिखित किया गया है। इससे भी सूचित होता है कि बंगाली पाठ में मौलिकता की सुरक्षा हुई होगी। जिसके कारण देवनागरी अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीयाङ्क में जहाँ 24 श्लोक हैं, वहाँ बंगाली अभिज्ञानशकुन्तल के तृतीयाङ्क में 41 श्लोकों का विस्तार है। सारत: कहा जाय तो तृतीयाङ्क में संक्षेप या प्रक्षेप का निर्णय समय-संगति को ध्यान में लेकर करना चाहिए, वही एक अकाट्य दृढ आन्तरिक प्रमाण है।

2-0 दूसरे प्रमाण के रूप में कवि की नाट्य-शैली को परखना चाहिए। जो नाट्य-शैली समग्र कृति में साद्यन्त व्यापृत है ऐसा दिखता है तो वही एक सबल आन्तरिक प्रमाण है। पाठालोचना में ऐसे ही प्रमाण को पुरस्कृत करते हुए समीक्षित पाठ की उच्चस्तरीय समीक्षा की जाती है। अभिज्ञानशकुन्तल नाटक के वस्तुग्रथन में "एक दृश्य (रूप) के सामने उसी प्रकार का एक दूसरा प्रतिदृश्य (प्रतिरूप)" खड़ा करने की नाट्य-शैली दिखायी दे रही है। जैसे कि, प्रथम अङ्क में शिकारी दुष्यन्त का प्रवेश होता है और "न हन्तव्यो, न हन्तव्य:" ऐसे शब्द सुनायी पड़ते हैं। तो सप्तम अङ्क में जब सिंहशावक को सतानेवाला सर्वदमन भरत का दृश्य शुरू होता है तो वहाँ पर "मा खलु, मा खलु चापलम् कुरु" ऐसे शब्द नेपथ्य से आते हैं। उसी तरह से द्वितीयाङ्क और षष्ठांक की तुलना भी विचारणीय है। वहाँ पर विदूषक राजा के मृगया-व्यसन से क्षुधातुर, तृषातुर और श्रमातुर स्थिति में दयाजनक पीड़ा का अनुभव करता है। लेकिन उसी अङ्क के अन्त में वह राजा को आश्रम में रहने की अनुकूलता प्रदान करने में सहायक होता है और युवराज होकर रंगभूमि से बिदा होता है। इसी दृश्य के सामने षष्ठांक के प्रवेशक में, धीवर नगररक्षकों के हाथ से मारा-पीटा जा रहा है। निर्दोष मछेरा भी दयाजनक पीड़ा का अकारण अनुभव करता है। लेकिन वह भी राजा के लिए दु:षन्त-नामधेयांकित अंगूठी देता है, जो राजा को शकुन्तला की याद दिलाने में सहायक होती है। अब यह धीवर भी शूली से उतर कर हस्तिस्कंध पर आरोहित होने का संतोष लेकर रंगभूमि से बिदा लेता है। तृतीय अङ्क में विटपान्तरित दुष्यन्त शकुन्तला की मदनावस्था को सुनता है (शाकु. 3/8 के बाद) तब बोलता है "श्रुतं श्रोतव्यम्।" फिर वही दुष्यन्त पञ्चमाङ्क में शकुन्तला को ताना मारता सुनायी पड़ता है कि" श्रोतव्यम् इदानीं संवृत्तम्।" (शाकु. 5/22 के ऊपर)। उसी तरह से प्रथमाङ्क के भ्रमरबाधा प्रसङ्ग में, दुष्यन्त भ्रमर के प्रतिस्पर्धी के रूप में "वयं तत्त्वान्वेषान् मधुकर हतास्त्वं खलु कृती" (शाकु. 1/20) कहता है। वही दुष्यन्त षष्ठाङ्क में, चित्रफलक में भ्रमरबाधा प्रसङ्ग का फिर से निरूपण करता है। तब भ्रमर को कहता है कि "एषा कुसुमनिषण्णा तृषतापि सती भवन्तमनुरक्ता। प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति। (शाकु. 6/19)" यहाँ वह भ्रमर को उपदेष्टा के रूप में दिखाया गया है। इस तरह से पूरे नाटक में, आदि से

10. त्वं दूरमपि गच्छन्ती हृदयं न जहासि मे। दिनावसानच्छायेव पुरोमूलं वनस्पते:।। 3-29

लेकर अन्त तक, एक रूप के सामने दूसरा प्रतिरूप खड़ा करने की योजना से नाट्यकार्य प्रवर्तित किया गया है। इस प्रकार की नाट्य-शैली को आन्तरिक प्रमाण के रूप में आधार बना कर सोचा जाय तो तृतीयाङ्क का पाठ, जो देवनागरी पाठपरम्परा में लघु-आकार का है, और बंगाली पाठपरम्परा में बृहदाकार का है, इन दोनों में से कहाँ पर मौलिकता होगी, इस प्रश्न का समाधान मिल जाता है।

2-1 बृहदाकार की बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क का पाठ लेकर उसकी तुलना षष्ठाङ्क के पाठ की साथ करनी होगी। इससे इन दो अङ्कों में भी रूप-प्रतिरूप की एक लाक्षणिक योजना अन्तर्निहित है। षष्ठांक में, दुष्यन्त ने चित्रफलक में दो सहेलियों के साथ में रही शकुन्तला का चित्र बना लिया है। तब विदूषक पूछता है कि-भोः, अपरं किमत्र लिखितव्यम्। (अब इसमें और क्या चित्रित करना है?) इसके जवाब में दुष्यन्त ने प्रेमाविष्ट होकर एक श्लोक प्रस्तुत किया है जो शाकुन्तल की सभी वाचनाओं में सुरक्षित रहा है:

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
पादास्तामभितो निषण्णचमरा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः,
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।।

6/17

अब सोचना यह है कि धीवरप्रसङ्ग के बाद, दुष्यन्त को जब शकुन्तला का स्मरण पूर्ण रूप से हो गया है तब विरहातुर बना दुष्यन्त पूर्वानुभूत (प्रथम एवम् तृतीय अङ्क के) कौन कौन से प्रसङ्गों को चुन चुन कर चित्राङ्कित करना चाहता है (राघवभट्ट, 2006)[11]। तो उपर्युक्त श्लोक में जो जो कहा गया है उसका ध्यान से परीक्षण करने की आवश्यकता है:

1. दुष्यन्त कण्वाश्रम के पास बहती हुई मालिनी नदी को याद कर रहा है। जिसकी सिकता में बैठे हुए हंस-मिथुन को वह चित्रित करना चाहता है।
2. मालिनी की पार्श्वभूमि में स्थित पार्वती के पिता अर्थात् हिमालय को वह चित्रित करना चाहता है जिसकी निश्रा में चामरों / हरिणों के यूथ बैठे हो।
3. वहाँ एक वृक्ष की शाखाओं पर ऋषिमुनिओं के अथवा शकुन्तला के वल्कल सुखाने के लिये टाँगे गये हों और उस वृक्ष की छाया में, नीचे दो मृग (जिसमें एक मृग हो

---

11. कार्येति। अनेन पद्येनाश्रमस्थं पूर्वानुभूतं तदानींतनम् उद्दीपनं विभावगणं स्मरति। -अभिज्ञानशाकुन्तलम् (राघवभट्टस्य टीकया सहितम्), सं. नारायण राम आचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2006 (पृ. 212)

और दूसरी मृगी हो) खड़े हों–ऐसा वह चित्रित करना चाहता है। यहाँ मालिनी, हंस, हिमालय, हरिण और वल्कल–वस्त्र इत्यादि का उल्लेख तो (प्रथम अङ्क के कण्वाश्रम के) पूर्वदृष्ट स्थल का ही स्मरण है ऐसा तुरन्त समझ में आता है।

4. किन्तु यहाँ एक प्रश्न उठता है कि मृग के शृङ्ग पर अपना वाम–नेत्र खुजलाती हुई (कण्डूयमाना) मृगी चित्रित करने की भावना दुष्यन्त के मन में कैसे / कहाँ से पैदा हुई होगी?

यहाँ चतुर्थ बिन्दु में जो प्रश्न उपस्थित किया गया है उसका उत्तर देवनागरी वाचना के तृतीयाङ्क के संक्षिप्त पाठ में से मिलता ही नहीं है। उसका उत्तर तो केवल बंगाली वाचना के बृहत्पाठ को देखने पर ही मिलता है। बंगाली वाचनावाले अभिज्ञानशकुन्तल के तृतीयाङ्क में कहा गया है कि, शकुन्तला के कान में लगाये उत्पलपुष्प की परागरज (परिमल) पवन के कारण उसकी आँख में गिरे हैं, अतः उसकी दृष्टि कलुषित हुई है (पिशेल, 1922 (द्वितीयावृत्ति)[12]। इस प्रसङ्ग में दुष्यन्त ने वहाँ कहा था कि मैं मेरे वदन– मारुत से तुम्हारी दृष्टि को स्वच्छ कर देने को तैयार हूँ।[13] तृतीयांक के इसी प्रसङ्ग को लक्षित करते हुए महाकवि कालिदास ने, षष्ठाङ्क में दुष्यन्त से कृष्णमृग के शृङ्ग पर अपना वामनेत्र खुजलाती (कण्डूयमाना) मृगी का चित्र आकारित करने की इच्छा व्यक्त करवायी है। अर्थात् बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क में शकुन्तला के जो कलुषित नेत्र को परिमार्जित कर देने का प्रसंग आता है उसका प्रतिदृश्य षष्ठाङ्क में खड़ा किया गया है। किन्तु देवनागरी वाचना के तृतीयांक में वह नेत्रकलुषित होने का प्रसंग हटाया गया है, अतः उस वाचना के षष्ठांक में "कण्डूयमानाम् मृगीम्" का निर्देश होते हुए भी उस चाहत का बीज कहाँ है यह प्रेक्षक नहीं जान सकता है।

2–2 यह भी स्मरणीय है कि इस नाटक में सर्वत्र हरिण को शकुन्तला का प्रतीक बनाया गया है। प्रथमाङ्क में आश्रममृग को नहीं मारने की शर्त पर उसको चक्रवर्ती पुत्र होने का आशीर्वाद मिला है। जिसका गर्भितार्थ यह है कि शिकारी बन कर तो दुष्यन्त को हरिणी–स्वरूपा शकुन्तला नहीं मिलनेवाली है। हरिण हो कर ही हरिणी को प्राप्त किया जा सकता है। पञ्चमाङ्क के प्रत्याख्यान–प्रसंग में उसने भले ही ताना मारते हुए बोल दिया था कि "द्वावप्यत्रारण्यकौ। सर्वः सगन्धिषु विश्वसति।" लेकिन अनजान में भी बोला गया एक परम सत्य था। अब धीवर से अङ्गूठी मिल जाने पर उसे समझ में आ गया है कि हरिणी–स्वरूपा शकुन्तला को प्राप्त करने के लिए उसको भरोसेमन्द हरिण होकर ही

---

12. राजा– सुन्दरि, कर्णोत्पलसंनिकर्षाद् ईक्षणसादृश्यमूढोऽस्मि। (इति मुखमारुतेन चक्षुः सेवते) पृ. 40

13. राजा –(सस्मितम्) यदि मन्यसे अहमेनाम् वदनमारुतेन विशदां करिष्ये। अभिज्ञानशाकुन्तलम्। सं. रिचार्ड पिशेल, हार्वर्ड युनि. प्रेस, पृ. 40

शकुन्तला के सामने खड़े रहना है। कण्डूयमानां मृगीम्–को चित्रित करने की चाहत का यह राज है। बंगाली वाचना के तृतीयांक में कर्णोत्पलरेणु से कलुषित हुई शकुन्तला की दृष्टि परिमार्जित कर देने का जो पूर्वप्रसंग है उसी का प्रतिदृश्य षष्ठांक के "कार्या सैकतलीनहंसमिथुना....।" वाले श्लोक में निरूपित हुआ है। इस तरह देवनागरी एवं बंगाली वाचना के षष्ठाङ्क के कण्डूयमानाम् मृगीम्–का चित्र बनाने की चाहत का पूर्व रूप बंगाली वाचना वाले (तृतीयाङ्क के) पाठ में ही उपलब्ध होता है, देवनागरी वाचना में से नहीं। क्योंकि देवनागरी वाचना में से तो कर्णोत्पलरेणु से शकुन्तला की दृष्टि कलुषित होने पर उसको परिमार्जित कर देने का प्रसंग हटाया गया है। अत:, बंगाली वाचना के बृहत्पाठ को प्रक्षिप्त न कह कर, उसे मौलिक मानने को हम बाध्य हो जाते हैं।

2–3 उपर्युक्त सन्दर्भ ऐसे हैं जिसमें सभी वाचनाओं में समान रूप से षष्ठाङ्क में आये हुए श्लोक को आधार बनाकर बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क के प्रलम्ब पाठ की मौलिकता का समर्थन किया गया है। इसी अनुसन्धान में एक दूसरा प्रमाण भी प्रस्तुत किया जाता है। देवनागरी, दाक्षिणात्य, काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली सभी वाचनाओं[14] के तृतीयाङ्क के अन्त भाग में समान रूप से एक श्लोक (देवनागरी का 3 / 23) ऐसा दिखाया जाता है जिस में आये हुए एक शब्द का समर्थन केवल बंगाली वाचना का (तृतीयाङ्क का बृहत्) पाठ ही कर सकता है। अब ऐसे आन्तरिक प्रमाण के रूप में सिद्ध होनेवाले श्लोक की चर्चा की जा रही है:–देवनागरी (इत्यादि) पाँचों वाचनाओं के शाकुन्तल में, तृतीयाङ्क के अन्त में, गौतमी के साथ शकुन्तला चली जाती है। तत्पश्चात् दुष्यन्त प्रियापरिभुक्त लतावलय में कुछ क्षणों के लिये खड़ा रहता है। वह यहाँ एक श्लोक बोलता है:

तस्या: पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं,
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पित:।
हस्ताद् भ्रष्टम् इदं बिसाभरणम् इत्यासज्यमानेक्षणो,
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि।।

3/23

(देवनागरी वाचना के) इस श्लोक में 1. शकुन्तला की पुष्पमयी शय्या, 2. उसका नलिनीपत्र पर लिखा हुआ मन्मथलेख, तथा 3. उसके हाथ से निकला हुआ कोई एक बिसाभरण (वलय)–इन तीन चीजों का स्पष्ट निर्देश है। लेकिन, देवनागरी, दाक्षिणात्य एवं काश्मीरी[15] वाचना के तृतीयाङ्क के पाठ में कहीं पर भी शकुन्तला को दुष्यन्त द्वारा पहनाये हुए बिसाभरण (कमलतन्तु का वलय) का प्रसंग नहीं है। ऐसे प्रसंग का उल्लेख

14. देवनागरी, दाक्षिणात्य, काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली–इन पाँचो वाचनाओं में।
15. जो साहित्य अकादेमी, दिल्ली से डॉ० ए.के. बेलवलकरजी द्वारा संपादित शाकुन्तल है उसमें यह अंश नहीं है।

तो एकमात्र बंगाली (एवं मैथिली) वाचना में ही प्राप्त होता है। बंगाली वाचना का निम्नोद्धृत अंश पठनीय है:–

राजा–सम्प्रति प्रियाशून्ये किमस्मिन् करोमि। (अग्रतोऽवलोक्य) हन्त, व्याहतं गमनम्।

मणिबन्धनगलितम् इदं संक्रान्तोशीरपरिमलं तस्याः।

हृदयस्य निगडमिव मे मृणालवलयं स्थितं पुरतः।। (3 / 31), (सबहुमानम् आदत्ते)

शकुन्तला–(हस्तं विलोक्य) अम्मो, दोब्बल्लसिढिलदाए परिब्भट्टं पि मुणालवलअं मए ण परिण्णादं। (अहो, दौर्बल्यशिथिलतया परिभ्रष्टमपि मृणालवलयं मया न परिज्ञातम्।)

राजा–(मृणालवलयमुरसि निक्षिप्य) अहो स्पर्शः।

अनेन लीलाभरणेन ते प्रिये विहाय कान्तं भुजमत्र तिष्ठता।

जनः समाश्वासित एष दुःखभागचेतनेनापि सता, न तु त्वया।।

(अभिज्ञानशकुन्तलम् 3 / 32, रिचार्ड पिशेल की बंगाली वाचनावाली आवृत्ति, पृ. 38).

दुष्यन्त की यह उक्ति सुनने के बाद शकुन्तला फिर से लतामण्डप में उस वलय को वापस ले लेने के निमित्त से प्रवेश करती है। यहाँ शकुन्तला ने जो लीलाभरण के रूप में हाथ में एक मृणालवलय पहना था उसका स्पष्ट शब्दों में उल्लेख है। इस प्रसङ्ग में (शकुन्तला के शब्दों में) जो "वलय" (और दुष्यन्त के शब्दों में जो) "लीलाभरण" का निर्देश है, उसीको देवनागरी वाचना के पूर्वोक्त (शाकु. 3 / 23) श्लोक के "बिसाभरणम्" शब्द से रखा गया है। एवमेव, देवनागरी (इत्यादि) वाचना के तृतीयाङ्क के आरम्भ में ही कहा गया है कि शकुन्तला के हाथ में पहना हुआ मृणालवलय शुरू से ही "प्रशिथिल" था। अतः उस वलय के गिर जाने का प्रसंग आकारित होने की सम्भावना एवं अपेक्षा है ही। लेकिन शकुन्तला के हाथ से मृणालवलय गिरने का प्रसंग केवल बंगाली और मैथिली वाचना के पाठ में तथा काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपियों में ही सुरक्षित रहा है। यह तीसरा आन्तरिक प्रमाण है जिसके द्वारा बंगाली आदि के प्रलम्ब पाठ की मौलिकता सिद्ध होती है।

बंगाली वाचना के शकुन्तल नाटक में तृतीयाङ्क में कुल मिला कर 41 या 42 श्लोकों का समुदाय है। उसके सामने देवनागरी वाचना और दाक्षिणात्य वाचनावाले शाकुन्तल नाटक के तृतीय अङ्क में केवल 23 या 24 श्लोक प्राप्त होते हैं। अतः यदि किसी अज्ञात रंगकर्मी ने बंगाली वाचना के बृहत् पाठ में काट-छाँट करके, देवनागरी वाचना का संक्षिप्त पाठ बनाया होगा तो उसका कोई न कोई सबूत देवनागरी वाचना के पाठ में ही अनजान में भी रहा होगा–अब ऐसा अनुमान करने को हमारा मन उद्यत होता है। उस अनुमान को दृढीभूत करनेवाला यह (3 / 23) श्लोक (संक्षिप्त की गयी) देवनागरी वाचना में सुरक्षित

रह गया है, जो हमारे लिये एक अकाट्य आन्तरिक प्रमाण है। सारभूत बात यही है कि 1. पुष्पमयी शय्या और 2. मन्थलेख के साथ 3. जो बिसाभरण का निर्देश देवनागरी वाचना के पाठ में है वह कहाँ से आया इसका उत्तर केवल बंगाली आदि बृहत्पाठवली वाचनाओं में ही है।

3–1 आन्तरिक सम्भावना का चतुर्थ स्थान:–देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनावाले (लघु) पाठ में गान्धर्व–विवाह नामक तृतीयाङ्क का आलेखन संयमित एवं व्यंजनापूर्ण होते हुए भी उसमें एक स्थान ऐसा है कि जो प्रथम दृष्टि में ही अनुचित लगता है:–"चक्रवाकवधुके, आमन्त्रयस्व प्रियसहचरम्। उपस्थिता रजनी"। ऐसा नेपथ्य से कहा जाता है। इस को सुनते ही शकुन्तला दुष्यन्त को सावधान करती है कि मेरे शरीरवृत्तान्त को जानने के लिये गौतमी आ रही है। तुम वृक्ष के पीछे छुप कर रहो। फिर देवनागरी पाठ में एक रंगसूचना है:–"ततः प्रविशति पात्रहस्ता तापसी, सख्यौ च"। दोनों सखियाँ "इत इत आर्या गौतमी" बोलती हुई गौतमी का प्रवेश करवाती हैं। बाद में वह पूछती है कि क्या अब तेरे शरीर का संताप कुछ कम हुआ है। लो, इस शान्तिदर्भोदक से तेरी बाधायें हट जायेंगी इत्यादि। फिर तीनों पात्र (गौतमी, अनसूया और प्रियंवदा) शकुन्तला को ले कर रंगभूमि से निकल जाती हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि जिन दोनों सखियों ने नायक–नायिका को रतिक्रीडा के अनुकूल विश्रब्ध स्थान में एकान्त देने के लिये, मृगबाल को अपनी माता के साथ संयोजन करवाने का बहाना बनाकर, अभी अभी कुछ ही क्षण पहले लतावलय से बिदा ली थी, क्या वही दोनों सखियाँ आर्या गौतमी को रास्ता दिखाती हुई वहाँ उपस्थित हो जाती हैं? यह तो सर्वथा अनुचित ही है। यद्यपि यह बात अलग है कि किसी भी विद्वान् ने इस अनौचित्य की ओर अंगुली नहीं उठायी है। लेकिन यह अनौचित्य ध्यातव्य जरूर है।

अब इसी सन्दर्भ को लेकर बंगाली एवं मैथिली वाचना के पाठ का परीक्षण किया जाय तो वहाँ उपर्युक्त अनौचित्य नहीं है। जैसा पहले कहा गया है–बंगाली पाठ में "अनिर्वाणो दिवस:" से लेकर "वत्से, परिणतो दिवस:"–के बीच में नायक–नायिका का जो विस्तृत साहचर्य दिखाया गया है उसमें जिस क्षण में गौतमी का प्रवेश होता है, तब वह अकेली होती है। शान्त्युदक प्रसारित करते हुए वह देखती है कि अस्वस्थ शकुन्तला को देवताओं के सहारे अकेली छोड़ कर प्रियंवदा–अनसूया वहाँ से चली गयी हैं। तब शकुन्तला को कहना पड़ता है कि वे दोनों अभी अभी मालिनी नदी पर गयी हैं (पिशेल, 1922 (द्वितीयावृत्ति)[16]। यहाँ दोनों सखियों के साथ में गौतमी उपस्थित नहीं होती है। अर्थात् यहाँ जो पाठ दिखायी देता है वह पूर्वापर सन्दर्भ में बिल्कुल सुसंगत और औचित्यपूर्ण है। अत: बंगाली लिपि में लिखित अभिज्ञानशकुन्तल की पाण्डुलिपियों में जो बृहत्पाठ–परम्परा

---

16. (प्रविश्य पात्रहस्ता गौतमी) जाते इदम् शान्त्युदकम्। (दृष्ट्वा) अस्वस्था इह देवतासहायिनी तिष्ठसि। शकुन्तला–इदानीमेव प्रियंवदानसूये मालिनीम् अवतीर्णे। रिचार्ड पिशेल की आवृत्ति, (पृ. 41)

संचरित हुई है, वही मौलिकता के नजदीक हो सकती है ऐसी सम्भावना दृढतर हो कर सामने आती है।

4–1 आन्तरिक सम्भावना का पञ्चम स्थान:–अभिज्ञानश(शा)कुन्तल की सभी वाचनाओं के षष्ठाङ्क में विरही दुष्यन्त के मुख से अन्त:पुर में बार बार गोत्रस्खलन होने से वह शरमिन्दा हो जाता है ऐसा निर्देश है।

दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचिताम् अन्त:पुरेभ्यो यदा,
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम्।।

(शाकु. 6/5)

अब गान्धर्व-विवाह को वर्णित करनेवाले (देवनागरी वाचना के) तृतीयाङ्क में दुष्यन्त–शकुन्तला का जो मिलन है वह तो कुछ दो-पाँच संवादों का ही वर्णित किया है। किन्तु बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क के पाठ में, शकुन्तला ने दुष्यन्त को "आर्यपुत्र" जैसे शब्द से सम्बोधन किया है और नायक दुष्यन्त ने शकुन्तला को "जीवितेश्वरी" शब्द से उल्लिखित किया है। ऐसे परस्पराश्लिष्ट / परस्पराश्रित दाम्पत्य का निरूपण होने के बाद यदि गोत्रस्खलन का उल्लेख किया जाय तो वह ज्यादा प्रीतिकर सिद्ध हो सकता है।

5–1 देवनागरी वाचना के षष्ठाङ्क में वर्णित प्रसङ्गों का बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क के पाठ में प्रदर्शित प्रसङ्गों के साथ एक तरह का आन्तर सम्बन्ध दिखायी देता है। इसी बात का समर्थन करनेवाला षष्ठाङ्क का एक अन्य सन्दर्भ भी यहाँ उल्लेखनीय है: देवनागरी (इत्यादि सभी) वाचनाओं में, विरही दुष्यन्त के सामने पत्रारूढ पौरकार्य प्रस्तुत किया जाता है। जिस में एक समुद्रव्यवहारी सार्थवाह धनमित्र अनपत्य मर गया है–ऐसी बात कही जाती है। यहाँ पर दुष्यन्त की उक्ति स्मरणीय है: "अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इति एतद् अमात्येन लिखितम्। कष्टं खल्वनपत्यता। बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचार्यताम् यदि काचिद् आपन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्"। महाकवि कालिदास को यहाँ दुष्यन्त को शकुन्तला की आपन्नसत्त्वावस्था का स्मरण दिला कर पश्चात्ताप में डालना तो अभिप्रेत होगा ही, लेकिन उनको अपनी अनपत्यता का भी स्मरण देना अभीष्ट होगा। क्योंकि इस नाटक के आरम्भ में दुष्यन्त को चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति होगी ऐसे आशीर्वचन दिये गये हैं, और वही है इस नाटक का अन्तिम लक्ष्य (द्विवेदी, कालिदास ग्रन्थावली (भाग–2)[17]।

इसी लिये षष्ठाङ्क में, धनमित्र के प्रसङ्ग से राजा दुष्यन्त की अनपत्यता का स्मरण ध्वनित करके कवि ने इस नाटक के चरम लक्ष्य को प्रेक्षकों के सामने रखा है। यहाँ एक

---

17. इदमेव प्रयोजनमेतस्य नाटकोत्तमस्येत्यभिनवगुप्तो नाट्यशास्त्रविवृतावभिनवभारत्यां 19–22 कारिकायां घनश्यामश्च। अत एव सार्थक्यं षष्ठसप्तमाङ्कयो:। कालिदास-ग्रन्थावली (द्वितीयो भाग:), अनु रेवाप्रसाद द्विवेदी, कालिदास संस्कृत अकादमी, उज्जैन, 2008, पृ. 318

ध्यानास्पद बिन्दु यह है कि नाटक के गन्तव्य को महाकवि ने प्रत्येक अङ्क में किसी न किसी स्वरूप से निर्दिष्ट भी किया है। जैसे कि प्रथमाङ्क में 'सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रम् अवाप्नुहि' शब्दों से वैखानस के आशीर्वचन दिये जाते हैं और सप्तमाङ्क में चक्रवर्ती राजा के लक्षणों से युक्त सर्वदमन भरत की प्राप्ति दिखायी गयी है। तृतीयाङ्क में नायक-नायिका का गान्धर्व-विवाह होता है और चतुर्थाङ्क में कण्वमुनि कहते हैं कि दौष्यन्ति पुत्र को राज्य की धुरा सौंप कर इस आश्रम में फिर से वापस आना। पञ्चमाङ्क के अन्त में, शकुन्तला-प्रत्याख्यान प्रसङ्ग में राजपुरोहित कहता है कि-त्वं साधुभिरुद्दिष्टः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रम् जनयिष्यसि इति। (शाकु. 5 / 29 के बाद), और षष्ठाङ्क में सार्थवाह धनमित्र के पूर्वोक्त प्रसङ्ग के द्वारा दुष्यन्त की अनपत्यता व्यञ्जित की जाती है। किन्तु देवनागरी वाचना और दाक्षिणात्य वाचनावाले शाकुन्तल के द्वितीयाङ्क में कहीं पर भी पुत्रप्राप्ति रूप नाट्यकार्य का किसी भी तरह से निर्देश नहीं है। राजमाता ने जो उपवास किये थे उसका कोई उद्देश्य वहाँ नहीं कहा गया है। यहाँ पर देवनागरी और दाक्षिणात्य पाठ के अनुसार 'प्रवृत्तपारण' या 'निर्वृतपारण' उपवास का ही निर्देश है।[18] केवल बंगाली, मैथिली और काश्मीरी वाचना के शकुन्तल में ही "पुत्रपिण्डपालन", "पुत्रपिण्डपर्युपासन", एवं "पुत्रपिण्डाराधन" जैसे पाठभेदवाले शब्दों से पुत्र-प्राप्ति रूप लक्ष्य का निर्देश मिलता है। इन पाठभेदों का तुलनात्मक अध्ययन करने से भी यह सिद्ध होगा कि देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचना का पाठ संक्षिप्त करने के साथ साथ परिवर्तित भी किया गया है। बंगाली वाचना के पुत्रपिण्डपालन-वाले पाठ में नाटक के चरम लक्ष्य का निर्देश सुरक्षित है, परन्तु वह निर्देश देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना से गायब हो गया है। इस तरह बंगाली वाचना के पाठ की मौलिकता की सम्भावना उपर्युक्त एक छोटे से पाठभेद से भी दृढतर सिद्ध होती है।

6-1 संस्कृत नाट्य-साहित्य में भास, कालिदास, शूद्रक, कुन्दमालाकारादि अनेक कविओं ने प्रेमोद्भव के एक बीजभूत कारण के रूप में अनुक्रोश नामक गुण को पुरस्कृत किया है। यद्यपि संस्कृत-कोशकारों नें इस शब्द का दया, अनुकम्पा, घृणा, सहानुभूति जैसे अर्थों का परिगणन किया है, और टीकाकार चन्द्रशेखर ने उसका अर्थ "कृपा" किया है। किन्तु उसका सही अर्थ तो "परदुःखदुःखिता" ही होता है।[19] दूसरों के दुःख को देख कर, उस दुःखीजन को साहाय्य करने को जो तुरन्त उद्यत होता है वह व्यक्ति सानुक्रोश है-ऐसा कहा जाता है। ऐसी सानुक्रोशता को देख कर कुसुम-सुकुमारचित्तवाली नारिओं के हृदय में प्रेम की भावना सद्यः प्रकट होती है। अतः महाकवि कालिदास जब अपनी इस नाट्यकृति में अनुक्रोश शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका भी परीक्षण करके देवनागरी शाकुन्तल के पाठ की आलोचना की जा सकती है:

18. राघवभट्ट की टीका में - देव्याज्ञापयति - आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति। तथा काटयवेम की टीका में-देव्याज्ञापयति-आगामिनि चतुर्थदिवसे निर्वृतपारणो मे उपवासो भविष्यति। ऐसे पाठान्तरों को स्वीकार किया गया है।

19. एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे, सौहार्दाद् वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या। मेघदूतम्-55

देवनागरी वाचनावाले अभिज्ञानशाकुन्तल के सप्तमाङ्क में दुष्यन्त शकुन्तला के पाँव पड़ता है (और 7 / 24 श्लोक बोलता है।) यहाँ शकुन्तला कहती है कि–उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः। नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणाममुखम् आसीद्, येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः। यहाँ शकुन्तला ने कहा है कि दुष्यन्त एक सानुक्रोश व्यक्ति है, लेकिन मेरे सुचरित को रोकनेवाले गत जन्म के कोई कर्म उस समय फल देने के लिये तत्पर हो गये थे, जिसके कारण आर्यपुत्र सानुक्रोश होते हुए भी मेरे प्रति विरस हो गये थे। यहाँ दुष्यन्त के लिए प्रयुक्त सानुक्रोश शब्द, जो समग्र संस्कृतसाहित्य में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है (Vasantkumar, 2002)[20], उसका औचित्य कैसे सिद्ध किया जा सकता है, यह परीक्षणीय है।

शकुन्तला की उपर्युक्त उक्ति को सुन कर यह प्रश्न किया जा सकता है कि "दुष्यन्त एक सानुक्रोश व्यक्ति है" ऐसा अनुभव शकुन्तला को कब हुआ होगा? दुष्यन्त और शकुन्तला का साहचर्य तो केवल प्रथम एवं तृतीय, इन दो अङ्कों में ही वर्णित हुआ है। 1. प्रथमाङ्क के भ्रमरबाधा प्रसङ्ग में दुष्यन्त शकुन्तला को भ्रमर के त्रास से छुड़ाने के लिये जब सहसा प्रस्तुत होता है एवं वृक्षसेचन के लिये दो घट पानी के ऋण में से मुक्त करवाने के लिये जब वह अपनी राजमुद्रा निकाल कर देता है। 2. देवनागरी वाचना के तृतीयाङ्क में नायक–नायिका का साहचर्य / सहवास परिसीमित क्षणों में पूरा होता है। अतः इस अल्पकालिक मिलन में शकुन्तला को किसी बाधा से छुड़ाने का मौका दुष्यन्त को मिला हो ऐसा कोई प्रसंग वर्णित नहीं है। इस लिये सप्तमाङ्क में जब दुष्यन्त के लिये सानुक्रोश शब्द का प्रयोग होता है तब वह निराधार लगता है। किन्तु बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क के पाठ को यदि लेते हैं तो वहाँ एक निश्चित प्रसङ्ग है जिसमें दुष्यन्त ने शकुन्तला को प्रत्यक्ष रूप से बाधामुक्त किया है। शकुन्तला ने अपने कानों में जो उत्पलपुष्प आरोपित किया था, उसकी रेणु से नेत्र जब कलुषित होता है तब दुष्यन्त ने अपने वदनमारुत से उसका प्रमार्जन किया था। और शकुन्तला ने भी दुष्यन्त को अनुकम्पा प्रदर्शित करनेवाला कहा है।[21] इस तरह बंगाली वाचना के पाठ को यदि हम ध्यान में ले कर सप्तमाङ्क के सानुक्रोश शब्द के प्रयोग का औचित्य सोचते हैं तो वह सुसंगत और साधार लगता है। परन्तु देवनागरी वाचना के संक्षिप्त पाठ के सन्दर्भ में इस महत्त्वपूर्ण शब्द के प्रयोग का औचित्य जमता नहीं है।

---

20. करुणा जो होती है वह ईश्वर की होती है और जो सहानुभूति होती है वह साधुपुरुष की होती है। इस करुणा और सहानुभूति के बीच में अनुक्रोश आता है। तथा अनुक्रोशत्व के कारण प्रेमोद्भव होता है–ऐसा संस्कृत कवियों ने बार बार दिखाया है।

21. शकुन्तला – न तावत् एवम् प्रेक्षे। पवनोत्कम्पिना कर्णोत्पलरेणुना कलुषीकृता मे दृष्टिः। राजा– यदि मन्यसे अहमेनां वदनमारुतेन विशदां करिष्ये। शकुन्तला – ततो अनुकम्पिता भवेयम्। (रिचार्ड पिशेल आवृत्ति) पृ. 40

उपसंहार:–पाठालोचना में इदं प्रथमतया पाण्डुलिपियों का साक्ष्य ही महत्त्व रखता है। उपलब्ध पाण्डुलिपियों में संचरित हुए पाठों का तुलनात्मक अध्ययन करके, वंशवृक्षपद्धति से विभिन्न वाचनाओं में से कौन सी वाचना पूर्वज है या वंशज है, अर्थात् प्राचीन या प्राचीनतर है, उसका निर्णय किया जाता है। तदनन्तर, कौन से पाठ को बहुसंख्य पाण्डुलिपिओं का समर्थन मिलता है, अथवा प्राप्त की गयी अनेकानेक पाण्डुलिपिओं में से जो प्राचीनतम पाण्डुलिपि होगी उनमें कौन सा पाठ सुरक्षित रहा है, उसकी विचारणा आधुनिक पाठसम्पादक करते हैं। ऐसे दृष्टिकोण से जो समीक्षित पाठसम्पादन किया जाता है उसमें वस्तुनिष्ठता जरूर होती है। क्योंकि यहाँ पर जैसा भी निर्णय किया जाता है वह उपलब्ध पाण्डुलिपिओं (की संख्या या प्राचीनता) पर निर्भर रहता है। परन्तु जब अनेकविध पाठान्तरों में से कौन सा पाठान्तर अधिक काव्यत्व या नाट्यक्षमता से परिपूर्ण हो सकता है, उसको देखकर, अर्थात् "गुणोपसंहार न्याय" (Eclectic Principles) से समीक्षित पाठसम्पादन तैयार किया जाता है, तो उसमें आत्मलक्षिता प्रविष्ट होती ही है। परिणाम स्वरूप ऐसा समीक्षित पाठसम्पादन सर्वसम्मत नहीं होता है। तथा जिस वंशवृक्षपद्धति से निर्धारित किये समीक्षित पाठसम्पादन को वस्तुनिष्ठ कहा गया है उसमें पाठालोचना के तीन सोपान ही कार्यान्वित किये गये होते हैं। अत: वहाँ चतुर्थ सोपान पर उच्चतर पाठसमीक्षा का कार्य अवशिष्ट रहता है। यहाँ वंशवृक्षपद्धति से जिस वाचना को प्राचीनतर या अधिक श्रद्धेय मान कर, उसके आधार पर पाठसम्पादन किया जाता है उसका पुन:परीक्षण किया जाता है। ऐसे पुन:परीक्षण में बाह्य साक्ष्य एवं कृतिनिष्ठ आन्तरिक सम्भावना को सर्वोच्च मानदण्ड के रूप में स्वीकारा जाता है। प्रस्तुत आलेख में, बंगाली वाचना के बृहत् पाठ की मौलिकता को कृति के ही अन्त:साक्ष्य से कैसे समर्थन मिल रहा है उसकी चर्चा की गयी है। किन्तु यहाँ ऐसा कहने का आशय यह भी नहीं है कि बंगाली वाचना के पाठ को ही साद्यन्त स्वरूप में मौलिक मान लिया जाय। क्योंकि डॉ० रिचार्ड पिशेल के द्वारा निर्धारित किये गये बंगाली वाचना के समीक्षित पाठ की भी व्यापक रूप से उच्चतर समीक्षा करना अनिवार्य है। (जिसको अनुगामी पृष्ठों में प्रस्तुत किया गया है।) बंगाली वाचना के पाठ में मौलिकता झलक रही है ऐसा सिद्ध होने का सही मतलब तो यह है कि अभिज्ञानशकुन्तल का बृहत्पाठ संचरित करनेवाली जो तीन वाचनायें हैं, 1. बंगाली, 2. मैथिली एवं 3. काश्मीरी, इन तीनों में मौलिकता छुपी हुई है। कालिदास के अभिज्ञानशकुन्तल का मूल पाठ उजागर करने के लिए उपर्युक्त त्रिविध वाचनाओं में संचरित हुए बृहत्पाठ का आलोडन करके ही अभिज्ञानशकुन्तल के कविप्रणीत मूल पाठ को निश्चित करना चाहिए।

Bibliography

Kanjilal, D.K. (1980). A Reconstruction of the Abhijnana-śakuntalam, Calcutta: Sanskrit College.

Vasantkumar, B. (2002)-Anukroshatva–a rare element of humanity,

as depicted in Sanskrit literature. Sambodhi, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, 133-139.

काट्यवेम. (1982). अभिज्ञानशाकुन्तलम् हैदराबाद: आन्ध्रप्रदेश संस्कृत अकादेमी.

चतुर्वेदी सीताराम (1963), कालिदास-ग्रन्थावली (हिन्दी अनुवाद के साथ), अलीगढ़, एस. के. बेलवलकर, निसर्ग कन्या शकुन्तला-शोध आलेख (च. परिशिष्ट में).

द्विवेदी, रेवाप्रसाद (2004), कालिदास-अपनी बात। (भारतीय दृष्टि), वाराणसी: कालिदास संस्थान,.

द्विवेदी, रेवाप्रसाद (2009). कालिदास ग्रन्थावली (भाग-2), उज्जैन: कालिदास संस्कृति संस्थान.

पिशेल, रिचार्ड (1922 (द्वितीयावृत्ति), अभिज्ञानशकुन्तलम्। (बंगाली वाचना) केम्ब्रीज: हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस,.

राघवभट्ट. (2006), अभिज्ञानशाकुन्तल, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,. नव देहली

अभिज्ञानश(शा)कुन्तलम् की बंगाली एवं देवनागरी वाचनाओं में प्रक्षेप एवं संक्षेप

0-1, **भूमिका**—यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक की सर्वोत्तमता को लेकर कोई विवाद ही नहीं उठा है! पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ इस नाटक का पाठ इयत्ता में द्विविध है। अत: उनमें से कौन सा शाकुन्तल मंचन के योग्य है, ऐसा प्रश्न होना चाहिए था, तदनन्तर इनमें से किसकी सर्वोत्तमता मानी जाय ऐसा विवाद भी उठना अपेक्षित था। किन्तु दुर्भाग्य से ऐसा कुछ हुआ नहीं। यहाँ तो विगत 100-150 वर्षों में अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रचलित पाठों की मौलिकता को लेकर संशय या विप्रतिपत्ति दिखानेवाले विद्वान् दो-चार की संख्या में परिसीमित हैं! जबकि हकीकत यह है कि इस नाटक के शीर्षक से लेकर, अन्तिम भरतवाक्य पर्यन्त जितने भी गद्य-पद्य संवाद हैं वे सभी पाठभेद की समस्या से ग्रस्त हैं। अत: स्वाभाविक रूप से ही शाकुन्तल के मौलिक पाठ की गवेषणा करने के लिये गणमान्य विद्वानों के द्वारा बार बार चर्चा-विचारणा होनी आवश्यक थी और आज भी वह अनिवार्य है। अभिज्ञानशाकुन्तल की पाठालोचना करनेवाले विरल विद्वानों में दो मत हैं:-(1) प्रथम, शाकुन्तल के जिस पाठ पर राघवभट्ट ने "अर्थद्योतनिका" टीका लिखी है, वह देवनागरी वाचना का पाठ ही मौलिक हो सकता है। (2) द्वितीय, बंगाली वाचना का पाठ, जिस पर चन्द्रशेखर चक्रवर्ती ने सन्दर्भदीपिका टीका लिखी है, वह प्राचीनतर भी है और अधिक श्रद्धेय एवं कदाचित् मौलिक भी है। अत: कम से कम, उपर्युक्त टीकाकारों के द्वारा स्वीकृत इन दोनों वाचनाओं के पाठ की परीक्षा तो करनी चाहिए। क्योंकि किसी भी कृति की पाठालोचना किये बिना यदि उसकी साहित्यिक आलोचना की जाती है तो वह आज नहीं तो कल गलत सिद्ध होने की पूरी सम्भावना है।

0–2 पाठालोचना की दिशा में विद्वानों के द्वारा अद्यावधि जो शोधकार्य हुआ है उससे इतनी जानकारी मिलती है कि पाण्डुलिपियों में प्रवहमान अभिज्ञानशाकुन्तल का पाठ इयत्ता में द्विविध है। एक को बृहत्पाठ कहते हैं, तथा दूसरे को लघुपाठ कहते हैं। प्रथम याने बृहत्पाठ परम्परा के "अभिज्ञानशकुन्तल" में तीन वाचनायें दृष्टिगोचर हो रही हैं:–(1) काश्मीरी वाचना, (2) मैथिली वाचना, एवं (3) बंगाली वाचना। दूसरी, लघुपाठ परम्परा के "अभिज्ञानशाकुन्तल" की दो वाचनायें प्रसिद्ध हैं:–(4) देवनागरी वाचना एवं (5) दाक्षिणात्य वाचना।। विद्वानों के परिश्रम से अभी तक इतना सप्रमाण सिद्ध हुआ है कि देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं की अपेक्षा बंगाली वाचना में संचरित हुआ जो पाठ है वह प्राचीनतर है, एवं बृहत्तर भी है।

बंगाली वाचना के अभिज्ञानशकुन्तल के पाठ का समीक्षित पाठ-सम्पादन करनेवाले विद्वान् दो हैं:–(1) डॉ० रिचार्ड पिशेल, (Pischel, 1876; (Seond edition-1922), तथा (2) डॉ० दिलीपकुमार काञ्जीलाल, (काञ्जीलाल, 1980)। इन दोनों सुज्ञ विद्वानों ने बंगाली वाचना पर लिखी गयी चन्द्रशेखर चक्रवर्ती की टीका का विनियोग अवश्य किया है, तथा रिचार्ड पिशेल ने तो इस नाट्यकृति के प्राकृत-संवादों के पाठ की शुद्धि करने के लिये चन्द्रशेखर की टीका का ही अधिक से अधिक सहारा लिया है। किन्तु दोनों में से किसी विद्वान् ने इस नाटक के अधिकृत–समीक्षित–पाठ को प्रकाशित करने के साथ साथ चन्द्रशेखर की "सन्दर्भदीपिका" टीका का अधिकृत पाठ प्रकाशित नहीं किया है। टीकाकार चन्द्रशेखर की टीका से समर्थित होनेवाले पाठ को अधिक श्रद्धेय मान कर, उसके आधार पर अभिज्ञानशकुन्तल का समीक्षित पाठ निर्धारित करने के पश्चात् भी यह प्रश्न तो रहता ही है कि इस टीकाकार के द्वारा समादृत पाठ में प्रक्षेपादि के दूषण हैं या नहीं हैं। क्योंकि अनेकानेक बंगाली पाण्डुलिपियों का आलोडन करके अभिज्ञानशकुन्तल का जो पाठ "अधिकृत" या "समीक्षित" पाठ के रूप में रिचार्ड पिशेल एवं श्रीदिलीपकुमार काञ्जीलाल ने प्रस्तुत किया है उसकी आन्तरिक सम्भावना के मानदण्ड से यदि परीक्षा की जाय तो तुरन्त मालूम होगा कि इन दोनों महाशयों द्वारा तैयार किया हुआ बंगाली वाचना का समीक्षित पाठ भी अनेक स्थानों पर प्रक्षेप एवं संक्षेप से भरा पड़ा है। मतलब कि इन दोनों विद्वानों ने जो समीक्षित पाठ निर्धारित किया है वह केवल निम्न स्तरीय पाठालोचना का परिणाम है और उस पाठ की उच्च स्तरीय पाठालोचना करने का कार्य अभी तक शायद पूर्ण रूप से नहीं हुआ है। यदि बंगाली वाचना में प्रवहमान पाठ प्राचीनतर एवं मौलिकता[22] के नजदीक है, ऐसा सिद्ध हो रहा है तो उस पाठ की उच्च स्तरीय पाठालोचना कर मौलिकता की ओर अधिक निकटता हासिल करने का प्रयास करना ही चाहिए।

22. इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है मेरा शोध-आलेख:–अभिज्ञानशाकुन्तल, बंगाली वाचना की मौलिकता के समर्थक नवीन प्रमाण, संस्कृत-विमर्श (नव शृङ्खला, वॉ. 4) राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नयी दिल्ली, 2010, पृ. 147-160

इसी तरह से श्री पी. एन. पाटणकर जी (1902 ई. स. में) ने भी देवनागरी पाण्डुलिपियों की निम्न स्तरीय पाठालोचना की है। किन्तु उनके निर्धारित किये देवनागरी के "शुद्धतर" पाठ्यांश (Patankar, 1902) में भी विचारसातत्य खण्डित होता है या नहीं, अथवा अमुक पाठ्यांश कवि की निरूपणशैली से विपरीत है या नहीं, या देवनागरी पाठ के नाम पर बंगाली वाचना का कुछ पाठ्यांश स्वीकृत कर लिया गया है या नहीं, ऐसा कोई विचार ही नहीं किया गया है।[23] अत: वे भी देवनागरी वाचना के पाठ में जो संक्षेपीकरण का खेल खेला गया है उसे देख नहीं पाये हैं। देवनागरी पाठपरम्परा का इतिहास बहुत लम्बा होने से शाकुन्तल की देवनागरी पाण्डुलिपियों में भी बहुविधता है। डॉ० दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने बताया है कि देवनागरी वाचना के भी त्रिविध पाठ प्रसारित हुए हैं:–(1) प्राचीन देवनागरी, (2) मिश्रदेवनागरी एवं (3) संक्षिप्त की गयी देवनागरी पाण्डुलिपियाँ। (संक्षिप्त की गयी देवनागरी का पाठ यानि राघवभट्ट ने जिस पाठ पर टीका लिखी है वह।) सारभूत बात यही है कि सौ डेढ़ सौ साल के इतिहास में अलग अलग प्रान्तों के अनेकविध शाकुन्तल एवं उनकी विविध टीकाओं का प्रकाशन होता रहा है। लेकिन इस नाट्यकृति के पाठ की पाठालोचना करने का कार्य दो–तीन विद्वानों[24] से अधिक किसी ने भी नहीं किया है, और वह भी आंशिक रूप में ही हुआ है। प्रस्तुत आलेख में, बंगाली वाचना की तुलना में देवनागरी वाचना में जहाँ संक्षेपीकरण हुआ है, एवं मौलिकता के नजदीक होते हुए भी बंगाली वाचना के पाठ में जहाँ प्रक्षिप्तांश दिखते हैं उसकी उच्चतर समीक्षा की जाती है।।

0–3 पाठालोचना का चतुर्थ सोपान है: उच्चतर समीक्षा। उसमें पाण्डुलिपियों के साक्ष्य से ऊपर उठना है। तथा टीकाकारों के द्वारा जो पाठ मान्य किया गया है ऐसे (सहायक सामग्री रूप) टीका–ग्रन्थों के प्रमाणों को भी छोड़ देना है। पाठालोचना के इस अन्तिम सोपान पर, समीक्षित पाठ के रूप में निर्धारित किये गये पाठ में प्रत्येक वाक्य की परीक्षा करनी होती है। जैसे कि पूर्वापर सन्दर्भ में विचार–सातत्य बना रहता है कि नहीं? एवमेव, प्रत्येक विचार की सुसंगतता एवं औचित्य है या नहीं? नाट्यकृति के जिस श्लोक में या गद्य–वाक्य में विचार–सातत्य खण्डित होता है, अथवा पुनरुक्ति होती है–तो उस पाठ की मौलिकता संशयग्रस्त बनती है। जिस संवाद में प्रसंगानुसारी नाट्यगत औचित्य प्रतीत नहीं होता है तो वह पाठ्यांश प्रक्षेप या संक्षेप का परिणाम हो सकता है क्योंकि अतीत में मंचन के दौरान सूत्रधारों ने अपनी अपनी रुचि–अरुचि या प्रतिभा के अनुसार नाट्यकार के द्वारा

23. श्री पाटणकर जी ने कृति का शीर्षक "अभिज्ञानशकुन्तलम्" मान्य किया है। वस्तुत: ऐसा शीर्षक बंगाली, मैथिली और काश्मीरी पाण्डुलिपियों में प्रवर्तमान है। और देवनागरी तथा दाक्षिणात्य पाण्डुलिपियों में "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" है।

24. प्रोफे. बलवन्तराय ठाकोर (गुजरात), डॉ० एस.के. बेलवरकर (पुणे) और शारदरंजन राय (कोलकाता)।

लिखे गये पाठ्यांश में प्राय: परिवर्तन एवं परिवर्धन किया ही है। नाटक एक अभिनेय-काव्य होने के कारण स्थल-काल की एवं रंगमंच की मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए सूत्रधारों के लिए नाट्यकार के मूल पाठ में परिवर्तन करना आवश्यक भी हो जाता है। अत: पाण्डुलिपियों में संचरित हुए नाट्यकृतियों के पाठ को हम सर्वथा मौलिक नहीं मान सकते हैं। ऐसे पाठों की आन्तरिक सम्भावना की दृष्टि से परीक्षा करने की नितान्त आवश्यकता रहती है। यह बात कालिदास जैसे नाट्यकार के लिए, तथा अभिज्ञान-शाकुन्तल जैसे सर्वश्रेष्ठ नाटक के लिए तो बिलकुल सही है क्योंकि उसकी लोकप्रियता आजन्म सिद्ध होने के कारण इसका मंचन पौन:पुन्येन होता ही रहा है। नाट्यकृति के परम्परागत पाठ में आन्तरिक सम्भावना बहुविध दृष्टि से देखी जा सकती है: जैसे कि (1) कृति के पाठ में विचार विषयक पूर्वापर संगति, (2) नाटकीयता की दृष्टि से संवादों में अपेक्षित आनुक्रमिकता, (3) कवि की निरूपण शैली, (4) कृति के मूलस्रोत रूप जो सामग्री हो उसका विश्लेषण एवं मूलस्रोत का परिमार्जन का हेतु, (5) कृति के लक्ष्य की सिद्धि, अर्थात् उपक्रमोपसंहार की संगति इत्यादि।

0-4 यहाँ बंगाली एवं देवनागरी वाचनाओं के अमुक निश्चित पाठभेदों की ही चर्चा की जा रही है जिसमें विशेष रूप से श्लोकात्मक संवादों की समीक्षा करना अभीष्ट है। यहाँ शब्दपर्यन्त ही सीमित रहनेवाले पाठभेदों की, या रंगसूचना देनेवाले वाक्यों में दिख रहे पाठभेद, या पात्रसृष्टि के नाम-सम्बद्ध पाठभेद, या प्रयोगवैविध्य को जन्म देनेवाले पाठभेदों की चर्चा नहीं की जायेगी। एवमेव, अलग अलग वाचनाओं में दृश्यमान प्राकृत-उक्तियों की प्राकृतभाषा की अनेकरूपता भी चर्चित नहीं की जायेगी।[25] यहाँ तो प्राधान्येन कुछ गद्य संवाद एवं श्लोकों में दिख रहे पाठभेद (जो प्रक्षेप एवं संक्षेप का परिणाम हो सकता है) की चर्चा की जा रही है।

1-1-0 बंगाली वाचना का पाठ प्राचीनतर है, इसी लिए वही पूर्ण रूप से मौलिक भी है ऐसा मान लेना मुश्किल है। तथा देवनागरी वाचना के पक्षधर कतिपय विद्वानों ने जैसे उस (बंगाली) वाचना का पाठ बृहत्पाठ होने मात्र से उसे पूर्ण रूप से प्रक्षेपों से भरा मान लिया है और उसकी नितान्त उपेक्षा की है, वह भी न्यायिक नहीं है। एवमेव, देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में ही संयमपूर्ण एवं व्यञ्जनासभर शृङ्गार निरूपित हुआ है, अत: वही मौलिक हो सकता है-ऐसा दावा करना भी सही नहीं है। निष्पक्ष बात तो वही हो सकती है कि दोनों तरह की वाचनाओं की तुलनात्मक दृष्टि से समीक्षा की जाय, तथा उभयत्र प्रक्षेप-संक्षेपादि के उदाहरण लेकर मूल पाठ के निर्धारण का विवेक उजागर किया जाय।

---

25. इस सन्दर्भ में मेरा शोध-आलेख द्रष्टव्य है:-"शाकुन्तल की प्राकृतविवृत्ति एवं प्राकृतछायाएँ", संबोधि (वॉ 35) एल.डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्डोलॉजी, अहमदाबाद, 2013

1–1–1 बंगाली पाठ में प्रथम अङ्क के आरम्भ में ही तापस की उक्ति के रूप में जिसका प्रक्षेप हुआ है वह श्लोक निम्नोक्त है। मृगयाविहारी राजा दुष्यन्त को वह कहता है कि, भो भो राजन्, आश्रममृगः खल्वयम्।

न खलु न खलु बाणः संनिपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः।
क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशितनिपाताः सारपुङ्खाः शरास्ते।।

1–10

यह श्लोक, निम्न स्तरीय पाठालोचना के अनुसार बंगाली और मैथिली पाठपरम्पराओं में संचरित होकर हम तक आया है और देवनागरी तथा दाक्षिणात्य में भी यह श्लोक सुरक्षित रहा है अतः उसे मौलिक मानने में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु काश्मीरी वाचना में यह श्लोक दिखता नहीं है तथा देवनागरी वाचना के प्रमुख टीकाकार राघव भट्ट ने इस श्लोक पर टीका नहीं लिखी है, इसलिए यह सोचना अनिवार्य बनता है कि यह श्लोक मौलिक होगा या प्रक्षिप्त? बहुसङ्ख्य पाण्डुलिपियों में होना या अन्यान्य टीकाकारों के द्वारा व्याख्यात होना यही एक अन्तिम निर्णायक प्रमाण नहीं हो सकता है। उच्च स्तरीय आलोचना में पाण्डुलिपियाँ एवं टीकाओं के आधार को छोड़ कर कुछ कृतिनिष्ठ साधक-बाधक प्रमाणों पर विचार करना चाहिए। यहाँ नेपथ्योक्ति से एक बार कहा गया है कि भो भो राजन्, आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः। उसके बाद रंगमंच पर सारथि राजा को कहता है कि आपके बाण और कृष्णमृग के बीच में तपस्वी लोग आकर खड़े हैं। तब राजा ने रथ को रोकने की सूचना दी और तपस्वी रंगमंच पर आकर वही नेपथ्योक्ति दुबारा बोलते हैं। यह पुनरुक्ति तो आवश्यक थी कि प्रेक्षकों को मालूम हो जाय कि नेपथ्य में से बोलनेवाले कौन थे। लेकिन वह तापस "न खलु न खलु०" वाला श्लोक बोलकर तीसरी बार भी वही आज्ञा दे कि इस मृग को न मारा जाय, तो वह नाटक में संमान्य नहीं है। इस तापस को मृग के मृदु शरीर की गुजारिश करने की, दया की याचना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि" यह आश्रम का मृग है" इतना ही पर्याप्त है, उसमें ही आज्ञा सुनिहित थी। फिर भी जो कहना था वह तो "तदाशु कृतसंधानम्०" इस अनुगामी श्लोक से कहनेवाला ही है कि राजा के शस्त्र आर्त्र-परित्राण के लिए हैं, अनागस को मारने के लिए नहीं हैं। इस अधिक महत्त्वपूर्ण बात को कहने में कोई पुनरुक्ति नहीं है, किन्तु "न खलु न खलु०" वाले श्लोक में तो नितान्त पुनरुक्ति है, जो नाटक में असह्य होती है। अतः वह श्लोक प्रक्षिप्त ही होगा, और अब काश्मीरी में इस श्लोक का न होना एवं राघवभट्ट के द्वारा व्याख्यात नहीं होना सूचक सिद्ध होता है। उसमें काव्यत्व एवं गेयता होने से उसका संरक्षण होता रहा है, तथा पुष्पराशौ के स्थान में तूलराशौ, और सारपुङ्खा के स्थान में वज्रसाराः जैसे पाठभेद भी प्रविष्ट होते रहे हैं।

1–1–2 बंगाली वाचनानुसारी प्रथमाङ्क के पाठ्यांश में दूसरा प्रक्षेप ऐसा है: दुष्यन्त को चक्रवर्ती पुत्र होने का आशीर्वाद दिया जाता है, उसके बाद तापसों की उक्ति है:– "राजन् समिदाहरणाय प्रस्थितावावाम्। एष चास्मद्गुरोः कण्वस्य साधिदैवत इव शकुन्तलयानुमालिनीतीरम् आश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपातः प्रविश्यात्र गृह्यताम् अतिथिसत्कारः।" यहाँ तापसों के द्वारा, मालिनी नदी के तट पर हमारे गुरु कण्व का आश्रम है–इतनी सूचना देना पर्याप्त था। फिर भी कहा जाता है कि "साधिदैवत इव शकुन्तलया" अर्थात् जिस आश्रम में शकुन्तला मानों अधिदेवता के रूप में विराजमान है, उसमें आप अतिथिसत्कार ग्रहण करने हेतु प्रवेश कीजिये। इस वाक्य में गर्भित रूप से कहा ही गया है कि इस आश्रम में आज शकुन्तला ही मुख्य अधिष्ठात्री के रूप में नियुक्त है।[26] मतलब कि आश्रम में कण्व मुनि की अनुपस्थिति है, यह बात बिना पूछे तापसों ने सामने से बता दी है। अतः इतना सुनने के बाद राजा जब पूछता है कि अथ संनिहितस्तत्र कुलपतिः। तब प्रश्न होता है कि क्या राजा ने "साधिदैवत इव शकुन्तलया" इन शब्दों को सुना ही नहीं था। राजा ने यदि इन शब्दों को सुना होता तो वह कदापि "अथ संनिहितस्तत्र कुलपतिः" ऐसा नहीं पूछता। इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त संवाद में "साधिदैवत इव शकुन्तलया" इतने शब्द प्रक्षिप्त हो सकते हैं। देवनागरी, दाक्षिणात्य एवं काश्मीरी शारदा पाण्डुलिपियों में इन शब्दों का समावेश नहीं है। ये केवल बंगाली और मैथिली वाचना में ही प्रविष्ट हुए हैं।

1–1–3 बंगाली वाचना के पाठ में वाक्यात्मक प्रक्षेप का द्वितीय स्थान: तीनों सखियाँ आश्रम के वृक्षों को जब जलसिञ्चन कर रही हैं तब एक "माधवीलता" का निर्देश आता है। यहाँ विचारणीय बिन्दु यह है कि कण्वाश्रम में स्थित जिन वृक्षों एवं लताओं का निर्देश है, उसमें माधवीलता का समावेश होता है या नहीं तथा शकुन्तला का नवमालिका के प्रति विशेष पक्षपात था, क्या उसी तरह से इस माधवीलता के साथ भी था? बंगाली वाचना से यह पाठ्यांश द्रष्टव्य है:

अनसूया–हला सउन्तले, इअं तादकण्णेण तुमं विअ सहत्थसंवड्ढिदा माहवीलदा। इमं विसुमरिदा सि। (सखि शकुन्तले, इयम् तातकण्वेन त्वमिव स्वहस्तसंवर्धिता माधवीलता। इमां विस्मृतासि।)

शकुन्तला–तदो अत्ताणअं पि विसुमरिस्सं। (लतामुपेत्यावलोक्य च सहर्षम्) अच्छरीअं अच्छरीअं। पिअंवदे, पिअं दे णिवेदेमि। (ततः आत्मानमपि विस्मरिष्यामि। आश्चर्यम्..... आश्चर्यम्.... प्रियंवदे, प्रियं ते निवेदयामि।)

---

26. टीकाकार शेकर ने लिखा है कि–किंभूतम्, शकुन्तलया कण्वकुमारिकया साधिदैवतमिव सर्वत्राश्रमे अधिष्ठात्री देवतास्ति अस्मिन्। शकुन्तलैव देवतेत्यर्थः।। अभिज्ञानशाकुन्तलम् (शंकरनरहरि-कृतव्याख्या-समलंकृतम्), सं. रमानाथ शर्मा झा, मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा, 1957, (पृ. 172)

प्रियंवदा–सहि, किं मे पिअं। (सखि, किं मे प्रियम्।)

शकुन्तला–असमए क्खु एसा आ मूलादो मउलिदा माहवीलदा। (असमये खल्वेषा आमूलात् मुकुलिता माधवीलता।)

उभे–(सत्वरमुपगम्य) सहि, सच्चं सच्चं। (सखि, सत्यं सत्यम्।)

शकुन्तला–सच्चं, किं ण पेक्खध। (सत्यम्। किं न प्रेक्षेथे।)

प्रियंवदा–(सहर्षम् निरूप्य) तेण हि पडिप्पिअं दे णिवेदेमि। आसण्णपाणिग्गहणा सि तुमं। (तेन हि प्रतिप्रियं ते निवेदयामि। आसन्नपाणिग्रहणासि त्वम्।)

शकुन्तला–(सासूयम्) णूणं एस दे अत्तगदो मणोरधो। (नूनम् एषः ते आत्मगतः मनोरथः।)

प्रियंवदा–ण क्खु परिहासेण भणामि। सुदं खु मए तादकण्णस्स मुहादो तुए कल्लाणसूअअं इदं णिमित्तं ति। (न खलु परिहासेण भणामि। श्रुतं खलु मया तातकण्वस्य मुखात्तव कल्याणसूचकम् इदं निमित्तम् इति।)

अनसूया–पिअंवदे, अदो ज्जेव सउन्तला ससिणेहा माहवीलदं सिञ्चदि। (प्रियंवदे, अत एव शकुन्तला सस्नेहा माधवीलतां सिञ्चति।)

शकुन्तला–जदो मे बहिणिआ भोदि तदो किं ति ण सिञ्चिस्सं। (यतः मे भगिनी भवति ततः किमिति न सेक्ष्यामि।) (इति कलशमावर्जयति)

माधवीलता से सम्बद्ध इन संवादों का समावेश केवल बंगाली और मैथिली वाचनाओं में दिखता है। यहाँ दो प्रश्न उपस्थित हो रहे हैं: 1. कण्व मुनि के आश्रम में माधवीलता नामक लता थी या नहीं तथा 2. जैसे प्रियंवदा ने यहाँ कहा है कि शकुन्तला आसन्नपाणिग्रहणा है ऐसा कण्व ने बताया है, तो क्या वस्तुतः ऐसा कहा होगा? विचार करने से लगता है कि ये दोनों बातें प्रक्षिप्त होनी चाहिए। क्योंकि (1) प्रथमांक के वृक्षसिंचनवाले दृश्य में जब शकुन्तला ने पहले कह दिया है कि–हला अनसूये, न केवलं तातनियोगः, ममापि सहोदरस्नेहः एतेषु। (इति वृक्षसेचनं नाटयति)। अर्थात् शकुन्तला के लिए तो आश्रम के छोटे बड़े सभी वृक्ष एवं लतायें सहोदर समान ही हैं, तो फिर कण्व ने अपने हाथों से सम्वर्द्धित की हुई माधवीलता को ही केवल शकुन्तला अपनी "भगिनी" कहे वह उचित नहीं है। इससे पूर्वापर कथन में विरोध आता है। एवञ्च, कवि ने शकुन्तला का विशेष पक्षपात तो नवमालिका लता के प्रति पहले दिखाया है। शकुन्तला ने उसका वनतोषिणी (वनज्योत्स्ना) ऐसा विशेष–नामकरण भी किया है। अतः माधवीलता सम्बद्ध यह संवाद प्रक्षिप्त होने की सम्भावना दिख रही है। किन्तु (अज्ञात) प्रक्षेपकर्ता ने सावधानी भी बरती है। चतुर्थांक में शकुन्तला–विदाई प्रसंग में भी इस माधवीलता का पुनरुल्लेख जोड़ दिया गया है। जैसे कि

शकुन्तला–(स्मृत्वा) ताद, लदावहिणिअं दाव माहविं आमन्तइस्सं। (तात, लताभगिनीं तावत् माधवीमामन्त्रयिष्यामि।)

कण्वः–वत्से, अवैमि ते तस्यां सौहार्दम्। इयं सा दक्षिणे। पश्य।

शकुन्तला–(उपेत्य लतामालिङ्ग्य) लदावहिणिए। पच्चालिङ्ग मं साहामईहिं बाहाहिं। अज्ज पहुदि दूरवत्तिणी खु दे भविस्सं। ताद, अहं विअ इअं तए चिन्तणीआ।

(लताभगिनि, प्रत्यालिङ्ग मां शाखामयैः बाहुभिः। अद्यप्रभृति दूरवर्तिनी खलु ते भविष्यामि। तात, अहमिव इयं त्वया चिन्तनीया।)

कण्वः–वत्से,

सङ्कल्पितं प्रथममेव मया त्वदर्थे
भर्तारमात्मसदृशं स्वगुणैर्गतासि।
अस्यास्तु सम्प्रति वरं त्वयि वीतचिन्तः
कान्तं समीपसहकारमिमं करिष्ये।।

4–15

तदितः पन्थानं प्रतिपद्यस्व।

शकुन्तला–(सख्यावुपेत्य) हला, एसा दोण्णं पि वो हत्थे णिक्खेवो। (सखि, एषा द्वयोः अपि वां हस्ते निक्षेपः।)।

यहाँ दो बातें खटकती हैं:–(1) शकुन्तला ने पतिगृह जाते समय कण्व को इस माधवीलता के बारे में चिन्ता करने की विनती की है और अपनी सहेलियों से भी वही विनती की है। इसमें न केवल पुनरुक्ति है, उसमें पिता द्वारा पहले दिये वचन पर अविश्वास है ऐसा भी सूचित होता है। दूसरा वदतोव्याघात जैसा बिन्दु यह है कि पिता कण्व ने जो वचन श्लोक–15 के माध्यम से कहे हैं वह प्रथमांक में कही गयी बातों से विरुद्ध है। प्रथमांक में शकुन्तला ने ही कहा है कि सहकार वृक्ष के साथ तो नवमालिका का व्यतिकर हो चुका है, उसके बाद अब कण्व कैसे इस माधवीलता को सहकार वृक्ष के साथ विवाहित करेंगे? इस विरोधपूर्ण बात को देखते हुए कहना होगा कि माधवीलता से सम्बद्ध जो वचन प्रथमांक में एवं चतुर्थांक में हैं वह दोनों प्रक्षिप्त हैं। एक तीसरा विचारणीय बिन्दु यह भी है कि माधवीलता के सन्दर्भ में जो "इति कलशमावर्जयति" ऐसी रंगसूचना है, वह भी "इति वृक्षसेचनं नाटयति" से हट कर नये स्वरूप की है। यह भी माधवीलता से सम्बद्ध संवादमाला की प्रक्षिप्तता का सबूत बनता है। (2) जैसे प्रियंवदा बताती है कि शकुन्तला आसन्नपाणिग्रहणा है–ऐसा कण्व ने कहा है, तो यह संवाद भी प्रक्षिप्त इस लिये होगा कि पहले तो तापसों ने दुष्यन्त को ऐसा कहा है कि–इदानीमेव दुहितरम् अतिथिसत्कारायादिश्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। अर्थात् शकुन्तला के सम्भावित प्रतिकूल दैव

के शमन के लिये कण्व तीर्थयात्रा पर चल पड़े हैं। यदि उन्होंने जान लिया है कि शकुन्तला आसन्नपाणिग्रहणा है, तो वे आश्रम से क्यों चल पड़े हैं, यह सवाल पैदा होता है। तथा यह बात उन्होंने अकेली प्रियंवदा को ही क्यों कही थी, ऐसा दूसरा सवाल भी उठता है। महाकवि कालिदास जैसे परिणतप्रज्ञ नाट्यकार से ऐसी परस्पर विसंगतताओं से भरी प्रस्तुति सम्भव ही नहीं है। अतः उसको प्रक्षिप्त मानना ही उचित होगा।

1–1–4 बंगाली वाचना के प्रथमांक के पाठ में प्रक्षेप के उदाहरण देखने के बाद, उसमें कुत्रचित् संक्षेप भी हुआ है उसका भी निरूपण करना चाहिए:

राजा–उपपद्यते,

मानुषीभ्यः कथं नु स्यादस्य रूपस्य संभवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्।।

1–25

(शकुन्तला सव्रीडाऽधोमुखी तिष्ठति)

राजा–(आत्मगतम्) हन्त, लब्धावकाशा मे मनोरथाः।

प्रियंवदा–(सस्मितम् शकुन्तलां विलोक्य) पुणो वि वत्तुकामो विअ अज्जो। (पुनः अपि वक्तुकामः इव आर्यः।) (शकुन्तला सखीमङ्गुल्या तर्जयति।)

राजा–सम्यगुपलक्षितं भवत्या। अस्ति नः सुचरितश्रवणलोभादन्यदपि प्रष्टव्यम्।

प्रियंवदा–तेण हि अलं विआरिदेण। अणिज्जन्तणणिओओ क्खु तवस्सिअणो। (तेन हि अलं विचारितेन। अनियन्त्रणनियोगः खलु तपस्विजनः।)

राजा–एतत्पृच्छामि

वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद् व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव सदृशेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः।।

1–26

प्रियंवदा–अज्ज धम्माअरणपरव्वसो अअं जणो। गुरुणो उण से अणुरूववरप्पदाणे संकप्पो। (आर्य, धर्माचरणपरवशः अयं जनः। गुरोः पुनः अस्याः अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः।)

राजा–(आत्मगतम् सहर्षम्)

भव हृदय साभिलाषं सम्प्रति संदेहनिर्णयो जातः।
आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्।।

1–27

शकुन्तला के जन्म का वृत्तान्त प्रियंवदा से जान लेने के बाद, दुष्यन्त को मालूम हो जाता है कि शकुन्तला राजर्षि विश्वामित्र और अप्सरा मेनका की संतति है। अब दुष्यन्त के

मनोरथों को साकार होने का अवकाश निश्चित है। वह अपने आप को कहता है कि हन्त, लब्धावकाशा मे मनोरथा:। किन्तु इस उक्ति के बाद भी एक गद्य वाक्य था, जो किसी अज्ञात सूत्रधार ने शायद हटा दिया है, संक्षेप कर लिया है। वह वाक्य मैथिली और काश्मीरी वाचनाओं में, तथा देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में सुरक्षित रहा है। जैसे मैथिली में, "किन्तु परिहासोदारं वरप्रार्थनमस्या: श्रुत्वापि, व्रतद्वैतकातरं मे मन:।", उसी तरह से देवनागरी में, "किन्तु सख्या: परिहासोदाहृतां वरप्रार्थनां श्रुत्वा, धृतद्वैधीभावकातरं मे मन:"। नायक ने जान लिया कि शकुन्तला ब्राह्मणकन्या नहीं है, इस लिए उसके मनोरथ को सफल होने का अवकाश है। फिर भी उसका मन द्विधाभाव का अनुभव कर रहा था। शकुन्तला क्या मदनव्यापार को रोकनेवाले वैखानस व्रत का आचरण सदैव करनेवाली है, या फिर वह व्रत विवाह पर्यन्त ही है? इस द्विविधा को प्रकट करनेवाला दूसरा वाक्य बंगाली वाचना में से हटाया गया है। यह द्विविधापूर्ण स्थिति यद्यपि आत्मगत उक्ति के द्वारा रखी गयी है, तथापि उसका मूल पाठ में होना आवश्यक इस लिए लगता है कि जो उत्तरवर्ती संवाद-शृङ्खला है, वह पूर्ण रूप से इस द्विविधा की निवृत्ति के लिए ही प्रस्तुत हो रही है। तथा अन्त में श्लोक–27 से इस द्विविधा का उपशमन भी किया गया है।।

1–2–0 देवनागरी वाचना के पाठ में ही कालिदासीय कवित्व का संस्पर्श है–ऐसा मानना आत्मलक्षिता से भरा है, एवं तुलनात्मक अभ्यास के अभाव का परिणाम है। सुप्रचलित एवं बहुव्याख्यात होते हुए भी देवनागरी वाचना का पाठ मौलिकता से दूर हट गया है क्योंकि उसमें बहुश: संक्षिप्त किया गया पाठ ही संचरित हुआ है, और कुत्रचित् उसमें भी प्रक्षिप्तांश मिलते हैं। इसकी उच्च स्तरीय पाठालोचना करना अनिवार्य है।

1–2–1 देवनागरी वाचना में प्रथमांक के पाठ में प्रक्षेप का उदाहरण:कृष्णमृगानुसारी राजा दु:षन्त / दुष्यन्त के मार्ग में बीच में आकर वैखानस कहता है भो राजन्, आश्रममृगोऽयम्, न हन्तव्यो न हन्तव्य:। तब राजा ने अपना बाण वापस ले लिया। इससे प्रसन्न हुए वैखानस ने राजा को आशीर्वाद दिया कि–

सदृशमेतत् पुरुवंशप्रदीपस्य भवत:।
जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि।।

(1–11)

इसके पश्चात्, वैखानस के साथ आये हुए दोनों शिष्यों ने अपने हाथ उठा कर उसी आशीर्वाद का अनुवाद करते हुए कहा है–सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि।। यहाँ देवनागरी वाचना के पाठ में स्पष्ट रूप से पुनरुक्ति हो रही है। जो आशीर्वचन वैखानस ने दिये हैं उसका दृढीकरण करनेवालों का दरजा मात्र शिष्य का है। अत: उसका औचित्य कितना? इससे प्रतीत होता है कि यहाँ कुछ अंश प्रक्षिप्त एवं परिवर्तित हुआ है। इसका समाधान

बंगाली वाचना में होता है। बंगाली पाठ में रंगमंच पर केवल दो तापस ही आते हैं और उनमें से एक ही तापस ने आशीर्वचन कहे हैं। दूसरे तापस ने उसकी पुनरुक्ति नहीं की है। वहाँ पर उपर्युक्त श्लोक भी नहीं आता है। तापस ने केवल गद्य वाक्य में ही आशीर्वाद दिये हैं। हाँ, इतना जरूर कहना चाहिए कि देवनागरी वाचनानुसारी प्रस्तुति में दृश्य की अभिनेयता बढ़ जाती है। शायद इसी लिये किसी सूत्रधार की प्रतिभा ने पूर्वोक्त श्लोक का प्रक्षेप करवाया होगा।

1–2–2 प्रथमाङ्क में श्लोक का संक्षेप: (बंगाली वाचनानुसार) कण्व मुनि के आश्रम के पास पहुँचते ही राजा ने यह तपोवन का भाग है ऐसा सारथि को बताते हुए निम्नलिखित दो श्लोकों में उसका वर्णन किया है–

नीवाराः शुककोटरार्भकमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दलेखाङ्किताः।।

1–13

अपि च–

कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूला
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन
एते चार्वागुपवनभुवि च्छिन्नदर्भाङ्कुरायां
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति।।

1–14

श्री पी. एन. पाटणकर के द्वारा संपादित शकुन्तल में दोनों श्लोक यथावत् मान्य किये गये हैं। किन्तु राघवभट्ट ने शाकुन्तल के जिस पाठ पर टीका लिखी है वह (अति)संक्षिप्त किया गया पाठ है। उस पाठ में "अपि च" से सम्बद्ध किया गया कुल्याम्भोभिः० वाला दूसरा श्लोक हटाया गया है। अर्थात् इस श्लोक पर राघवभट्ट ने टीका ही नहीं लिखी है। इस श्लोक को यदि मौलिक मानते हैं तो उसको हटाने का कारण यही हो सकता है कि मंचन के दौरान समय-मर्यादा को, अथवा नट की स्मृति-मर्यादा को ध्यान में रखते हुए उसे काटा जा सकता है। यदि इस श्लोक को मौलिक नहीं मानते हैं तो उसका क्या प्रमाण हो सकता है, वह सोचना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि प्रथम श्लोक में" विश्वासोपगमाद् अभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः" कहा गया है, तथा दूसरे श्लोक में भी "नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति" बताया जाता है। इन दोनों वर्णनों में पुनरुक्ति है, जो नाटक जैसी समयबद्ध कला में असह्य होती है। कालिदास जैसे नाट्यकार शाकुन्तल में कहीं भी पुनरुक्ति नहीं

करते हैं उसमें दो मत नहीं है। इस दृष्टि से, "अपि च" से सम्बद्ध[27] दो श्लोकों में से एक प्रक्षिप्त होने की सम्भावना हमें स्वीकारनी चाहिये।

1-2-3 प्रथमांक में संक्षेप का एक अन्य स्थान भी दृष्टिगोचर हो रहा है: शकुन्तला ने जो वल्कल धारण किये हैं उस सन्दर्भ में बंगाली वाचना में, निम्नोक्त संवाद-शृङ्खला प्राप्त होती है:

राजा–(आत्मगतम्) कथमियं सा कण्वदुहिता शकुन्तला। (सविस्मयम्) अहो असाधुदर्शी तत्रभवान् कण्वो य इमां वल्कलधारणे नियुङ्क्ते।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्लमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।।

1-17

भवतु, पादपान्तरितो विश्वस्तां तावदेनां पश्यामि। (इत्यपवार्य स्थितः)

शकुन्तला–हला, अणुसूए, अदिपिणद्धेण एदिणा वक्कलेण पिअंवदाए दढं पीडिद म्हि। ता सिढिलेहि दाव णं। (अनसूया शिथिलयति), (सखि अनसूये, अति पिनद्धेनैतेन वल्कलेन प्रियंवदया दृढं पीडितास्मि। तत् शिथिलय तावदेनम्।)

प्रियंवदा–(विहस्य)–एत्थ दाव पओहरवित्थारइत्तअं अत्तणो जोव्वणारम्भं उवालहसु।

(अत्र तावत् पयोधरविस्तारयितृकमात्मनो यौवनमुपालभस्व।)

राजा–सम्यगियमाह–

इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।
वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण।।

1-18

अथ वा काममप्रतिरूपमस्य वयसो वल्कलं न पुनरलङ्कारश्रियं न पुष्णाति। कुतः

सरसिजमनुबिद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।। 1-19

27. इस सन्दर्भ में मेरा एक लेख द्रष्टव्य है–अभिशाकुन्तल में अपि च से सम्बद्ध प्रक्षेप एवं संक्षेप की पहचान। "धीमहि", (वॉ-3) सं. दिलीपकुमार राणा, चिन्मय इन्टरनेशनल फाउन्डेशन शोध संस्थान, एरनाकुलम्, 2012, पृ. 76 से 89

अपि च

कठिनमपि मृगाक्ष्या वल्कलं कान्तरूपं
न मनसि रुचिभंगं स्वल्पमप्यादधाति।
विकचसरसिजायाः स्तोकनिर्मुक्तकण्ठं
निजमिव कमलिन्याः कर्कशं वृन्तजालम्।। 1–20

यहाँ टीकाकार चन्द्रशेखर ने बंगाली पाठानुसारी उपर्युक्त चारो श्लोकों पर टीका लिखी है। किन्तु इसके विपरीत राघवभट्ट द्वारा जिस पर टीका लिखी गयी है वहाँ दो ही (पहला और तीसरा) श्लोक हैं। अत: चर्चा करना आवश्यक हो जाता है कि बंगाली पाठ्यांश में प्रक्षेप है या फिर देवनागरी पाठ में संक्षेप हुआ है? यहाँ सब से पहले कालिदास के "अथवा" निपात के प्रयोग का स्वारस्य विचारणीय है। कालिदास जब एक विचार की प्रस्तुति करते हैं और वहाँ तर्क की दृष्टि से प्रतिपक्ष में भी कोई विरोधी विचार प्रस्ताव के योग्य हो तो उसको तुरन्त "अथवा" निपात से अवतारित कर ही देते हैं। उदाहरण के रूप में–क्व सूर्यप्रभवो वंश:, क्व चाल्पविषया मति:। इत्यादि (रघुवंशम् 1–2) लिखने के बाद तो, काव्यसर्जन के लिये उद्यत हुए कवि को उस कर्म से विरत ही हो जाना चाहिए। लेकिन हमारे कवि यहाँ तुरन्त "अथवा" निपात का प्रयोग करते हुए पक्षान्तर को प्रस्तुत कर देते हैं कि–अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभि:। मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गति:। (रघुवंशम् 1–4) इस तरह से, सूर्यवंश अतिमहान् होते हुए भी उनके द्वारा रघुवंश का वर्णन कैसे सम्भव है वह लिख देते हैं।[28]

(बंगाली पाठ के अनुसार) शकुन्तला की सहेलियों के ऐसे उपर्युक्त संवाद को सुन कर वृक्ष के पीछे खड़े दुष्यन्त ने दो (18 एवं 19) श्लोकों का उच्चारण किया है और इन दोनों के बीच में "अथवा" निपात का विनियोग किया है। श्लोक–18 में पहले कहा गया है कि स्तन–युगल के विस्तार को वल्कल से बाँधा गया है, जिससे शकुन्तला का अभिनव शरीर उसी प्रकार अपनी निजी शोभा को नहीं बढाता है जैसे पाण्डु पर्णों के अन्दर बाँधे गये पुष्प शोभा नहीं देते हैं। इतना कह देने के बाद नायक को अपने विचार में रहा एक सूक्ष्म दोष भी दिखायी देता है। अभी जो कहा गया है उसका मतलब तो यही होगा कि शकुन्तला के सौन्दर्य को निखारने के लिए वल्कल नहीं, किन्तु कुछ अन्य वस्त्र होने चाहिए। नायक तुरन्त अपने वाग्दोष को सुधारने के लिए, (स्वोक्तिम् आक्षिपति–अथवेति।) "अथ वा" शब्द का प्रयोग करता हुआ, इस सन्दर्भ में पक्षान्तर प्रस्तुत करता है कि शकुन्तला के वल्कल भी उसकी शोभा नहीं बढ़ाते है ऐसा नहीं है। क्योंकि जो मधुर आकृतिवाले लोग होते हैं उनको तो सब कुछ अच्छा ही लगता है। इस तरह से पूरे नाटक में, जहाँ जहाँ पर

28. टीकाकार चन्द्रशेखर ने ऐसे सन्दर्भों के लिए लिखा है कि–स्वोक्तिम् आक्षिपति–अथवेति।

अमुक विचार को प्रस्तुत करने के बाद पक्षान्तर में दूसरा विचार भी कहना तर्क की दृष्टि से अनिवार्य लगता है कवि ने वहाँ अथवा का प्रयोग किया ही है। अर्थात् "अथवा" निपात से अवतारित किये दो दो श्लोकों का (बंगाली पाठ में) जो भी सन्दर्भ है उसके मौलिक होने की सम्भावना अधिक है। देवनागरी (एवं दाक्षिणात्य) वाचना के पाठ को संक्षिप्त करनेवालों ने ऐसे "अथवा" निपात से जुड़े दो दो श्लोकवाले सन्दर्भों को ही कटौती करने के लिए प्राय: पसन्द किया है। राघवभट्ट के द्वारा स्वीकृत पाठ में उपर्युक्त श्लोक-18 इसी कारण से नहीं मिलता है। तथा "अथवा" से शुरू होनेवाली (बंगाली वाचना के पाठ की) वाक्य-रचना भी बदल दी गयी है। इस तरह से देवनागरी में इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना०। श्लोक का न होना संक्षेपीकरण का परिणाम है ऐसा सिद्ध होता है।

सरसिजमनुबिद्धं ...। श्लोक के नीचे जो कठिनमपि ...। श्लोक है, उसे "अपि च" निपात से बाँधा गया है। लेकिन यहाँ सरसिजम्० श्लोक से जो विचार प्रस्तुत किया गया है उसी का पुनरुच्चार दूसरे शब्दों में किया जा रहा है। अत: नाटक में, (वह भी शाकुन्तल जैसे कालिदास के नाटक में) पुनरुक्ति रूप संवाद प्रक्षिप्त होने की पूरी सम्भावना है। टीकाकार चन्द्रशेखर ने भी इस कठिनमपि... वाले श्लोक (1-20) के लिए कहा है कि-पद्यमिदं दाक्षिणात्य-तीरभुक्तीयग्रन्थेषु न दृश्यते। तीरभुक्तीय अर्थात् मैथिली पाठ में, एवमेव देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में भी वह श्लोक संचरित नहीं हुआ है। इससे भी इस श्लोक का मौलिक न होना सिद्ध हो जाता है। इस श्लोक को बंगाली पाठ में प्रक्षिप्त मानना होगा।

1-2-4 देवनागरी वाचना के पाठ में संक्षेप किये हुए स्थानों के उदाहरण: अभिज्ञानशाकुन्तल में कुत्रचित् वर्णनात्मक स्थान हैं, वहाँ पर दो दो श्लोकों को समुच्चयार्थक "अपि च" अव्यय से सम्बद्ध किया गया है। लेकिन ऐसे स्थान प्रक्षेप एवं संक्षेप के सम्भवित स्थान भी हैं। अत: शाकुन्तल में प्रयुक्त इस समुच्चयार्थक "अपि च" के प्रयोग का स्वारस्य सर्व प्रथम गवेषणीय बनता है। उदाहरण के रूप में भ्रमरबाधा प्रसंग को हम लेते है। यहाँ पर बंगाली एवं मैथिली वाचना में "अपि च" से सम्बद्ध किये गये दो श्लोक हैं:

"राजा-(सस्पृहम्)

यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते, ततस्ततः प्रेरितवामलोचना।
विवर्तितभ्रूरियमद्य शिक्षते भयादकामापि हि दृष्टिविभ्रमम्।।

1-22

अपि च-(सासूयमिव)

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।

करं व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान् मधुकर, हतास्त्वं खलु कृती।।

1–23

इन शब्दों से वर्णित भ्रमरबाधा प्रसंग में, पहले (22) श्लोक में भ्रमर से सन्त्रस्त हो रही शकुन्तला का चित्र खींचा गया है।[29] तत्पश्चात् दूसरे (23) श्लोक में शकुन्तला के मुखारविन्द पर घूम रहे ईर्ष्याजनक भ्रमर का चित्र खींचा गया है।[30] यहाँ एक ही दृश्य की द्विपार्श्वी रमणीयता को दो अलग अलग श्लोकों में वर्णित करने की आवश्यकता है। अतः कालिदास ने यहाँ समुच्चयार्थक "अपि च" का प्रयोग करके इन दोनों को परस्पर बाँधा है। नायक के द्वारा भ्रमरबाधा प्रसंग के प्रथम क्षण में नायिका के लोचन का सौन्दर्य प्रेक्षणीय है और इसीलिये कवि ने भी "सस्पृहम्" ऐसी रंगसूचना लिखी है। दूसरे क्षण में, नायक के मन में भ्रमर के प्रति प्रतिस्पर्धी का भाव जाग उठता है, इस लिए उस भाव को भी अभिव्यक्त करने के लिए "अपि च" से दूसरे श्लोक का अवतार किया जाता है। वहाँ पर "सासूयम्" ऐसी रंगसूचना दी जाती है। यहाँ दोनों श्लोकों में दृष्टिकोणों का ही भेद होने से उसमें पुनरुक्ति का कोई अवकाश ही नहीं है। अतः दो श्लोकों से प्रस्तुत हुआ यह वर्णन मूलगामी पाठ हो सकता है, जो बंगाली एवं मैथिली वाचना में संचरित होता रहा है। लेकिन समय–मर्यादा की बाधा से पीडित सूत्रधारों ने उन दोनों में से पहले श्लोक को हटा दिया होगा। परिणामतः देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना की पाठपरम्परा ने केवल चलापाङ्गां० वाला श्लोक ही सुरक्षित रखा है।

"अपि च" से सम्बद्ध दो दो श्लोकवाले वर्णन में यदि पुनरुक्ति दिखती है तो वह प्रक्षेप का स्थान हो सकता है। किन्तु यदि एक ही दृश्य में द्विपार्श्वी रमणीयता वर्णित करने का सन्दर्भ दिखता है तो वहीं पर दोनों श्लोक मौलिक हो सकते हैं और अनुगामी काल में सूत्रधारों द्वारा उनमें से किसी एक को हटा कर संक्षेप किया गया होगा–यह बात भी निश्चित है।

1–2–5 देवनागरी वाचना के पाठ में कटौती का एक अन्य उदाहरण प्रथमांक के समापन प्रसंग में मिल रहा है। राजा ने शकुन्तला को "तत्त्वतः" जान लिया है कि वह उसके (क्षत्रिय के) लिए विवाह–योग्य है। अब दूसरा विचारणीय बिन्दु यह है कि वह उसको पसन्द करती है या नहीं? इस सन्दर्भ में दुष्यन्त ने निम्नोक्त श्लोक कहा है:

राजा–(शकुन्तलां विलोकयन्नात्मगतम्) किं नु खलु यथा वयमस्यामेवमियमप्यस्मान् प्रति स्यात्। अथवा लब्धावकाशा मे मनोवृत्तिः।

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यवहिता मयि भाषमाणे।

29. यह श्लोक वंशस्थविल वृत्त में लिखा गया है।

30. यह श्लोक शिखरिणी वृत्त में लिखा गया है।

कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीयं
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः।।

1–30

इस तरह के इङ्गितों से निर्णय हो पाता है कि शकुन्तला भी नायक को चाहती है, तब प्रथमांक का प्रयोजन पूरा हो जाता है। कवि को अब इस अङ्क की समाप्ति कर देनी चाहिए (किसी निमित्त से सभी पात्रों को रंगमंच से विदा कर देना चाहिए) ऐसा समझ कर शिकार के निमित्त से दौड़ आये राजा और सारथि से जो अङ्क शुरू किया था, उसी सन्दर्भ का अनुसन्धान करते हुए निम्नोक्त क्रम से समापन किया जाता है:

(नेपथ्ये)

भो भोस्तपस्विनः। तपोवनसन्निहितसत्त्वरक्षणाय सज्जीभवन्तु भवन्तः। प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुःषन्तः।

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुर्विटपनिषक्तजलार्द्रवल्कलेषु।
पतति परिणतारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु।।

1–31

राजा–(स्वगतम्) अहो धिक्, कथं मदन्वेषिणः सैनिकास्तपोवनमभिरुन्धन्ति।

(पुनर्नेपथ्ये)

भो भोस्तपस्विनः। पर्याकुलीकुर्वन् वृद्धस्त्रीकुमारकान् एष प्राप्तः।

तीव्राघातादभिमुखतरुस्कन्धभग्नैकदन्तः
प्रौढाकृष्टव्रततिवलयासञ्जनाज्जातपाशः ।
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो
धर्मारण्यं विरुजति गजः स्यन्दनालोकभीतः।।

1–32

(सर्वाः श्रुत्वा ससंभ्रममुत्तिष्ठन्ति।)

राजा–अहो धिक्, कथमपराद्धस्तपस्विनामस्मि। भवतु तावत्, प्रतिगच्छामि।

सख्यौ–महाभाअ, इमिणा हत्थिसंभमेण पज्जाउलाओ म्ह। ता अणुजाणाहि णो उडअगमणे। (महाभाग, अनेन हस्तिसंभ्रमेण पर्याकुलाः स्मः। तदनुजानीहि नः उटजगमने)

अनसूया–(शकुन्तलां प्रति) हला सउन्तले, आउला अज्जा गोदमी भविस्सदि। ता एहि। सिग्धं एक्कत्थाओ होम्ह। (सखि शकुन्तले, आकुला आर्या गौतमी भविष्यति। तदेहि शीघ्रम् एकास्थाः भवामः।)।।

मृगयाविहारी राजा तीव्र वेग से दौड़ते मृग का अनुसरण करता हुआ कण्वाश्रम तक

पहुँचा और भाग्यवशात् शकुन्तला में अनुरक्त भी हुआ। किन्तु वह मृगया विहार के लिए सेनापति सहित सैन्य भी साथ में लेकर निकला था। अतः वह सैन्य राजा का अनुसरण करता हुआ, बल्कि राजा का अन्वेषण करता हुआ अब कण्व के आश्रम के पास पहुँच रहा है। यहाँ जो संवाद-शृङ्खला प्रस्तुत हुई है वह मननीय है। उसमें भाव-प्रतिभाव की जो आनुक्रमिकता है वह दुष्यन्त का एक अच्छे संवेदनशील व्यक्ति के रूप में परिचय देनेवाली है। किसी आश्रमवासी ने दूर से देखा है कि दुष्यन्त का सैन्य आश्रम की ओर आगे बढ़ रहा है। उसने (नेपथ्योक्ति से) तपस्वियों का आह्वान किया है कि आश्रम के पशुओं की रक्षा के लिए सब सन्निहित हो जायें। सैन्य के घोड़ों की खुर से आहत हुई धूलि चारों ओर उड़ रही है और भीगे वल्कल वस्त्रों पर वह गिर रही है, ऐसा श्लोक 31 में कहा जाता है। इसको सुनते ही दुष्यन्त ने प्रतिभाव व्यक्त किया कि मुझे ढूँढते हुए आ रहे मेरे सैनिक क्या तपोवन को घेरे डाल रहे हैं? तब फिर से नेपथ्य से कहा जाता है कि-वृद्ध, स्त्री और छोटे बालकों को पर्याकुलित करता हुआ कोई हस्ती भी भागता हुआ वहाँ आ रहा है। उस हाथी की घबराहट का कारण भी कहा जाता है कि राजा के रथ को देख कर वह डरा हुआ है।[31] इस वाक्य को सुन कर शकुन्तलादि स्त्रियाँ संभ्रम के साथ एकदम खड़ी हो जाती हैं, लेकिन राजा को एक क्षण में मालूम हो जाता है कि उसने तपस्वियों का अपराध कर दिया है। यह उसकी संवेदनशीलता का परिचायक है। किन्तु जो देवनागरी वाचना का पाठ है वह संक्षेपीकरण के दोष से दूषित हो गया है, जिसमें नायक उपर्युक्त दोनों श्लोकों को सुनने के बावजूद भी कोई संवेदना का अनुभाव नहीं दिखाता है। देवनागरी वाचना के पाठ में पूर्वोक्त दोनों श्लोक सुरक्षित रखे गये हैं। किन्तु इनके आगे पीछे जो गद्य वाक्य है उसमें कटौती और परिवर्तन किया गया है जिसके कारण यह अन्तिम अंश भाव-प्रतिभाव के प्रदर्शन की नाटकीयता से दूर हट जाता है। उपर्युक्त बंगाली पाठ से तुलना करने के लिए निम्नोक्त देवनागरी पाठ द्रष्टव्य है:-

(नेपथ्ये) भो भोस्तपस्विनः, संनिहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत। प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः।

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुर्विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु।
पतति परिणतारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु।।

(राघवभट्टः, 1-28)

अपि च-

तीव्राघातप्रतिहततरुः स्कन्धलग्नैकदन्तः
पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाशः ।

---

31. धर्मारण्यं विरुजति गजः स्यन्दनालोकभीतः।

मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो
धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः।।

(राघवभट्टः, 1–29)

(सर्वाः कर्णं दत्वा किंचिदिव संभ्रान्ताः।)

राजा–(आत्मगतम्) अहो धिक्। पौरा अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपरुन्धन्ति। भवतु, प्रतिगमिष्यामस्तावत्।

यहाँ दोनों श्लोकों को "अपि च" से बाँधा है, लेकिन उन दोनों के बीच में नायक का प्रतिभाव व्यक्त करनेवाले वाक्यों की कटौती कर देने से उसका संवेदनशील व्यक्तित्व प्रकट नहीं हो पाता है। यह संक्षेपीकरण का दुष्परिणाम है, जो संक्षेपीकरण मानने का आधार भी है।

1–2–6 देवनागरी वाचना के पाठ में संक्षेपीकरण का एक अन्तिम उदाहरण शकुन्तला के निर्गमन प्रसंग में मिल रहा है:–राजा ने जब कहा कि आप सब के दर्शन से ही मैं पुरस्कृत हुआ हूँ, अतः मुझसे क्षमायाचना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तीनों सहेलियाँ साथ में रंगमंच से निकल रही हैं, तब शकुन्तला कहती है कि

अहिणवकुससूइपरिक्खदं मे चलणं कुरुवअसाहापरिलग्गं च मे वक्कलं। ता पडिवालेध मं जाव णं मोआवेमि।।

(अभिनवकुशसूचिपरिक्षतं मे चरणं कुरबकशाखापरिलग्नं मे वल्कलम्। तावत् प्रतिपालयतम् माम् यावत् एनं मोचयामि।) इसके बाद रंगसूचना है–इति राजानमवलोकयन्ती सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता।। इस बंगाली पाठ में शकुन्तला के वाचिक संवाद के साथ साथ रंगसूचना भी रखी गयी है। किन्तु देवनागरी वाचना के पाठ में शकुन्तला के वाचिक संवाद को हटा कर, केवल रंगसूचना दी गयी है। जैसे कि "शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता"। इस परिवर्तन से वाचिक उक्ति का संक्षेप किया गया है। यहाँ, देवनागरी वाचना में, केवल अभिनयन से ही नायिका ने दुष्यन्त के प्रति अनुराग प्रदर्शित किया है।

अभिज्ञानशाकुन्तल के मूल पाठ में से अनेक श्लोक एवं गद्य वाक्यों को काट कर देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में संक्षेपीकरण किया गया है। यद्यपि इसमें प्रथम दृष्टि से तो, मंचन के दौरान मर्यादित समय की पाबंदी दृष्टिगोचर हो रही है। किन्तु ऐसा करने से नाटक के मूल पाठ में विचार की जो प्रवाहिता होती है वह खण्डित होती है और उससे कदाचित् नायक आदि के व्यक्तित्व का सही चित्र भी दूषित हो जाता है, जो प्रकट रूप से काव्य को हानि पहुँचाता है।

कालिदास ने अपने काव्यों में अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट स्वरूप विकसित करते

हुए "अथवा" निपात का जो प्रयोग किया है उसका स्वारस्य समझ लेने से ऐसे संक्षेपों को पहचाना जाता है। एवमेव, बंगाली वाचना का जो पाठ लम्बा होते हुए भी मौलिकता के नजदीक है। उसमें भी कुत्रचित् प्रक्षेप होने के कारण वह भी मौलिकता से दूर हटता जा रहा है। ऐसी स्थिति में, "अपि च" जैसे निपातों के प्रयोग का स्वारस्य ढूँढने से / सोचने से ऐसे प्रक्षेपों की पहचान की जा सकती है।

2–1–1 बंगाली पाठानुसारी द्वितीयाङ्क के एक प्रासंगिक एवं बहुत सुन्दर श्लोक का संक्षेप देवनागरी में किया गया है: राजा के साथ आया विदूषक मृगयाविहार से सन्त्रस्त है और घर वापस जाने के लिए बड़ा उत्सुक है। उसे शकुन्तला विषयक बातचीत में कोई दिलचस्पी नहीं है। अत: वह राजा की प्रेमाविष्ट दशा पर रोक लगाना चाहता है। वह राजा को कहता है कि–चूँकि वह (शकुन्तला) एक तपस्वी की (अर्थात् ब्राह्मण की) कन्या है, इस लिए आपके लिए तो अभ्यर्थनीय नहीं हो सकती है। तो फिर उसे देखने से क्या फायदा? अब उसके प्रत्युत्तर में राजा ने जो कहा है वह बहुत सतर्क है एवं नायक की सौन्दर्यनिष्ठ दृष्टि का परिचायक है। इस प्रसंग से सम्बद्ध बंगाली वाचना का पाठ निम्नोक्त है:

विदूषकः–(स्वगतम्) भोदु। ण से पसरं वड्ढाइस्सं। (प्रकाशम्) भो जदो सा तावस-कण्णआ अणब्भत्थणीआ, तदो ताए किं दिट्ठाए। (भवतु, नास्य प्रसरं वर्धयिष्यामि। भो: यत: सा तापसकन्यका अनभ्यर्थनीया, ततः तया किं दृष्टया।)

राजा–मूर्ख,

निराकृतनिमेषाभिर्नेत्रपङ्क्तिभिरुन्मुखः ।
नवामिन्दुकलां लोकः केन भावेन पश्यति।।

2–8

न च परिहार्ये वस्तुनि दु:षन्तस्य मन: प्रवर्तते।

विदूषकः–ता कधेहि। (तत्कथय।)

राजा–

ललिताप्सरोभवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम्।।

2–9

यहाँ राजा ने शकुन्तला तापसकन्या होने से अभ्यर्थनीय न हो तो भी, वह सौन्दर्यशालिनी होने से भी द्रष्टव्य तो है ही उसका बहुत प्रतीतिकर तर्क श्लोक 2–8 में प्रस्तुत किया है। नवीन इन्दुकला भी कदापि प्राप्य नहीं होती है, फिर भी संसार के सभी लोग उसे अति स्पृहणीय समझ कर ही निरन्तर देखते रहते हैं। उसी तरह से शकुन्तला भी तापसकन्या होने

के कारण यदि अभ्यर्थनीय न हो तो भी निश्चित रूप से द्रष्टव्य तो है ही। दुष्यन्त ने एक दृष्टान्त के माध्यम से सिद्ध कर दिया कि सौन्दर्यशालिनी होने मात्र से स्पृहणीय एवं अभ्यर्थनीय है। किन्तु दृष्टान्त में इन्दुकला रूप एक चीज ऐसी है जिसकी स्पृहा करना सब के लिये मान्य है, लेकिन दार्ष्टान्तिक के रूप में रही शकुन्तला तो ऐसी कोई चीज नहीं है कि जिसकी स्पृहा कोई भी कर सकता है। शकुन्तला जैसी मनुलता को प्राप्त करने के लिये धर्म की अनुज्ञा भी होनी अनिवार्य है। इस लिए राजा ने "ललिताप्सरसंभवम्०" इत्यादि शब्दों से वह शकुन्तला दुष्यन्त जैसे क्षत्रिय से विवाह के योग्य भी है यह स्पष्ट किया है।। अर्थात् बंगाली वाचना का पूरा पाठ्यांश शकुन्तला की अभ्यर्थनीयता को उभयथा सिद्ध करता है, अतः मौलिक प्रतीत होता है। लेकिन देवनागरी (और दाक्षिणात्य) पाण्डुलिपियों की परम्परा में" निराकृतनिमेषाभिः०" (श्लोक-8) हटाया गया है। तथा इस प्रसंग के पाठ्यांश का नवीन संस्कार करके इस तरह से अवतारित किया गया है:

(राघवभट्टानुसारी देवनागरी पाठ)

विदूषकः–(स्वगतम्) होदु, से अवसरं ण दाइस्सं। (प्रकाशम्) भो वअस्स, ते तावसकण्णआ अब्भत्थणीआ दीसदि। (भवतु, अस्यावसरं न दास्ये। भो वयस्य, ते तापसकन्यकाभ्यर्थनीया[32] दृश्यते।)

राजा–सखे, न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते।

सुरयुवतिसंभवं[33] किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।

अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम्।। (2-8)

यहाँ पर निराकृतनिमेषाभिः० वाला श्लोक हटा कर, मूल पाठ का संक्षेपीकरण किया गया है। किन्तु ऐसा पाठ बनाने से राजा ने विदूषक को शकुन्तला की जो अभ्यर्थनीयता सिद्ध करने के लिए कहा है, वह अपर्याप्त दिखता है। क्योंकि दर्शकों को याद होगा कि राजा ने पहले विदूषक को ऐसा कहा था कि यदि तुम ने शकुन्तला को नहीं देखा है तो तुम्हें आँखें होने का कोई फल मिला ही नहीं है। अर्थात् "आश्रमललामभूता" शकुन्तला तो एक नवीन इन्दुकला समान है। जो न केवल विदूषक को, लेकिन सब को अवश्य देखनी चाहिए। अतः राजा के मूल प्रस्ताव को याद किया जायेगा तो देवनागरी पाठ की अपूर्णता साफ दिखायी देगी।

---

32. बंगाली पाठ में "अनभ्यर्थनीया" शब्द था, उसके स्थान पर देवनागरी में "अभ्यर्थनीया" ऐसा पाठभेद किया गया है।

33. बंगाली पाठ में "ललिताप्सरसंभवम्" शब्द के द्वारा ललित अप्सरा (मेनका) में पैदा हुई मुनि (विश्वामित्र) की पुत्री के रूप में शकुन्तला की पहचान दी गयी है। लेकिन देवनागरी में "सुरयुवतिसंभवम्" शब्द के द्वारा देवों की वाराङ्गना (मेनका) में पैदा हुई–ऐसा कहा जाता है, जिसमें सुरुचि का भङ्ग हो रहा है। इससे भी देवनागरी पाठ विकृति का परिणाम है ऐसा सिद्ध होता है।

3–1–0 अभिज्ञानशाकुन्तल की विभिन्न वाचनाओं में तृतीयांक का पाठ ही सब से अधिक विवादास्पद है। लघुपाठ परम्परा में, अर्थात् देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में तीसरे अङ्क का कलेवर 21 से 23 या 24 श्लोक पर्यन्त सीमित है। बृहत्पाठ परम्परा में, अर्थात् बंगाली वाचना के पाठ में तीसरे अङ्क का कलेवर 40 से 41 श्लोक पर्यन्त सुविकसित स्वरूप वाला है। अत: यह गवेषणीय बनता है कि कालिदास–प्रणीत मूल पाठ में सूत्रधारों के द्वारा कुछ नये श्लोकों का प्रक्षेप किया गया होगा, या मूलत: पाठ प्रलम्ब ही था और अज्ञात सूत्रधारों ने मंचन के दौरान उसमें संक्षेप करके लघुपाठ बनाया है, जो देवनागरी पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ है?।

यद्यपि डॉ० दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने बंगाली वाचना का पाठ ही प्राचीनतर (10वीं शती का) है ऐसा सिद्ध किया है और इसी कारण से वही पाठ अधिक श्रद्धेय मानना उपयुक्त समझा है,[34] किन्तु पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ कोई भी पाठ अन्यान्य प्रमाणों से प्राचीनतर सिद्ध होने मात्र से उसको ही सब से अधिक श्रद्धेय मान लेना सर्वथा उचित नहीं है। बंगाली वाचना के समीक्षित पाठ में भी, उच्चतर समीक्षा करने से अनेक प्रक्षेप मिल सकते हैं और कुत्रचित् उसमें संक्षेप भी दिखते हैं जिसकी चर्चा निम्नोक्त पृष्ठों में की जाती है।

3–1–1 तृतीयाङ्क के बंगाली वाचनानुसारी पाठ में जो जो प्रक्षेप हैं इनका क्रमश: निरूपण किया जाता है: अङ्क के आरम्भ में दुष्यन्त का प्रवेश होता है। नायक मदनावस्था में है ऐसा कहा गया है, इस स्थिति में वह कुल मिला कर नव श्लोकों से भरा संवाद प्रस्तुत करता है। इनमें से दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं ऐसा कृति के आन्तरिक प्रमाणों से सिद्ध होता है। जैसे–

दुष्यन्त:–भगवन् मन्मथ, कुतस्ते कुसुमायुधस्य सतस्तैक्ष्ण्यमेतत्। (स्मृत्वा) आं ज्ञातम्।

अद्यापि नूनं हरकोपवह्निस्त्वयि ज्वलत्यौर्व इवाम्बुराशौ।
त्वमन्यथा मन्मथ मद्विधानां भस्मावशेष: कथमेवमुष्ण:।। (3–3)

इस श्लोक में शङ्कर के कोप से मन्मथ (कामदेव) भस्मावशेष हुआ था ऐसा कुमारसम्भवोक्त सन्दर्भ अनुस्यूत है। अत: यह श्लोक कालिदास–प्रणीत होने की सम्भावना दिखती है। किन्तु इसी अङ्क में हम जैसे जैसे आगे बढ़ते हैं तो इसी तरह का एक दूसरा श्लोक भी दृष्टिगोचर होता है:

34. One must not think in terms of what is truly Kalidasian or non-Kalidasian, but what the anthologists, poeticists, & literature of India cite from the text of Kalidasa. If evidences testify to the existence of the alleged enlarged version before the 10th century, it would be proper for us to in the 20th cent. to accept the same as more authentic than any interpretative reconstruction. D.K. Kanjilal, Introductory chapter 3, page 132.

दु:षन्तः–(शकुन्तलाया हस्तमादाय) अहो स्पर्श:।

हरकोपाग्निदग्धस्य दैवेनामृतवर्षिणा।

प्ररोह: संभृतो भूय: किंस्वित् कामतरोरयम्।। (3–34)

शकुन्तला–(स्पर्शं रूपयित्वा) तुवरदु, तुवरदु अज्जउत्तो।।

इन दोनों श्लोकों में "हरकोपवह्नि:" एवं "हरकोपाग्नि:" शब्दों में स्पष्ट पुनरुक्ति है। अत: दोनों में से कोई एक प्रक्षिप्त होगा ही। तीसरे अङ्क के मध्य भाग में आये हुए 3–34 श्लोक का सन्दर्भ यदि देखा जाय तो दुष्यन्त ने शकुन्तला का हाथ अपने हाथों में लिया है और वह शकुन्तला को (कङ्कण के रूप में) मृणालतन्तु का वलय पहनाने जा रहा है। तब शकुन्तला के हाथ का रोमांचकारी प्रथम स्पर्शानुभव करता हुआ 34 वाँ श्लोक बोलता है। उसको लगता है कि हरकोपाग्नि से भस्मीभूत हुए कामतरु का मानों एक प्ररोह (अङ्कुर) ही शकुन्तला के हाथ के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। यह श्लोक इस प्रसंग में सर्वथा सुसंगत है। लेकिन जो 3–3 श्लोक है वह भले ही मदनावस्था में प्रविष्ट हो रहे नायक के मुख में रखा गया है इस लिए प्रथम दृष्टि में उचित लगता हो, फिर भी इसी श्लोक के नीचे श्लोक 4 के वर्णन को देखते हैं तब उसी विचार की पुनरुक्ति सुनायी जा रही है। अर्थात् श्लोक 3–3 के हरकोपवह्नि शब्दों की पुनरुक्ति 3–34 में हो रही है, तथा कामदेव को कोसने की प्रवृत्ति 3–3 से करने के बाद 3–4 में भी पुनरावृत्त की जा रही है। अत: 3–3 का प्रक्षिप्त होना सिद्ध हो जाता है। यहाँ किसी के मन में ऐसा प्रश्न उठ सकता है कि 3–3 में प्रस्तुत हुए विचार की यदि 3–4 में पुनरावृत्ति होती है, तो क्यों 3–4 को ही प्रक्षिप्त न मान लिया जाय? इस शङ्का का समाधान यह है कि श्लोक 3–4 को जो 3–5 के साथ "अथवा" निपात से बाँधा गया है, वह एकदम उचित है। 3–4 में नायक अपनी मदनावस्था के उपलक्ष्य में चन्द्रमा और कामदेव को एक साथ में उलाहना देता है कि तुम दोनों का शीतरश्मित्व और कुसुमशरत्व होना बेकार है। क्योंकि चन्द्रमा शीतकिरणों से भी अग्नि-वमन कर रहा है, और कामदेव कुसुमबाणों को वज्र बना रहे हैं। किन्तु इतना कहने के बाद नायक को तुरन्त अपने कहने में दोष भी प्रतीत होता है। चन्द्रमा की किरणों से एवं कामदेव के बाणों से मिलनेवाला कष्ट तो वाञ्छनीय है, यदि वह कष्ट मदिरायतनयना शकुन्तला को लेकर मिल रहा हो तो। कवि कालिदास की यह शैली रही है कि वे एक विचार की प्रस्तुति करने के बाद, उस उक्ति में रहे वाग्दोष को दूर करने के लिए, पक्षान्तर में रहे अदोष, एवं यथार्थ विचार की प्रस्तुति करने लिए "अथवा" निपात का प्रयोग करते हैं। मतलब कि 3–4 और 3–5 के बीच में जो "अथवा" निपात का उपयोग हुआ है वह श्लोक 3–4 की मौलिकता को सिद्ध करता है। अत: 3–3 को ही प्रक्षिप्त कहना उचित होगा।

यहाँ कहने का तात्पर्य यही है कि तृतीयांक के आरम्भ में नायक के मुख में रखे गये उपर्युक्त इन तीन श्लोकों को, जो "अपि च" एवं "अथवा" निपातों से बाँधे गये हैं, उनकी

विचारसातत्य तथा पुनरुक्ति आदि के मानदण्ड से परीक्षा की जाय तो 3–3 का प्रक्षिप्त होना दिखायी दे रहा है। एक सिद्धान्त के रूप में कहा जाय तो बंगाली वाचना में "अपि च" का प्रयोग प्रक्षेप का प्रसव–स्थान हो सकता है, और "अथवा" का प्रयोग होने पर वह देवनागरी वाचना के पाठ में संक्षेप करने का अनुकूल स्थान बन गया है। राघवभट्ट के द्वारा मान्य किये गये पाठ में "अद्यापि नूनं हरकोपवह्निः०"(3 –3) श्लोक नहीं दिया गया है। तथा "अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो०" (3–5) श्लोक को भी हटाया गया है[35]।।

3–1–2 बंगाली पाठ के तृतीयाङ्क में श्लोक–7 भी प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। जैसे कि–दु:षन्त मदनावस्था में शकुन्तला के पास पहुँचने के लिए उसे ढूँढता है और अनुमान लगाता है कि इस बालपादपों वाली वीथी से गुजरकर वह सुतनु अभी अभी गयी होगी। वह कैसे? तो

संमीलन्ति न तावद् बन्धनकोशास्तयावचितपुष्पाः।
क्षीरस्निग्धाश्चामी दृश्यन्ते किसलयच्छेदाः।।

3–7

इस श्लोक में कहा गया है कि–शकुन्तला ने जिस पौधे से पुष्पचयन किया है उसके बन्धनकोश अभी बंद नहीं हुए हैं। तथा किसलय के छेदों में से अभी भी दूध निकलने से वे स्निग्ध दिख रहे है। इससे नायक को लगता है कि शकुन्तला थोड़ी देर पहले ही यहाँ से गयी है। लेकिन यह श्लोक आन्तरिक सम्भावना की दृष्टि से देखा जायेगा तो मौलिक नहीं है क्योंकि कवि ने शकुन्तला का वनस्पति–प्रेम वर्णित करते हुए कहा है कि उसको सभी वृक्ष एवं लताओं के प्रति सहोदर जैसा स्नेह है। और, उसको मण्डन करना प्रिय होते हुए भी वह कभी भी वृक्षों से एक पल्लव भी नहीं तोड़ती थी।[36] इसी कृति में शकुन्तला का जो प्रकृति–प्रेम प्रदर्शित किया गया है उसके अनुसार तो वह रास्ते में आते–जाते पुष्पों और किसलयों को तोड़ती हुई नहीं जा सकती है। इससे प्रमाणित होता है कि उपरिनिर्दिष्ट 3–7 श्लोक प्रक्षिप्त ही है।

3–1–3 आन्तरिक सम्भावना के मानदण्ड से सोचा जाय तो इस अङ्क का श्लोक 11 भी प्रक्षिप्त कहना पड़ेगा। अनसूया शकुन्तला की मदनावस्था को देख कर बोलती है कि शकुन्तला को जो अङ्गसंताप हो रहा है वह बलवान् है। अत: शकुन्तला को कुछ पूछना चाहती है। यह सुन कर दुष्यन्त को भी मन में होता है कि शकुन्तला को पूछ लेना ही चाहिए। क्योंकि

---

35. श्री पी.एन. पाटणकर के द्वारा सम्पादित किये गये देवनागरी के शुद्धतर पाठ में 3–3 एवं 3–5 श्लोकों को मान्य किया गया है। अर्थात् वे पुनरुक्तियुक्त प्रक्षिप्त श्लोक को नहीं पहचान पाये हैं।
36. नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्। चतुर्थांक, श्लोक 11

शशिकरविशदान्यस्यास्तथा हि दुःसहनिदाघशंसीनि।
भिन्नानि श्यामिकया मृणालनिर्माणवलयानि।।

3–11

"शकुन्तला ने अपने हाथों में मृणालतन्तुओं से बनाये वलय पहने हैं वह चन्द्रकिरण जैसे शुभ्र होते हुए भी श्याम हो गये हैं, जो शकुन्तला के अङ्गसंताप को कह रहे हैं।" इस श्लोक में "मृणालनिर्माणवलयानि" शब्द बहुवचन में है, वह पूर्व श्लोक (3–10) के "प्रशिथिलितमृणालैकवलयम्" के साथ असम्बद्ध सिद्ध होता है। पहले जब कहा जाता है कि शकुन्तला के हाथ में मृणाल का एक वलय प्रशिथिल है, तब तुरन्त ही अनुगामी श्लोक में कहा जाय कि शकुन्तला ने मृणाल से बने अनेक वलय पहने हैं, तो वह वदतोव्याघात है। अत: 3–11 श्लोक को प्रक्षिप्त मानना ही उचित होगा। इस नाट्यकृति के प्रत्येक शब्द, वाक्य को स्मृतिपट पर रखते हुए पुनरुक्ति या परस्पर विसंगतता है या नहीं, इसका यदि विचार किया जायेगा तो अनेक प्रक्षिप्त स्थानों को पहचाना जा सकेगा।

3–1–4 तृतीयांक में श्लोक 16 एवं 17 को अवतारित करने के लिए "अपि च" निपात का विनियोग किया गया है। अत: इन दोनों की भी समालोचना करणीय है।

राजा–

अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको
विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम्।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं
श्रियो दुरापः कथमीप्सितो भवेत्।।

3–16

अपि च–

अयं स यस्मात्प्रणयावधीरणाम्
अशङ्कनीयां करभोरु शङ्कसे।
उपस्थितस्त्वां प्रणयोत्सुको जनो
न रत्नमन्विष्यति, मृग्यते हि तत्।।

3–17

इन दोनों श्लोकों में "अवधीरणा" शब्द की पुनरुक्ति ही विचार करने को प्रेरित करती है कि इन में से कोई एक श्लोक मौलिक नहीं होगा। काव्यशास्त्रियों ने (और इनका अनुसरण करनेवाले टीकाकारों ने) श्लोक 3–16 में उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्य का प्रक्रमभङ्ग[37]

37. यहाँ (त्वं श्रीः) विशङ्कसे–यह उद्देश्य दल है, किन्तु तृतीय चरण में प्रतिनिर्देश्य के रूप में प्रार्थयिता (नरः) है। इसको प्रक्रमभङ्ग दोष कहते हैं जिसके कारण इसका अर्थ समझना थोड़ा विलम्बित हो जाता है।

हो रहा है, जो एक काव्यदोष है ऐसा कहा है। तथा पूर्वापर चरणों का व्यत्यय करके पाठ प्रस्तुत करने का सुझाव दिया है। और "कथं न लभ्येत नर: श्रियार्थित:" ऐसा नया पाठ भी सूचित किया है, जिससे पर्यायप्रक्रमभङ्ग का दोष नहीं आयेगा। इस तरह काव्यदोष के परिहार करने के दो दो सुझाव प्रस्तुत करने के बाद भी किसी काव्यरसिक व्यक्ति ने तीसरे उपायान्तर के रूप में एक नया श्लोक ही लिख कर उसे मूल पाठ में "अपि च" के द्वारा प्रक्षिप्त कर देने की चेष्टा की है। "अवधीरणा" शब्द की पुनरुक्ति के साथ जो दूसरा श्लोक हमारे सामने आ रहा है उसका राज़ सम्भवत: उपर्युक्त काव्यदोष है। इस दूसरे श्लोक की मौलिकता की आशङ्का को दृढ करनेवाला "प्रणय" शब्द है, जो दो बार इसमें प्रयुक्त हुआ है। पूर्व श्लोक में संगम की उत्सुकता व्यक्त करने के बाद प्रणय की उत्सुकता दिखाना वह भी एक तरह का क्रमभङ्ग ही है। "अपि च" निपात से बाँधे गये श्लोक से ऐसी अपेक्षा रहती है कि वह कुछ नये अर्थ, नये दृश्य का समुच्चय प्रस्तुत करे। प्रणय एक लम्बी राह है, जिसमें संगम अन्तिम लक्ष्य है। अत: संगमोत्सुक बोल देने के बाद नायक अपने को प्रणयोत्सुक कहे वह अनुचित लगता है। सारभूत बात यही निकलती है कि "अपि च" से प्रस्तुत हुआ दूसरा श्लोक प्रक्षिप्त है।

3–1–5 बंगाली वाचना के तृतीयांक का नाम "शृङ्गारभोग" रखा गया है, जिसमें दु:षन्त-शकुन्तला का गान्धर्वविवाह वर्णित है। इसमें दुष्यन्त ने शकुन्तला को अपने कुल की प्रतिष्ठा के रूप में घोषित किया है। इस सन्दर्भ में जो संवादशृङ्खला मिलती है वह निम्नोक्त है:

प्रियंवदा–(जनान्तिकम्) अणुसूए, पेक्ख पेक्ख, मेहवादाहदं विअ गिम्हे मोरिं खणे खणे पच्चाअदजीविदं पिअसहिं। (अनसूये, प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व मेघवाताहतामिव ग्रीष्मे मयूरीं क्षणे क्षणे प्रत्यागतजीवितां प्रियसखीम्।)

शकुन्तला–हला, मरिसावेध लोअवालं जं अम्हेहिं बीसद्धपलाविणीहिं उवआरादिक्कमेण भणिदं। (सख्यौ, मर्षयतं लोकपालं यदस्माभि: विस्रब्धप्रलापिनीभि: उपचारातिक्रमेण भणितम्।)

सख्यौ–(सस्मितम्) जेण तं मन्तिदं सो ज्जेव मरिसावेदु। अणस्स को अच्चओ। (येन तत् मन्त्रितं स: एव मर्षयतु। अन्यस्य क: अत्यय:।)

शकुन्तला–अरिहदि क्खु महाराओ इमं पच्चक्खवअणं विसोढुं। परोक्खं वा किं ण मन्तीअदि। (अर्हति खलु महाराज: इदं प्रत्यक्षवचनं विषोढुं, परोक्षं वा किं न मन्त्रयते।)

राजा–(सस्मितम्)

अपराधमिमं तत: सहिष्ये यदि रम्भोरु तवाङ्गसङ्गसृष्टे।
कुसुमास्तरणे क्लमापहं मे सुजनत्वादनुमन्यसेऽवकाशम्।।

3–24

प्रियंवदा–ण एत्तिकेण उण तुट्ठी भविस्सदि। (नैतावता तुष्टिः भविष्यति।)

शकुन्तला–(सरोषमिव) विरम दुल्ललिदे। एदावत्थं गदाए वि मए कीळसि। (विरम दुर्ललिते। एतदवस्थां गतयापि मया क्रीडसि।)।

यहाँ दुष्यन्त ने शकुन्तला को अपनी कुलप्रतिष्ठा के रूप में प्रतिज्ञात किया तब उसकी दोनों सहेलियाँ पूर्ण रूप से आश्वस्त हो जाती हैं और शकुन्तला भी बहुत हर्षित होती है। अब वह अपनी सहेलियों को लोकपाल से क्षमायाचना करने को कहती है क्योंकि अनसूया ने राजा को कहा था कि–महाराज, बहुवल्लभा खलु राजानः श्रूयन्ते। तत यथा इयं नः प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति, तथा करिष्यसि। इन शब्दों के द्वारा अनसूया ने राजा के प्रति अन्यत्र प्रेमासक्त होने की जो सूक्ष्म आशङ्का व्यक्त की थी वह शकुन्तला की दृष्टि में उचित नहीं थी। अतः वह राजा से क्षमा माँगने को कहती है। किन्तु सहेलियाँ शकुन्तला को ही क्षमा माँगने को कहती हैं क्योंकि "हला, अलं वाम् अन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरोधेन।" ऐसा कहकर शकुन्तला ने ही पहले राजा के प्रति उपचार का अतिक्रमण किया था। अतः जिसने उपचार का भङ्ग किया हो वही क्षमा माँगे। तब शकुन्तला महाराज दुष्यन्त को कहती है कि जो प्रत्यक्ष वचन (मुँह पर) कहा गया है उसे नजरअंदाज कर लीजिए क्योंकि लोग परोक्ष में तो ऐसी कई बातें बोलते रहते हैं। इस संवाद की पङ्क्तियाँ उपरि भाग में दी गयी हैं। किन्तु वह शकुन्तला के उदात्त चरित से बिलकुल विपरीत है। किसी भी व्यक्ति की पीठ के पीछे कुछ भी बोला जा सकता है ऐसा कहनेवाली शकुन्तला उच्च कोटि की नायिका सिद्ध नहीं हो सकती है। साथ में, राजा ने इस प्रसंग में जो श्लोकबद्ध प्रतिभाव दिया है वह किसी भी अभिरूपभूयिष्ठा परिषत् की सुरुचि का भङ्ग करनेवाला है। कोई भी नायक रंगमंच पर ही नायिका के साथ सहशयन की माँग करे वह सर्वथा अश्लील है। इस नाट्यकृति के आरम्भ में ही कवि ने अपने नायक का परिचय देते हुए कहा है कि "साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्" अर्थात् दुष्यन्त भगवान् शङ्कर जैसा धीरोदात्त नायक है। वह जाहिर में और प्रकट शब्दों में शकुन्तला से सहशयन की माँग नहीं कर सकता है। अतः मानना होगा कि किसी सूत्रधार ने ही अपने स्थल–काल के दर्शकों की रुचि के अनुसार ऐसा अश्लील श्लोक नायक के मुख में रख दिया होगा।

तथैव, नायक की उक्ति के पीछे प्रियंवदा की जो उक्ति है (नैतावता तुष्टिर्भविष्यति।) वह तो नितान्त ग्राम्य है। रंगभूमि पर ऐसी अश्लील बातें कहलाने वाले कवि कालिदास नहीं हो सकते हैं। प्रकृत संवाद नायिका, नायक और प्रियंवदा के लिए कथमपि शोभास्पद नहीं होने से आन्तरिक सम्भावना के विरुद्ध है। अतः इस पूरे संवाद को प्रक्षिप्त मानना ही होगा।

3–1–6 तीसरे अङ्क का एक उदाहरण द्रष्टव्य है, जिसमें भी नायक के उदात्त चरित से विपरीत एवं गलत सोचवाली श्लोकरचना प्रस्तुत हुई है।

राजा–(स्वगतम्)

अप्यौत्सुक्ये महति दयितप्रार्थनासु प्रतीपाः
काङ्क्षन्त्योऽपि व्यतिकरसुखं कातराः स्वाङ्गदाने।
आबाध्यन्ते न खलु मदनेनैव लब्धान्तरत्वाद्
आबाधन्ते मनसिजमपि क्षिप्तकालाः कुमार्यः।।[38]

3–27

(शकुन्तला गच्छत्येव)

इस श्लोक में नायक दुष्यन्त कुमारिका स्त्रियों की मानसिकता को विशद करता हुआ जो बोल रहा है उसमें भी उसकी ही भोगेच्छा खुल कर बाहर आ रही है। किन्तु प्रासंगिक दृष्टि से सोचा जाय तो रंगमंच से सहेलियों के चले जाने के बाद कुछ ज्यादा समय तो बीता नहीं है और शकुन्तला के साथ कोई प्रेमगोष्ठियाँ भी अभी हुई नहीं हैं, उससे पहले दुष्यन्त की उपर्युक्त श्लोकोक्ति नायक की अधीरता प्रकट करनेवाली है। प्रेमकथाओं में प्रणयि-युगल के बीच जो स्वाभाविक रूप से संवनन प्रक्रिया क्रमशः विकसित होती है और जो इस अङ्क में आगे आनेवाले मृणाल-वलय प्रसंग में दृश्यमान होनेवाली है, उसकी प्रस्तुति होने से पहले दुष्यन्त का यह आत्मगत चिन्तन सामयिक नहीं है। अतः यह उपर्युक्त श्लोक भी प्रक्षिप्त लगता है।

3–1–7 तृतीयांक में प्रियंवदा और अनसूया मृगबाल को उनकी माता के पास पहुँचाने का बहाना बना कर लतामण्डप से दूर चली जाती हैं। अब रंगमंच पर दुष्यन्त और शकुन्तला अकेले हैं। सखीजनों की भूमिका पर अब दुष्यन्त खड़ा है। मध्याह्न का समय होने से वह शकुन्तला को नलिनीदल से आर्द्र वायु का संचार करने का इच्छुक है, और शकुन्तला कहे तो उसके चरणों का संवाहन करने को भी तैयार है। किन्तु शकुन्तला माननीय व्यक्ति से ऐसी सेवा लेना उचित नहीं समझती है। अतः वहाँ से उठ कर चली जाती है। दुष्यन्त उसके पीछे चल पड़ता है और उसका पल्लू पकड़ कर रोकने की चेष्टा करता है। शकुन्तला कहती है–पौरव, रक्ष विनयम्। इतस्ततः ऋषयः संचरन्ति। इस संवाद के बाद राजा की जो उक्ति है, उसकी मौलिकता संदेहास्पद है:

राजा–सुन्दरि, अलं गुरुजनाद् भयेन। न ते विदितधर्मा तत्रभवान् कण्वः खेदमुपयास्यति।

---

38. अनुवाद: राजा-(स्वगत) ये कुमारिकायें अतिशय इच्छा रखती हुई भी अपने प्रियतम के प्रतिकूल बर्ताव करती हैं। यद्यपि मिलन-सुख की अभिलाषा रखती हैं, फिर भी अपना अंग समर्पित करने में कातरता दिखाती हैं। अतएव मालूम होता है कि समय पाकर केवल कामदेव ही उनको पीड़ित नहीं करता, बल्कि व्यर्थ में समय बिता कर ये कामदेव को भी बाधा पहुँचाती हैं।

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्योऽथ मुनिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः।।

3–28

(दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि। (शकुन्तलां हित्वा पुनस्तैरेव पदैः प्रतिनिवर्तते।)

शकुन्तला–(पदान्तरे प्रतिनिवृत्य साङ्गभङ्गम्) पौरव, अणिच्छापूरओ वि संभासणमेत्तएण परिचिदो अअं जणो ण विसुमरिदव्वो।।

यहाँ, लतामण्डप से बाहर निकल कर जा रही शकुन्तला के पीछे दुष्यन्त भी चल पड़ता है तब उसको सावधान करने के लिए शकुन्तला ने "यहाँ वहाँ ऋषिमुनि लोग घूम रहे होंगे" ऐसा कहा है। इस सन्दर्भ में दुष्यन्त कहता है कि गुरुजनों से भय रखने की आवश्यकता नहीं है, कण्व भी (तुझे प्रेमासक्त या विवाहित जान कर) खेद का अनुभव नहीं करेंगे। अर्थात् तुझ पर नाराज नहीं होंगे। दुष्यन्त यहाँ विशेष में यह भी कहता है कि गान्धर्व-विवाह से विवाहित हुई बहुत सी मुनिकन्यायें हैं, जो (बाद में) पिताओं के द्वारा अभिनन्दित भी की गयी हैं। इस श्लोक पर किसी विद्वान् ने नुकताचीनी शायद नहीं की है। लेकिन सम्भव है कि किसी साहित्यरसिक की दृष्टि में, दुष्यन्त ने ही यहाँ शकुन्तला को गान्धर्व-विवाह के लिये उकसाया है–ऐसा भाव उठ सकता है। ऐसी संवित्ति मुखर हो कर सामने आये या न आये, लेकिन शकुन्तला जब कह रही है कि आसपास में ऋषि-मुनि घूम रहे होंगे, तब जो विनीत बर्ताव की अपेक्षा है, उससे विपरीत दुष्यन्त गुरुजनों से डरने की कोई जरूरत नहीं है ऐसा समझाने का उपक्रम शुरू करे वह दुष्यन्त के चरित के अनुरूप नहीं है। किन्तु दुष्यन्त के मुख में रखा गया प्रथम वाक्य एवं "गान्धर्वेण विवाहेन"० वाला श्लोक बीच में से हटाया जाय तो, जो रंगसूचना-पुरस्सर का अनुगामी वाक्य है– "(दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि। (शकुन्तलां हित्वा पुनस्तैरेव पदैः प्रतिनिवर्तते।)", वह बिलकुल सही सिद्ध होता है। इसमें विचार-सातत्य भी है, और दुष्यन्त का लतामण्डप में वापस चला जाना भी शकुन्तला की उक्ति से सुसम्बद्ध है। महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान में दुष्यन्त गान्धर्व-विवाह के लिए बहुत उतावला हो गया है। उस मूल कथा में सुधार के लिये उद्यत हुए महाकवि के लिए प्रेम का उदात्त चित्र खींचना मुनासिब है तो उसको अपनी कलम से गान्धर्व-विवाह का प्रस्ताव कराकर किसी मुग्धा मुनिकन्या को उकसाने की जरूरत नहीं थी। इसे, अर्थात् गान्धर्वेण विवाहेन० वाले श्लोक को प्रक्षिप्त मानकर हटा देने से दुष्यन्त के उदात्त चरित की भी रक्षा होती है और शकुन्तला की उक्ति के साथ "कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि" जैसा दुष्यन्त का प्रतिभाव भी सुसंगत ठहरता है। यहाँ एक अन्य हकीकत की ओर ध्यान-आकृष्ट करना अनिवार्य है कि एकमात्र काश्मीर-प्रान्तीय शारदालिपि में लिखित पाण्डुलिपियों[39] में यह (गान्धर्वेण विवाहेन०

39. ऑक्सफोर्ड की पाण्डुलिपि क्रमांक–1247 एवं 159

वाला) श्लोक नहीं है। कहने का तात्पर्य यही है कि शकुन्तला को लतामण्डप से बाहर चले जाने के बाद, दुष्यन्त भी जब वहाँ से बाहर आ जाता है तब "यहाँ वहाँ ऋषिमुनि लोग घूम रहे होंगे" ऐसी शकुन्तला की उक्ति के साथ तो, "(दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि।" का सन्धान ही मौलिक प्रतीत होता है। यद्यपि यह श्लोक बंगाली, मैथिली, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य-इन चारो वाचनाओं में संचरित हुआ है, तथापि शारदा पाण्डुलिपिओं में उसका न होना अनुपेक्ष्य होने के साथ पुनर्विचारणीय भी है[40]।

तीसरा ध्यातव्य बिन्दु यह है कि इस श्लोक के बाद जो दृश्यावली प्रस्तुत होती है उसमें नायक-नायिका के बीच मृणालवलय पहनाने का प्रेमभरा जो सहचार है वही सही स्वरूप में मदनलेखादि के पूर्वप्रसंगों के अनुसन्धान में समुचित लगता है, जिसके आधार पर ही (बिना किसी तरह से उकसाये) दोनों का प्रेममिलन नैसर्गिक प्रतीत होता है।

3-1-8 (क) बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क में 41 श्लोकों का विस्तार है, उसके सामने देवनागरी वाचना के तृतीयाङ्क में 23 या 24 श्लोक सम्मिलित हैं। अर्थात् देवनागरी की अपेक्षा से बंगाली में 17 श्लोक अधिक हैं। अभी तक हमने उनमें से 7 श्लोकों के प्रक्षिप्त होने की चर्चा की है। किन्तु इनके अलावा जो 10 श्लोक अवशिष्ट रहते हैं और इनके आगे-पीछे आये हुए गद्य संवाद हैं-इतने अंश में जो प्रसंग, जो दृश्य रखा गया है वह प्रक्षिप्त है या मौलिक, उसकी भी चर्चा करना यहाँ नितान्त आवश्यक है।। इस सन्दर्भ में सब से पहले तो पुण्यश्लोक डॉ० श्री एस. के. बेलवलकर जी का ही नाम स्मरण करना होगा। क्योंकि भारतीय पाठालोचना के धुरन्धर विद्वान् के रूप में वे अग्रगण्य हैं, और अविस्मरणीय भी। उन्होंने विश्व के रसिकों को यह दिखाया है कि अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीयांक के प्रचलित (देवनागरी एवं दाक्षिणात्य) पाठ में समय की विसंगति है। जैसे कि-दोनों सहेलियों के चले जाने के बाद, दुष्यन्त शकुन्तला को नलिनीदल से पवन झलने की एवं उसके पद्‌मताम्र चरणों का संवाहन करने की तत्परता दिखाता है। लेकिन शकुन्तला माननीय व्यक्ति से ऐसी सेवा लेकर अपने आपको अपराधी बनाना नहीं चाहती है, इस लिए वो वहाँ से उठ कर चली जाना चाहती है। तब दुष्यन्त ने कहा है कि-सुन्दरि, अपरिनिर्वाणो दिवसः। इयं च ते शरीरावस्था। ...... कथमातपे गमिष्यसि परिबाधा पेलवैरङ्गैः।। (3-19)। अर्थात् अभी तो मध्याह्न का समय है, दिवस पूर्ण होने की काफी देर है। ऐसा कहने के बाद, देवनागरी पाठ में केवल पाँच संवाद के बाद ही नेपथ्योक्ति आती है कि-चक्रवाकवधूके, आमन्त्रयस्व प्रियसहचरम्। उपस्थिता रजनी। (गौतमी आ जाती है और शकुन्तला को लेकर रंगभूमि से निकल जाती है।) अर्थात् पाँच-छह संवाद के बाद ही "रात्रि उपस्थित हो

40. डॉ० दिलीप कुमार काञ्जीलाल ने इस गान्धर्वेण विवाहेन श्लोक के सन्दर्भ में उच्चतर समीक्षा के नाम पर कुछ भी निर्देश नहीं किया है। (द्रष्टव्य-A Reconstruction of the Śakuntalam, Introductory Chapter 2, page 68)

गयी है" ऐसी समय की सूचना जिसमें आती है वह पाठ निश्चित रूप से ऐसा है जिसमें बीच में कटौती की गयी है। यहाँ किसी अज्ञात सूत्रधार के द्वारा कुछ श्लोकों में एवं उनसे जुड़े गद्य-संवादों में संक्षेप किया गया है। राघवभट्टादि जैसे मूर्धन्य टीकाकारों के द्वारा उसी संक्षिप्त किये गये पाठ का समादर होने के कारण उसे ही मौलिक मान लिया गया। परन्तु डॉ० श्री एस. के. बेलवलकरजी जैसे सूक्ष्मेक्षिका से पाठ-परीक्षण करनेवाले विद्वान् ने मध्याह्न और रात्रि के बीच में जो अपेक्षित काल-व्यवधानकी विसंगति है उसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।[41] इसी लिए यह न केवल अपेक्षित ही, बल्कि अनिवार्य भी है कि हम देवनागरी पाठ की संक्षिप्तता समझने के लिए बंगाली पाठ से उसकी तुलना करें। तथा पूर्वग्रह से जिस बंगाली पाठ को प्रक्षेपों से भरा मान लिया गया है उसकी मौलिकता को पहचानें, अथवा बिना परीक्षा किये उसकी उपेक्षा न करें।।

बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क में, जिन दो प्रसंगों का प्रक्षेप माना गया है वह हैं: 1. शकुन्तला को मृणाल-वलय पहनाने का, एवं 2. कर्णोत्पलरेणु से शकुन्तला की दृष्टि कलुषित होने पर दुष्यन्त द्वारा अपने वदनमारुत से उसे विशद कर देने का। इन दोनों प्रसंगों की मौलिकता जांचने के लिए तृतीयाङ्क का 39वाँ श्लोक कृतिनिष्ठ "आन्तरिक प्रमाण" के रूप में विश्लेषणीय है।

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
कान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः।
हस्ताद् भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहादीशोऽस्मि शून्यादपि।।

3-39

यह श्लोक, शकुन्तला को लेकर गौतमी के चले जाने के बाद वेतसगृह में अकेला खड़ा, दुष्यन्त बोलता है। वह शकुन्तला की तीन चीजों का परिगणन करता है, 1. शकुन्तला की पुष्पशय्या, 2. उसका लिखा हुआ मदनलेख तथा 3. उसके हाथ से गिरा हुआ बिसाभरण अर्थात् मृणालवलय। यह श्लोक शाकुन्तल की पाँचों वाचनाओं में सर्वसम्मति से ग्राह्य रहा है। तथापि केवल बृहत्पाठ परम्परावाली बंगाली, मैथिली एवं काश्मीरी वाचना की पाण्डुलिपियों में ही यह प्रसंग आता है जिसमें दुष्यन्त शकुन्तला के हाथ से गिरा मृणालवलय उठा लेता है और शकुन्तला के हाथ में पुनः पहनाता है। शाकुन्तल की लघुपाठ परम्परावाली देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में यह मृणाल-वलय पहनाने का प्रसंग आता ही नहीं है। तो फिर उपर्युक्त श्लोक में जिस बिसाभरण अर्थात् मृणालवलय का परिगणन करवाया

41. The most cogent objection against its shorter version is the fact that it plays fast and loose with the time-indications of the scene—see: Sringaric elaboration in Śakuntala, Act 3, pub. in "Indian Studies in Honor of C.R. Lanman", Harvard Univ. Press, 1929, pp. 187-192.

है, उसकी प्रस्तुतता कैसे सिद्ध हो पायेगी? अत: हम यह मानने को बाध्य हो जाते हैं कि उपर्युक्त विशेष प्रसंग मूल शाकुन्तल के पाठ में थे, और मंचन के दौरान किसी अज्ञात सूत्रधार ने उसे हटा दिया होगा। ऐसे संक्षिप्त किये गये पाठ में से शाकुन्तल की लघुपाठ परम्परा शुरू हुई होगी। यहाँ मृणाल-वलय गिर जाने का प्रसंग मूल पाठ में होना आवश्यक इस लिए भी लगता है कि तीसरे अङ्क के आरम्भ में ही "स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिल-मृणालैक-वलयम्" (श्लोक 3-10) शब्दश: से कहा गया है कि शकुन्तला ने अपने हाथ में जो मृणालवलय पहना था वह शुरू से ही प्रकृष्टतया शिथिल था।[42] और नाटक मात्र का यह नियम होता है कि उसमें जो भी कहा जाता है वह सप्रयोजन होता है। अत: अङ्क के आरम्भ में यदि दर्शकों को कहा जाता है कि शकुन्तला के हाथ में पहना मृणाल वलय प्रशिथिल है तो ऐसी अपेक्षा रहती है कि अङ्क में मृणाल-वलय गिर जाने का प्रसंग आकारित हो। यह प्रसंग बंगाली आदि बृहत्पाठवाली वाचनाओं में है, किन्तु लघुपाठवाली देवनागरी में नहीं है। किन्तु जैसा उपरि निर्दिष्ट प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यह प्रसंग मौलिक ही होगा, तो मानना पड़ेगा कि देवनागरी वाचना के पाठ में संक्षिप्तीकरण के दौरान उसे मूल पाठ में से हटाया गया है।

3-1-8 (ख) इस मृणाल-वलय का प्रसंग मूलगामी पाठ में होना एक अन्य आन्तरिक सम्भावना से भी समर्थित होता है। उसकी ओर भी सत्यान्वेषी साहित्यरसिकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है: जिस लतामण्डप में दुष्यन्त-शकुन्तला का एकान्त मिलन होता है वहाँ आरम्भ में शकुन्तला लतामण्डप से बाहर चली जाती है। तब दुष्यन्त शकुन्तला के मणिबन्धन से गलित हुए मृणालवलय को देखता है, जिसको वह "हृदयस्य निगडम् इव" कहता है[43], फिर उसको उठा लेता है और अपने गले लगाता है। तब उस वलय को वापस लेने के बहाने शकुन्तला लतामण्डप में पुन: प्रविष्ट होती है। यहाँ प्रिया शकुन्तला को देखते ही दुष्यन्त सहर्ष बोलता है:-"अये, जीवितेश्वरी मे प्राप्ता।" इसके बाद, दुष्यन्त मृणाल-वलय को वापस लौटाने के लिये एक अभिसन्धि (शर्त) रखता है कि वह स्वयं उसके हाथ में पहनाएगा। शकुन्तला इस अभिसन्धि को मंजूर करती है। दुष्यन्त ने जब शकुन्तला के हाथ में उसे पहनाया तब शकुन्तला के मुख से "त्वरताम् त्वरताम् आर्यपुत्र:।" ऐसा सम्बोधन निकल जाता है। कङ्कण-स्वरूप मृणाल-वलय पहनाने के अवसर पर शकुन्तला के मन में दुष्यन्त के लिये पतिभाव प्रकट हुआ हो यह अत्यन्त स्वाभाविक है। इस दृष्टि से, मृणाल-वलय प्रसंग में नायक-नायिका ने परस्पर जो

42. यहाँ श्री शरद रंजन राय (1908 में) ने ऐसा प्रश्न उठाया था कि गिरा हुआ मृणालवलय यदि दुष्यन्त ने पहनाया था, तो अङ्क के अन्त में वह फिर से गिरा कैसे? इसका समाधान देते हुए डॉ० एस. के. बेलवलकरजी ने कहा है कि शकुन्तला ने दोनों हाथ में मृणालवलय पहने होंगे, अत: दूसरे हाथ का वलय गिर गया होगा।

43. इस श्लोक को वर्द्धमान ने गणरत्नमहोदधि (12वीं शती) में उद्धृत किया है।

"जीवितेश्वरी" और "आर्यपुत्रः" कहा है, वह क्षण दाम्पत्य भाव का अनुभव प्रदर्शित करने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आगे चल कर जब षष्ठाङ्क में (दुष्यन्त-नामधेयाङ्किता मुद्रिका मिल जाने के बाद) अन्तःपुर की अन्य स्त्रियों के सामने दुष्यन्त के मुख से कदाचित् "गोत्र-स्खलन" हो जाता है, ऐसा निरूपण आता है[44], तो वह बिलकुल निराधार नहीं लगता।

किन्तु देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में तो यह मृणाल-वलय का प्रसंग नहीं है। अतः वहाँ षष्ठाङ्क में गोत्र-स्खलन का जब निर्देश आता है तब उसका कोई पूर्व-निर्दिष्ट आधार नहीं मिलता। कहने का तात्पर्य यही है कि बंगाली वाचना में मृणाल-वलय का प्रसंग है और उस प्रसंग के निमित्त से दोनों के चित्त में जो सहज दाम्पत्यभाव प्रकट हुआ था उससे ही षष्ठाङ्क में दुष्यन्त से अनजान में होनेवाले गोत्र-स्खलन की स्वाभाविकता प्रतीतिकर बनती है। इस तरह षष्ठाङ्क में आनेवाले गोत्र-स्खलन का निर्देश हमारे लिये मृणाल-वलय के प्रसंग का समर्थक प्रमाण बनता है।

3-1-8 (ग) बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क में प्रक्षिप्त माने गये दूसरे प्रसंग की, अर्थात् शकुन्तला की दृष्टि पुष्परज से कलुषित होने पर दुष्यन्त द्वारा अपने वदन-मारुत से निर्मल करने के प्रसंग की मौलिकता भी कृति-निष्ठ अन्तःसाक्ष्य से समर्थित होती है। यहाँ प्रथमतः यही बात विचारणीय है कि शकुन्तला की दृष्टि कलुषित होने जैसे किसी प्रसंग की हम अपेक्षा रख सकते हैं या नहीं? प्रथमाङ्क में वृक्षसेचन के दौरान परिश्रान्त हुई शकुन्तला का वर्णन करते हुए दुष्यन्त ने कहा है, स्रस्तं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं, बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः (शाकु. 1-26, राघवभट्ट, पृ. 47) अर्थात् शकुन्तला अपने कर्णों में शिरीष पुष्पों को लगाती थी। इसीलिये षष्ठाङ्क में शकुन्तला का चित्र अंकित करते हुए दुष्यन्त ने फिर कहा है, कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे, शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्। न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे।। (शाकु. 6-18, राघवभट्ट, पृ. 213) इस तरह शकुन्तला अपने कानों में प्रसाधन के रूप में पुष्प लगाती थी, और इसी लिये कदाचित् उसके नेत्र में पुष्परेणु गिरने की सम्भावना (एवं नाटकीय अपेक्षा) थी। लेकिन यहाँ ऐसा प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या ऐसा कोई प्रसंग महाकवि ने ही अपने हाथों से लिखा होगा? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये उच्च स्तरीय समीक्षा को मान्य हो ऐसा कोई प्रमाण देना आवश्यक है।

महाकवि कालिदास ने इस नाट्यकृति की दृश्यावली में सर्वत्र एक रूप के सामने दूसरा प्रतिरूप खड़ा करने की जिस कलात्मक सर्जनविधा का साद्यन्त विनियोग किया है उसकी ओर सब का ध्यान आकृष्ट करने की जरूरत है। उदाहरण के रूप में-प्रथमाङ्क में

44. दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचिताम् अन्तःपुरेभ्यो यदा, गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम्। शाकु. 6-5 (राघवभट्ट, पृ० 195)

मृगया-विहारी दुष्यन्त का कण्वमुनि के आश्रम में प्रवेश होते ही-न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्... शब्द सुनायी पड़ते हैं, वैसे ही सप्तमाङ्क के आरम्भ में दुष्यन्त मारीच के आश्रम में प्रवेश करता है और वहाँ "मा चापलम् कुरु। कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम्," ऐसे शब्द नेपथ्य से आते हैं। यहाँ प्रथमाङ्क में शिकारी दुष्यन्त का जो एक रूप प्रस्तुत किया था, उसका ही दूसरा प्रतिरूप सिंहबाल के साथ खेल रहे सर्वदमन का खड़ा किया गया है। इस तरह महाकवि ने सम्पूर्ण कृति में एक रूप के सामने दूसरा प्रतिरूप (एक दृश्य के सामने दूसरा प्रतिदृश्य) खड़ा करने की स्पृहणीय नाट्य-शैली का मार्ग अपनाया है। यह नाट्य-शैली भी हमारे लिये कृति-निष्ठ अन्तःसाक्ष्य बन सकती है और उसके आधार पर बंगाली (मैथिली और काश्मीरी) वाचना के तृतीयाङ्क में शकुन्तला की दृष्टि कर्णोत्पल रेणु से कलुषित होने का जो प्रसंग वर्णित किया गया है उसका समर्थन किया जा सकता है। जैसे तृतीयाङ्क में दुष्यन्त ने अपने वदन-मारुत से शकुन्तला की दृष्टि निर्मल कर दी थी, उसी एक दृश्य के सामने, षष्ठाङ्क में कवि ने दूसरा प्रतिदृश्य भी खड़ा किया है। धीवर के पास से जब मुद्रिका मिल जाती है और दुष्यन्त को शकुन्तला का पुनःस्मरण हो जाता है तब शकुन्तला का चित्रांकन करते हुए वह एक श्लोक बोलता है:

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
पादास्तामभितो निषण्णचमरा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः,
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।।

6-17

इसमें कहा गया है कि मुझे (दुःषन्त को) इस चित्र में बह रही मालिनी नदी की बालुका में बैठा एक हंस-मिथुन आकारित करना है। हिमालय की उपत्यका में बैठे चमरों के समूह को बनाना है। वृक्ष की डालियों पर कुछ वल्कल वस्त्र टँगे हों एवं उस वृक्ष के अधो भाग में कृष्णमृग के शृङ्ग पर अपना वाम-नेत्र खुजलाती हुई एक हरिणी भी चित्रित करने की चाहत हो रही है। यहाँ "कण्डूयमानां मृगीम्" का जो चित्र बनाने की इच्छा प्रकट की गयी है वह निरतिशय व्यञ्जनापूर्ण है। षष्ठाङ्क में वर्णित इस प्रसंग का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से तृतीयाङ्क में निरूपित शकुन्तला के नेत्र कलुषित होने के प्रसंग के साथ ही है। वहाँ पर दुष्यन्त ने जब अपने वदन-मारुत से शकुन्तला की दृष्टि को निर्मल कर देने का प्रस्ताव रखा था, तब शकुन्तला ने कहा था कि मेरे मन में तुम्हारे लिये विश्वास नहीं है। किन्तु अब दुष्यन्त इस चित्र से व्यंजित करना चाहता है कि वह अब शिकारी के रूप में शकुन्तला को प्राप्त करना नहीं चाहता अपितु हरिणीस्वरूपा शकुन्तला का सगन्ध और विश्वसनीय हरिण बनके, शकुन्तला का जीवनाधार बनना चाहता है। दुष्यन्त ने तृतीयाङ्क के उसी प्रसंग को स्मरण-पट पर रख कर एक प्रतिदृश्य के रूप में, यह "कण्डूयमानां मृगीम्" का चित्र बनाने

की इच्छा प्रकट की है। इस तरह एक दृश्य के सामने दूसरा प्रतिदृश्य खड़ा करने की जो निरूपण-शैली समग्र कृति में बार बार दिखायी देती है उसको तार्किक रूप से ही आन्तरिक सम्भावना के रूप में स्वीकारना चाहिए। इस आधार पर पुष्परज से शकुन्तला के नेत्र कलुषित होने का जो प्रसंग है वह प्रक्षिप्त नहीं है, बल्कि सर्वथा मौलिक है ऐसा मानना ही चाहिए।

3-1-9 तृतीयांक के अन्त भाग में भी एक उपान्त्य श्लोक का प्रक्षेप दिख रहा है। शकुन्तला को ले कर गौतमी चली गयी। दुष्यन्त प्रियापरिभुक्त लतावलयाच्छादित वेतसगृह में खड़ा खड़ा उसके मन्मथलेख इत्यादि पर सानुराग दृष्टि से झाँक रहा है और कहता है कि मुझसे इस वेतसगृह से बाहर निकलना आसान नहीं है। ऐसी प्रेमासक्त दशा में फँसे नायक को रंगमंच से निकालने के लिए नाट्यकार कालिदास उसके वीरत्व को ही टटोलते हैं। अत: नेपथ्योक्ति है "भो भो राजन्, सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते०" (श्लोक-41) अर्थात् सायंकाल होते ही यज्ञकर्म में बाधा डालने के लिए काले-पीले वर्ण के राक्षसों की छायायें आकाश में मंडराने लगी हैं। इसको सुनते ही दुष्यन्त के वीरत्व को चुनौती मिलती है और वह रंग से बाहर दौड़ जाता है। कालिदासीय नाटकों में अन्यत्र भी दिखनेवाली यह पद्धति पूर्ण रूप से नाटकीय है। किन्तु बंगाली वाचना में दुष्यन्त की उक्ति और नेपथ्योक्ति में व्यवधान बननेवाला श्लोक-40 अस्वाभाविक लगता है। जिसमें दुष्यन्त कहता है कि-

रहः प्रत्यासत्तिं यदि सुवदना यास्यति पुन-
र्न कालं हास्यामि प्रकृतिदुरवापा हि विषयाः।
इति क्लिष्टं विघ्नैर्गणयति च मे मूढहृदयं
प्रियायाः प्रत्यक्षं किमपि च तथा कातरमिव।।

3-40

धीरोदात्त चरितवाले नायक के मुख में विषयोपभोग की लालसा प्रकट (या अप्रकट) शब्दों में प्रस्तुत होना दो दृष्टियों से अनुचित है। 1. मूल महाभारत के दुष्यन्त में जो विषयोपभोग के प्रति उतावलापन दिखता है, उसका परिमार्जन करते हुए कालिदास ने हमारे सामने एक धीरोदात्त नायक, जिसको वह नाटक के आरम्भ में ही साक्षात् पिनाकी की उपमा देते हैं, रेखांकित करना चाहता है। उसके मुँह में उपर्युक्त श्लोक के शब्द संगत नहीं बैठते हैं। तथा 2. नाटकीयता की दृष्टि से सोचा जाय तो प्रियासम्बद्ध तीन तीन चीजों को वेतसगृह में ही छोड़कर बाहर निकलना मुश्किल है ऐसा बोल बोले जाने पर ही परिस्थितिवशात् नायक को (प्रेमासक्त दशा को तत्क्षण छोड़ कर) अपनी क्षत्रियता को ललकारने वाली परिस्थिति के सामने लड़ने के लिए रंगभूमि से बाहर निकलने में ही नाटकीयता है। अत: प्रेमासक्त दशा का अनुरणन करनेवाला उपर्युक्त दूसरा श्लोक प्रक्षिप्त ही मानना होगा।

बंगाली वाचनावाले तृतीयांक के 3, 7, 11, 17, 24, 28 एवं 40 क्रमांक के श्लोक प्रक्षिप्त हो सकते हैं ऐसा अनेक कारणों से अनुमित हो रहा है। इस तरह से, कुल 41 श्लोकों में से प्रक्षिप्त 7 श्लोकों को निकाला जाय तो 34 श्लोकवाला परिमाण अवशिष्ट रहेगा, जो काश्मीरी वाचना के (और पाटण की 349/16630 एवं 169/6654 पाण्डुलिपियों[45] में संचरित हुए 11वीं शती के 33 या 34 श्लोकवाले) पाठ के साथ मिलता जुलता सिद्ध होगा।

3-2-1 देवनागरी वाचनावाले तृतीयांक के पाठ में संक्षेप हुआ है उसके दो-तीन प्रमाण हमारे सम्मुख पड़े ही हैं, उसे केवल आँख खोलकर देखने की जरूरत है। जैसे, 1. डॉ० एस. के. बेलवलकरजी ने बताया है कि दोनों सहेलियों के चले जाने के बाद दुष्यन्त ने कहा है कि अभी दिवस पूरा नहीं हुआ है, और लतामण्डप के बाहर तो कड़ी धूप है अर्थात् मध्याह्न का समय है। इस उक्ति के नीचे पाँच-छह संवाद के बाद तुरन्त नेपथ्य से आवाज आती है कि "चक्रवाकवधुके, आमन्त्रयस्व प्रियसहचरम्, उपस्थिता रजनी।" तो इस तरह की योजना में, अर्थात् मध्याह्न से लेकर रात्रि का प्रारम्भ होने तक का काल केवल पाँच-छह संवाद में ही दिखाना तर्कसंगत नहीं है। यह विसंगति किसी भी दर्शक को खटकनी ही चाहिए। सारभूत बात यही है कि, "अपरिनिर्वाणो दिवस:" और "रजनी उपस्थिता" के बीच में कुछ पाठ्यांश की कटौती हुई होगी ऐसा मानने के लिए हम बाध्य हो जाते हैं। 2. अब इस बात का भी कोई सबूत मिलना आवश्यक है कि यदि कटौती हुई है तो दो कटे हुए भागों को कहाँ, कैसे जोड़ा गया है तथा उसका भी कोई निशान (पदचिह्न) देवनागरी वाचना में कहीं पर है या नहीं?। इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने के लिए तृतीयांक का निम्नोक्त श्लोक की ओर, जो केवल देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना में ही मिलता है, ध्यान आकृष्ट करने की आवश्यकता है:

राजा-

अपरिक्षतकोमलस्य यावत् कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य।।

3-21

देवनागरी वाचना का प्रत्येक श्लोक सामान्यतया बंगाली आदि (बृहत्पाठ परम्परा) में मिलता है, लेकिन उपर्युक्त श्लोक तृतीयांक के इस मोड़ पर खड़ा है कि जो मूल पाठ में कटौती का स्थान है। अत: काटे हुए दो स्थानों को जोड़ने के लिए जिस श्लोक की नवीन रचना हुई है वह स्वाभाविक है कि बंगाली आदि वाचनाओं में नहीं होगा क्योंकि उसकी

45. श्रीहेमचन्द्राचार्य ज्ञान-मन्दिर एवं वाडी पार्श्वनाथ का जैन भण्डार, जिला-पाटण, गुजरात में ये पाण्डुलिपियाँ संगृहीत हैं। उसकी ही वंशज पाण्डुलिपि एल.डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्डोलॉजी, अहमदाबाद में 1948 क्रमांक पर है।

रचना विशेष प्रयोजन से की गयी है। तथा यह श्लोक जिस छन्द में लिखा गया है वह भी हेमचन्द्राचार्य के द्वारा "मालभारिणी" के नाम से 12वीं शती में प्रथम बार अभिज्ञात किया गया है। (उससे पहले भी यह छन्द कालिदास के साहित्य में प्रयुक्त हुआ है, लेकिन वहाँ उसका अभिज्ञान "औपच्छन्दसिक" के नाम से किया जाता था।) अर्थात् शाकुन्तल के मूल पाठ में कटौती करने के बाद, दो भागों को जोड़ने के लिए जो नया श्लोक लिखा गया है, उसका छन्द भी ध्यानास्पद बनता है, क्योंकि राघवभट्ट जब उसकी मालभारिणी जैसे नये नाम से पहचान दे रहे हैं तब वह भी "यह श्लोक उत्तरवर्ती काल में लिखा गया होगा" इसका प्रमाण बन सकता है। 3. बंगाली वाचना में नायक-नायिका का जो प्रेमभरा सहचार वर्णित है उसमें मुख्य रूप से दो प्रसंग हैं। (क) दुष्यन्त ने शकुन्तला के हाथ में मृणालवलय रूप कंकण पहनाया है, तथा (ख) पुष्परज से कलुषित हुई उसकी दृष्टि को वदनमारुत से निर्मल कर दिया है। एवमेव, इन दोनों प्रसंगों के प्रवर्तन में दुष्यन्त ने शकुन्तला को "जीवितेश्वरी" के रूप में उल्लिखित किया है, तथा शकुन्तला ने दुष्यन्त को "आर्यपुत्र" शब्द से सम्बोधित किया है। इससे दोनों के बीच में स्वाभाविक रूप से ही अपनेपन का भाव उदित हुआ है, और इससे सहज प्रेम का एक चित्र प्रस्तुत होता है। लेकिन देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में उपर्युक्त दोनों प्रसंगों को संक्षेपीकरण के आशय से हटाया गया है। अत: उस संक्षिप्त पाठ्यांश में से स्वाभाविक प्रेम का चित्र प्रस्तुत करनेवाले दोनों प्रसंग अदृश्य हो गये हैं। अब इन दृश्यों को हटाकर किसको स्थानापन्न किया गया है? इसकी भी जिज्ञासा होगी। तो यहाँ पर महाभारत के आदिपर्व में आये हुए शकुन्तलोपाख्यान (सम्भवपर्व, अध्याय-67) का अनुकरण करते हुए दुष्यन्त के द्वारा गान्धर्व-विवाह का प्रस्ताव, बल्कि कण्व के आने की प्रतीक्षा किये बिना ही शकुन्तला को गान्धर्व-विवाह का रास्ता बताते हुए उसको उकसाने जैसे प्रसंगों का सन्निवेश किया गया है। महाभारत के शब्द इस तरह के हैं:-

दु:षन्त उवाच-

गान्धर्वेण च मां भीरु विवाहेनैहि सुन्दरि।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते।।4।।

शकु० उवाच-

फलाहारो गतो राजन् पिता मे इत आश्रमात्।
तं मुहूर्तं प्रतीक्षस्व, स मां तुभ्यं प्रदास्यति।।5।।

दु:षन्त उवाच-

इच्छामि त्वां वरारोहे भजमानामनिन्दिते।
त्वदर्थं मां स्थितं विद्धि, त्वद्-गतं हि मनो मम।।6।।

आत्मनो बन्धुरात्मैव गतिरात्मैव चात्मनः।
आत्मनैवात्मनो दानं कर्तुमर्हसि धर्मतः।। 7।।[46]

इसमें दुष्यन्त की भोगेच्छा इतनी प्रबल है कि कण्व मुनि नजदीक में ही फलाहार ढूँढने गये हैं ऐसा शकुन्तला के द्वारा कहे जाने पर भी वह उनकी प्रतीक्षा नहीं कर सकता है। गान्धर्व-विवाह करने में धर्म का लोप नहीं होता है इत्यादि कह कर जैसे महाभारत में दुष्यन्त ने शकुन्तला को उकसाया है वैसे ही देवनागरी के परिवर्तित किये गये पाठ में भी गान्धर्व-विवाह वाले श्लोक का नवीन प्रक्षेप करके, शकुन्तला को उकसाया जाता है। नाटक में दुष्यन्त शकुन्तला को सहेलियों से भी सलाह-मशविरा करने के लिए अवकाश नहीं देता है। तथा अपरिक्षतकोमलस्य यावत्० इत्यादि शब्दों से (उपर्युक्त नवीन श्लोक में) दुष्यन्त रंगमंच पर शकुन्तला के अधरोष्ठ का रसपान करने की प्रकट शब्दों में माँग करता है, जो उसके महाभारत-वर्णित स्वरूप के साथ सुसंगत बैठता है। किन्तु वह कालिदास के द्वारा संकल्पित साक्षात् पिनाकिन् जैसे धीरोदात्त चरितवाले नायक से विरुद्ध लगता है। महाकवि कालिदास ने इस नाटक में जो उदात्त चरितवाला नायक निरूपित करने का उपक्रम रखा था उसको संक्षेपीकरण के सिलसिले में दुर्भाग्य से भुला दिया गया, और फिर से महाभारत का भोगेच्छुक और उतावलापन दिखानेवाला दुष्यन्त देवनागरी शाकुन्तल में हाजिर हो गया। साथ में दूसरा दुर्भाग्य यह भी प्रकट हुआ कि यह गान्धर्वेण विवाहेन०वाला देवनागरी वाचना का श्लोक बंगाली एवं मैथिली परम्परा में भी चुपके से प्रविष्ट हो गया। (क्योंकि वह मूल महाभारत में था।) अतः बंगाली पाठ में स्वाभाविक और निर्मल प्रेम का चित्र होने के साथ साथ, उक्त प्रक्षेप के कारण, अधीर दुष्यन्त भी दृश्यमान होने लगा। निष्कर्षतः 1. देवनागरी वाचना के पाठ में से (संक्षिप्तीकरण के कारण) स्वाभाविक प्रेम का चित्र गायब हो गया और महाभारत के भोगेच्छुक दुष्यन्त का पुनरागमन हुआ तथा 2. बंगाली वाचना में स्वाभाविक चित्र यथावत् रहते हुए भी महाभारत का उतावलापन दिखाता हुआ, गान्धर्व-विवाह का रास्ता जताता हुआ, भोगेच्छा को मुखरित करता हुआ दुष्यन्त भी आकारित किया गया। पहले में संक्षेपजनित क्षति है, तो दूसरे में प्रक्षेपजनित विकृति है। किन्तु दोनों परम्पराओं की उच्च स्तरीय पाठालोचना करने से इन दोनों को, याने संक्षेप और प्रक्षेप को पहचाना जा सकता है। यदि उसे नहीं पहचानेंगे तो कालिदास के अभिमत नायक को हम नहीं देख सकेंगे। (आज पाण्डुलिपियों में संचरित हुए देवनागरी पाठ में महाभारत का दुष्यन्त है और उपलब्ध बंगाली पाण्डुलिपियों के पाठ में दो रूपवाला दुष्यन्त दिखायी दे रहा है।)

3-2-2 देवनागरी वाचना में संक्षेप का दूसरा प्रमाण भी सरलता से देखा जा सकता

46. महाभारते आदिपर्वणि, सम्भवपर्वणि अध्यायः 67 (श्लोकाः 4, 5, 6 एवं 7) भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पुणे, 1933

है। यहाँ तृतीयांक का जो उपान्त्य श्लोक है उसमें, "हस्ताद् भ्रष्टं बिसाभरणम्" शब्दों के होते हुए भी शकुन्तला के हाथ से गिरते हुए किसी मृणाल-वलय का निर्देश नहीं है। दूसरी ओर अङ्क के आरम्भ में तो कहा गया था कि शकुन्तला ने अपने हाथ में जो मृणालवलय पहना है वह प्रशिथिल है लेकिन उसके गिरने का प्रसंग देवनागरी पाठ में कहीं है ही नहीं, जो संक्षिप्त किये गये पाठ का सबल प्रमाण बनता है।

3-2-3 देवनागरी पाठ में प्रक्षेप के उदाहरण भी कुत्रचित् मिलते हैं। जैसे कि तृतीयांक में जब शकुन्तला ने कहा कि उसे उस राजर्षि की अनुकम्पा का भाजन बनाया जाय तब दोनों सहेलियों ने उसे अभिनन्दन देने का विचार किया। क्योंकि शकुन्तला जिसमें आसक्त हुई थी वह पौरवों में ललामभूत था। प्रियंवदा की उक्ति है-सखि, दिष्ट्या अनुरूपस्ते अभिनिवेशः। सागरम् उज्झित्वा कुत्र वा महानदी अवतरति। क इदानीं सहकारम् अन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते। यहाँ दो उपमानों से शकुन्तला का अभिनन्दन किया जा रहा है। परन्तु उसमें एक ही विचार की पुनरुक्ति भी हो रही है। इसके सामने बंगाली वाचनानुसारी पाठ में दूसरा वाक्य है ही नहीं। अब इससे भी सिद्ध होता है कि देवनागरी के पाठ में पुनरुक्ति रूप दूसरा वाक्य प्रक्षिप्त है।

4-0-1 बंगाली वाचना और देवनागरी-दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में, चतुर्थाङ्क के प्रारम्भ में ही एक महत्त्वपूर्ण भेद यह मिलता है कि अन्यमनस्का शकुन्तला को दुर्वासा मुनि शाप देकर चल पड़े तब उनसे शापमुक्ति की याचना करने के लिए कौन जाता है, अनसूया या प्रियंवदा?। प्रथम वाचना के मुताबिक अनसूया जाती है और द्वितीय वाचनानुसार प्रियंवदा जाती है। दोनों सहेलियाँ पुष्पावचयन कर रही थीं तब उन्होंने सुना कि आश्रम के द्वार पर कोई अतिथि आकर खड़े थे और उन्होंने शकुन्तला को शाप दे दिया है। बंगाली वाचना में, इस प्रसंग के जो संवाद अनसूया के मुख में रखे गये थे वे सब देवनागरी वाचना में पलट कर प्रियंवदा के मुख में रखे गये हैं। जैसे (बंगाली वाचना में)-

प्रियंवदा-को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहवदि। ता गच्छ। पादेसुं पडिअ णिअत्तावेहि जाव से अहं पि अग्धोदअं उवकप्पेमि। (कोऽन्यः हुतवहाद् दग्धुम् प्रभवति। तद्गच्छ। पादयोः पतित्वा निवर्तय यावद् अस्याहमप्यर्घोदकं उपकल्पयामि।)

अनसूया-तधा। (तथा।) (इति निष्क्रान्ता)

प्रियंवदा-(पदान्तरे स्खलितं रूपयन्ती) अम्मो, आवेअक्खलिदाए पब्भट्ठं मे अग्गहत्थादो पुप्फभाअणं। (अम्मो, आवेगस्खलितायाः प्रभ्रष्टं मे अग्रहस्तात् पुष्पभाजनम्।) (नाट्येन पुष्पावचयं विधत्ते।)

अनसूया-(प्रविश्य) सहि, सरीरी विअ कोवो कस्स सो अणुणअं गेण्हदि। किं चि उण साणुकम्पो किदो। (सखि, शरीरी इव कोपः, कस्य सः अनुनयं गृह्णाति। किंचित् पुनः सानुकम्पः कृतः।)

प्रियंवदा–एदं जेव तस्सिं बहुदरं। ता कधेहि। (एतदेव तस्मिन् बहुतरम्। तत्कथय।)

अनसूया–जदो णिअत्तिदुं णेच्छदि तदो पादेसुं पणमिअ विण्णाविदो मए। भअवं। पढमभत्तिं अवेक्खिअ अज्ज तुह अविण्णादपहावपरमत्थस्स दुहिदाजणस्स भअवदा अअं अवराहो मरिसिदव्वो त्ति। (यत: निवर्तितुं नेच्छति तत: पादयो: प्रणम्य विज्ञापित: मया। भगवन्, प्रथमभक्तिमवेक्ष्य अद्य तव अविज्ञात-प्रभावपरमार्थस्य दुहितृजनस्य भगवता अयमपराध: मर्षितव्य: इति।)

प्रियंवदा–तदो तदो। (ततस्तत:।)

अनसूया–तदो सो ण मे वअणं अण्णधा भविदुं अरिहदि। किं तु अहिण्णाणाहरणदंसणादो से सावो णिअत्तिस्सदि त्ति मन्तअन्तो ज्जेव अन्तरिदो। (तत: स: न मे वचनमन्यथा भवितुमर्हति। किं तु अभिज्ञानाभरणदर्शनादस्या: शाप: निवर्तिष्यते इति मन्त्रयन् एवान्तरित:।)

प्रियंवदा–सक्कं दाणिं अस्ससिदुं। अत्थि तेण राएसिणा संपत्थिदेण अत्तणो णामाङ्किदं अङ्गुलीअअं सुमरावणीअं ति सउन्तलाहत्थे सअं जेव पिणद्धाविदं। एसो ज्जेव तस्सिं साहीणो उवाओ भविस्सदि। (शक्यमिदानीमाश्वसितुम्। अस्ति तेन राजर्षिणा सम्प्रस्थितेनात्मन: नामाङ्कितमङ्गुरीयकं स्मरणीयमिति शकुन्तलाहस्ते स्वयमेव पिनद्धम्। तदेष: एव तस्मिन्स्वाधीन: उपाय: भविष्यति।)

अनसूया–एहि। देवकज्जं दाव से णिव्वत्तम्ह। (एहि, देवकार्यं तावदस्या: निर्वर्तयाव।) (इति परिक्रामत:)

प्रियंवदा–(विलोक्य) अनसूये, पेक्ख दाव वामहत्थविणिहिदवअणा आलिहिदा विअ पिअसही तग्गदाए चिन्ताए अत्ताणअं पि ण विभावेदि। किं उण अदिधिविसेसं। (अनसूये, प्रेक्षस्व तावत् वामहस्त-विनिहितवदना आलिखिता इव प्रियसखी तद्गतया चिन्तया आत्मानमपि न विभावयति। किं पुन: अतिथिविशेषम्।)

अनसूया–पिअंवदे, दोण्णं जेव णो हिअए एसो वुत्तन्तो चिट्ठदु। रक्खणीआ खु पइदिपेलवा पिअसही। (प्रियंवदे, द्वयो: एव नौ हृदये एष: वृत्तान्त: तिष्ठतु। रक्षणीया खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी।)

प्रियंवदा–को दाव उण्होदएण णोमालिअं सिञ्चदि। (को तावदुष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति)

(इत्युभे निष्क्रान्ते)

बंगाली वाचना के इस पाठ में परिवर्तन करके देवनागरी-दाक्षिणात्य में ऐसा दिखाया जाता है कि प्रियंवदा दुर्वासा से शाप-मोचन की प्रार्थना के लिए गयी थी। अब यह सोचना है कि इन दोनों में से कहाँ पर मौलिक पाठ होने की सम्भावना है?। निम्न स्तरीय

पाठालोचना के अनुसार तो बंगाली पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ पाठ प्राचीनतर है। और काश्मीर की शारदा लिपि में संचरित हुआ पाठ प्राचीनतम होने का दावा करता है, क्योंकि बंगाली-लिपि से पहले शारदा-लिपि का प्रचलन हुआ था। किन्तु लिपियों की ऐतिहासिकता से बाहर निकलकर सोचा जाय तो भी यहाँ पर अनसूया का स्वभाव अधिक स्थिर और काबिल होने से वही दुर्वासा के पास पहुँचे उसमें औचित्य है। देवनागरी पाठ के अनुसार यदि अनसूया के द्वारा प्रियंवदा को इस कार्य के लिए भेजा जाता है तो वह उसके नटखट चरित्र के साथ संगत नहीं होता है। अत: शाप-मोचन के लिए, बंगाली पाठानुसार अनसूया को ही भेजा जाय वही मौलिक प्रतीत होता है। और इसके प्रतिपक्ष में, याने देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में, शाप-मोचन की याचना के लिये प्रियंवदा का जाना पाठ-विकृति का परिणाम लगता है। क्योंकि वह प्रियंवदा के चरित्र के अनुरूप नहीं है।

इस प्रसंग का पूर्वार्द्ध बंगाली पाठ में भले ही सुरक्षित रहा हो, किन्तु जैसे ही हम आगे चल कर देखते हैं तो उसमें भी इस प्रसंग का उत्तरार्ध दूषित हुआ है ऐसा दिख रहा है। जैसे, शकुन्तला को जो शाप मिला है उसको छुपा कर रखने का प्रस्ताव अनसूया ने रखा है। यह बात अनसूया की प्रकृति के अनुरूप नहीं लगता है। इस विसंगति को समझने के लिए अवशिष्ट रही मैथिली एवं काश्मीरी वाचना के पाठ को देखना होगा। मैथिली में तो बंगाली पाठ जैसा ही चित्र है। केवल काश्मीरी पाठ में ऐसा है कि दुर्वासा के शाप की बात दो सहेलियों के बीच संगोपित रखने का प्रस्ताव प्रियंवदा के द्वारा रखा जाता है। तुलनात्मक अभ्यास से यह बात साफ प्रकट होती है कि काश्मीरी पाठ में शापमोचन के लिए अनसूया जाती है और शाप को छुपा कर रखने की बात प्रियंवदा कहती है। लेकिन इस काश्मीरी पाठ का जब मैथिली में संक्रमण हुआ होगा तब अनसूया के मुख में एक अधिक उक्ति का प्रक्षेप किया गया है: "एहि देवदाकज्जं दाव णिव्वुत्तम्ह। (इति परिक्रामत:।)"। (अर्थात् चलो हम दोनों उसका यानि शकुन्तला का देवकार्य सम्पन्न करें। ऐसा एक अधिक वाक्य बोलकर दोनों सहेलियाँ रंगमंच पर परिक्रमण करती हैं।) किन्तु इस नये अधिक वाक्य के कारण उसके पीछे आ रही तीनों उक्तियों की वक्ता उलटा-पुलटा हो जाती हैं। जिसके कारण शाप को छुपा के रखने की बात, जो मूल में प्रियंवदा ने की थी, वह अनसूया के मुख में आ जाती है। मैथिली वाचना में मिल रहा उपर्युक्त एक अधिक वाक्य प्रक्षिप्त है ऐसा मानने का आधार क्या है? तो उसके दो समाधान हैं: (1) दुर्वासा का शाप मिलने जैसी भूकम्पीय घटना आकारित हो जाने के बाद उसकी छाया से बाहर निकलकर क्या अनसूया देवता-कार्य के निर्वर्तन को याद करने की मानसिकता में रह सकती है? यह सम्भव ही नहीं है। अत: काश्मीरी वाचना के पाठ में जैसे प्रियंवदा कहती है कि हमारी सखी को राजा ने अङ्गूठी दे रखी है, उससे वह स्वाधीनोपाय है। तब दोनों सहेलियाँ रंगमंच पर परिक्रमण करके सीधा उसी कुटीर पर जाय (जहाँ शकुन्तला अपने प्रिय के विचारों में खोई खोई बैठी है) वही

उचित है। (2) यह दूसरा वाक्य प्रक्षिप्त होने का प्रमाण यह भी है कि शुरू में बताया गया है कि शकुन्तला को (स्वयं) सौभाग्यदेवता अर्चन भी करना है इस लिए कुछ ज्यादा पुष्पों का चयन किया जाय। इस पूर्वोक्त सन्दर्भ के विरुद्ध जब बोला जाता है कि–एहि, देवकार्यं तावद् अस्या: (शकुन्तलाया:) निर्वर्तयाव। तब वह असंगत सिद्ध होता है। क्योंकि शकुन्तला के बदले में सहेलियाँ ही उसके लिए देवकार्य सम्पन्न करने के लिए उद्यत हो जाती हैं। और देवता के पास न जा कर वे दोनों पहुँचती तो वहीं हैं जहाँ शकुन्तला अन्यमनस्क होकर बैठी है! अत:, मैथिली वाचना में दोनों सहेलियों के रंगमंच पर परिक्रमण को दिखलाते हुए जो एक अधिक वाक्य मिलता है, वह प्रक्षिप्त ही है। जिसका अनुसरण करते हुए बंगाली वाचना में, (और तदनन्तर देवनागरी इत्यादि में भी) प्रियंवदा की उक्ति अनसूया की बन जाती है।

शाप–मोचन का उपाय माँग कर अनसूया वापस आकर सब बात बताती है तो प्रियंवदा कहती है कि दुष्यन्त ने हस्तिनापुर जाते समय शकुन्तला को अङ्गूठी दी है जिससे वह स्वाधीनोपाय है, अब चिन्ता का कोई कारण नहीं है। तब प्रियंवदा से यह बात जान कर अनसूया ने जरूर इतनी सावधानी बरती है कि उसने शकुन्तला से वह अङ्गूठी किसी भी तरह से प्राप्त करके सुरक्षित करली है, और चतुर्थाङ्क के अन्त में (दोनों वाचनाओं के पाठ के अनुसार) अभिज्ञानाभरण रूप उस राजमुद्रा को शकुन्तला के हाथ में अनसूया ने ही सौंप दिया है। क्योंकि उसी अनसूया ने दुर्वासा के मुख से प्रत्यक्ष में सुना था कि किसी अभिज्ञानाभरण से ही शाप की निवृत्ति होगी। इस लम्बी चर्चा से सारभूत बात यह निकलती है कि (1) शाप–मोचन माँगने के लिये अनसूया का जाना–वही मौलिक सिद्ध होता है तथा (2) शाप की बात छुपा के रखने का प्रस्ताव अनसूया का नहीं हो सकता, वह प्रियंवदा का ही है। बंगाली पाठ में पहली बात सुरक्षित रही है, लेकिन दूसरी अशुद्धि का प्रवर्तन मैथिली परम्परा में हुए प्रक्षेप के कारण हुआ है। परिणामत: तीसरे स्तर पर देवनागरी और दाक्षिणात्य पाठों में दोनों तरह की अशुद्धियाँ संक्रान्त होकर सर्वत्र प्रसारित हो गयी होंगी।

अब एक छोटी सी आवश्यक स्पष्टता की जाती है: मौलिक पाठ में विचलन होने का क्रम काश्मीरी से शुरू करके, दूसरे स्तर पर मैथिली है और तदनन्तर तृतीय स्तर पर बंगाली वाचना है ऐसा मन्तव्य कहाँ से प्राप्त हुआ है? ऐसा प्रश्न किया जाय तो उसका सप्रमाण उत्तर अनुगामी अनुच्छेद में होने वाला है।

4–1–1 चतुर्थाङ्क में श्लोक–संख्या 21 से 26 तक की मिलती है। जैसे, मैथिली वाचना में 26 श्लोक हैं, तो बंगाली वाचना में 24 श्लोक हैं। किन्तु राघवभट्ट की देवनागरी वाचना में केवल 21 श्लोक प्राप्त होते हैं। इस तरह की कम–ज्यादा श्लोकसंख्या ही हमें विचार करने के लिए प्रेरित करती है कि किस वाचना में मौलिक पाठ सुरक्षित रहा होगा,

या किस में प्रक्षेप हुआ होगा, अथवा किस वाचना के पाठ में संक्षेप हुआ होगा?। बंगाली वाचना के पाठ में, चतुर्थाङ्क के आरम्भ में प्रभात वेला का आकलन करने के लिए शिष्य पर्णकुटीर से बाहर निकल कर जिन चार श्लोकों का गान करता है, वे निम्नोक्त हैं

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्,
आविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां,
लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु[47]।। 4-2

अपि च–

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनेन
दुःखानि नूनमतिमात्रदुरुद्वहानि[48]।। 4-3

अपि च–

कर्कन्धूनामुपरि तुहिनं रञ्जयत्यग्रसन्ध्या
दार्भं मुञ्चत्युटजपटलं वीतनिद्रो मयूरः।
वेदिप्रान्तात् खुरविलिखिताद् उत्थितश्चैष सद्यः,
पश्चादुच्चैर्भवति हरिणः स्वाङ्गमायच्छमानः[49]।। 4-4

अपि च–

पादन्यासं क्षितिधरगुरोर्मूर्ध्नि कृत्वा सुमेरोः
क्रान्तं येन क्षयिततमसा मध्यमं धाम विष्णोः।

---

47. (अनुवाद)–एक ओर चन्द्रमण्डल अस्तशिखर को पहुँच रहा है और एक ओर अरुण को आगे किये उदित हो रहा है सूर्य। दो तेज और दोनों का एक साथ व्यसन (अस्त) तथा अभ्युदय। इनसे लोक को शिक्षा मिलती है अपनी दशा बदलने की। कालिदासग्रन्थावली, (भाग-2), अनु. पं. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी, कालिदास अकादमी, उज्जयिनी, 2008, पृ. 399

48. (अनुवाद)–चन्द्र डूब गया तो वही कुमुद्वती अब आँखों को आनन्दित नहीं कर रही है। इष्ट (प्रिय) के प्रवास से उत्पन्न दुःख अबलाओं को अत्यन्त दुःसह होते हैं। -कालिदासग्रन्थावली, (भाग-2), अनु. पं. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी, कालिदास अकादमी, उज्जयिनी, 2008, पृ. 399

49. (अनुवाद)–और देखो बेरों के ऊपर पड़ी ओस को उषाकाल रंग रहा है, जागा मोर लकड़ी के उटज पटल को छोड़ रहा है, खुरों से खुदे वेदिका के छोर से हाल ही उठ खड़ा हुआ मृग अपने शरीर को लम्बा खींचते हुए पिछले भाग से ऊँचा हो रहा है-कालिदासग्रन्थावली, (भाग-2), अनु. पं. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी, कालिदास अकादमी, उज्जयिनी, 2008, पृ. 398

सोऽयं चन्द्रः पतति गगनादल्पशेषैर्मयूखै-
रत्यारूढिर्भवति महतामप्यपभ्रंशनिष्ठा[50] ।। 4-5

(द्विवेदी, 2008)

बंगाली वाचना के पूर्वनिर्दिष्ट चार श्लोकों का एक साथ होना सम्भव नहीं लगता है, क्योंकि नाटक जैसी समय सीमा में आबद्ध कला में इतना लम्बा वर्णन असह्य होता है। एवमेव, यहाँ तो कण्वाश्रम का शिष्य केवल प्रभातकाल का आकलन करने के लिए इन श्लोकों का गान करता है। इस सन्दर्भ को देखते हुए यहाँ चार चार श्लोकों का होना सम्भव नहीं है। मतलब कि यहाँ बंगाली वाचना पाठ मौलिकता के नजदीक नहीं लगता है। अतः अन्य वाचनाओं में इस स्थान की क्या स्थिति है? इसको ध्यान में लेकर पाठालोचना शुरू करनी होगी। जैसे, उपर्युक्त चार श्लोकों में से पहले दो "याति"० एवं "अन्तर्हिते"० श्लोकों को देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं ने मान्य किया है। तथा काश्मीरी वाचना ने केवल "कर्कन्धूनाम्"० और "पादन्यासं"० को ही मान्य किया है। अर्थात् इन दोनों वाचनाओं में केवल दो दो श्लोकों को ही स्थान मिल पाया है। परन्तु दोनों वाचनाओं ने जिन दो श्लोकों को मान्य रखा है वे दोनों भिन्न-भिन्न श्लोक हैं। अलबत्ता चार चार श्लोकों को स्वीकारनेवाली बंगाली पाठपरम्परा की अपेक्षा से केवल दो ही श्लोकों को मान्य करनेवाली वाचनाओं को ही बेहतर मानना होगा। अतः यहाँ सोचना होगा कि केवल दो दो श्लोकों को प्रस्तुत करनेवाली देवनागरी एवं काश्मीरी जैसी वाचनाओं में से किस का पाठ मौलिक, अर्थात् कालिदास-प्रणीत होगा?

देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में जिन दो श्लोकों को ("याति"० एवं "अन्तर्हिते"०) स्थान मिला है, उन दोनों में शकुन्तला के भावी दुर्दैव का सूचन रखा गया है, किन्तु किसी भी नाट्यकृति में विचारों की पुनरुक्ति करने में समय की हानि होती है, जो नाट्यकला में असह्य मानी गयी है। दूसरा, इन दोनों श्लोकों को "अपि च" निपात से बाँधा गया है, लेकिन "अपि च" के विनियोग का पूर्वोक्त स्वारस्य यहाँ घटित नहीं होता है। तीसरा, इन श्लोकों में जो वसन्ततिलका छन्द का विनियोग हुआ है, वह विरह, करुणा, दुःख भरे भावों की अभिव्यक्ति के लिए संगत नहीं बैठता है। इन श्लोकों में तो शकुन्तला के भावी दुःख का सूचन किया जा रहा है, अतः यहाँ वसन्ततिलका जैसे छन्द को देख कर भी यह सूचित होता है कि ये कालिदास-प्रणीत नहीं हो सकते हैं।

इसी तरह से, भूतकाल में आचार्य शरदरञ्जन राय (राय, 1908) ने भी इन दोनों को

---

50. (अनुवाद)- जिस (इन्द्र) ने पर्वतराज सुमेरु के सिर पर पादन्यास पर अँधियारी दूर करते हुए भगवान् विष्णु के दूसरे धाम पर विचरण किया था वही चन्द्र अब बहुत कम बची किरणों के साथ आकाश से गिर रहा है। अत्यारूढि बड़ों को भी पतन का मुख दिखलाती है। -कालिदासग्रन्थावली, (भाग-2) अनु. पं. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी, कालिदास अकादमी, उज्जयिनी, 2008, पृ. 398

प्रक्षिप्त मानना चाहिए ऐसी बात कही थी। उनका कहना था कि पूर्वार्ध में जो वर्णन है वह प्राभातिक समय का आकलन करने के लिए उपयुक्त नहीं है। यदि सूर्य आविष्कृत हो ही गया है तो फिर "होमवेला हो गयी है, चलो गुरु को उसका निवेदन किया जाय" ऐसा कहना सुसंगत नहीं है। यदि इस श्लोक में "आविष्कृतारुण" ऐसे सामासिक शब्द को पाठान्तर के रूप में लिया जाय तो व्यसनोदय के यौगपद्य का कथन दूषित होता है। तथा इस श्लोक में प्रक्रमभङ्ग दोष भी हो रहा है, इस लिए इन दोनों श्लोकों का मौलिक होना सम्भव नहीं है।

दूसरे पक्ष में, याने काश्मीरी वाचनानुसारी पाठ में अन्य दो (कर्कन्धूनाम्० एवं पादन्यासं०) श्लोकों को स्वीकार किया गया है। यहाँ सब से पहले यह कहना होगा कि ब्राह्मी लिपि से निकली हुई अन्यान्य लिपियों में शारदा लिपि का क्रम बंगालीलिपि की अपेक्षा से पहले है। अतः उसमें संचरित हुई पाठपरम्परा को अधिक श्रद्धेय एवं प्राचीनतम मानना होगा। फिर भी इसकी मौलिकता पर तर्कपूर्ण विचार करना होगा। देवनागरी की तुलना में देखा जाय तो काश्मीरी वाचनावाले दोनों श्लोकों में मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग हुआ है, जो उस श्लोक में प्रकट किये गये शकुन्तला के भावी दुःख भरे दिवसों के साथ सुसंगत है। दूसरा, इन दोनों श्लोकों को भी "अपि च" निपात से बाँधा गया है, तथापि इन दो श्लोकों की निरूप्यमाण विषयवस्तु में पुनरुक्ति नहीं है क्योंकि कर्कन्धूनाम्० वाले श्लोक की प्रासंगिकता जाँची जाय तो (= प्रभात के समय का आकलन करना) स्वयं स्पष्ट है, तथा पादन्यासं क्षितिधरगुरोः० वाले दूसरे श्लोक से प्राकरणिक अर्थ (=शकुन्तला की भावी अवदशा) का सूचन हो रहा है, और उसके साथ अनसूया की उक्ति का अनुसन्धान भी हो जाता है। परिणामतः यहाँ इन दोनों श्लोकों के बीच में जो "अपि च" का विनियोग हुआ है, वह भी समुच्चयार्थक के रूप में सुसंगत बैठता है। कण्वाश्रम के शिष्य ने पहले श्लोक में, यज्ञवेदी के प्राङ्गण में अपने सम्मुख जो चहलपहल हो रही है उसका चित्र खींचा है। दूसरे श्लोक में शिष्य ने ऊर्ध्व दृष्टि करके देखा तो चन्द्रमा का पतन हो रहा है, उसका वर्णन किया है। कालिदास किसी भी दृश्य की द्विपार्श्वी रमणीयता को वर्णित करने के लिये "अपि च" का प्रयोग करते हैं, ऐसा जो पहले कहा गया है उसका चारितार्थ्य इन दो श्लोकों में ही सिद्ध होता है। इस दृष्टि से इन (कर्कन्धूनाम्० एवं पादन्यासं०) दोनों श्लोकों की ही मौलिकता सिद्ध होती है।

पूर्वोक्त चार श्लोकों में से (देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना में जिन दोनों को मान्यता मिली है वे) दो श्लोक प्रक्षिप्त होने के प्रमाण मिल रहे हैं और अन्य दो श्लोकों (जिनको काश्मीरी वाचना में मान्यता मिली है उन)का मौलिक होना प्रतीत होता है तो अब प्रश्न होगा कि यह बात कैसे बनी कि बंगाली वाचना में चारों श्लोक एक स्थान पर हाजिर हो गये? इस प्रश्न का उत्तर बंगाली वाचना में से नहीं मिल सकता है। उसके लिए तो इस

समग्र चर्चा में अवशिष्ट रही मैथिली वाचना की पाठपरम्परा को देखना होगा। वहाँ पर भी यद्यपि उपर्युक्त चारों श्लोकों का स्वीकार हुआ है, किन्तु उसमें इन चारों श्लोकों का उपस्थिति क्रम भिन्न है, वह ध्यातव्य है। मैथिली वाचना में 1. कर्कन्धूनाम्०, 2. पादन्यासं०, 3. याति० और 4. अन्तर्हिते०–इस क्रम से चारों श्लोकों को अवतारित किया है। यह क्रमभेद इस बात का द्योतक हो सकता है कि काश्मीरी वाचना के जिन दो श्लोकों में मौलिकता झलक रही है उसका स्थान मैथिली परम्परा में पहला बना रहा है। और फिर कालान्तर में, उसके पीछे दो नये श्लोकों का प्रक्षेप हुआ होगा। यहाँ याति० और अन्तर्हित० श्लोकों को कब किसने प्रक्षिप्त किया यह तो हम नहीं जान सकते हैं, लेकिन शारदा-लिपि की पाठपरम्परा में मौलिक पाठ का संचरण होने के बाद, द्वितीय स्तर में मैथिली में उसका अनुसरण होने का प्रमाण यही है कि काश्मीरी पाठ का श्लोकक्रम उसमें यथावत् रहा है। और सामान्यतया प्रक्षिप्तांश का क्रम दूसरा ही रहता है, इस दृष्टि से प्रक्षिप्त सिद्ध हो रहे दोनों श्लोकों का क्रम तीसरे-चौथे स्थान पर रखा गया है। तथा "अपि च" जैसे समुच्चयार्थक निपात का सहारा लेकर ऐसा प्रक्षेप करना आसान भी था। पाठसंचरण के दौरान "अपि च" से प्रक्षेपों का प्रस्ताव करने की चेष्टा एक आम बात है।

मैथिली पाठपरम्परा में दो नये श्लोकों का प्रक्षेप होने के बाद, जब शङ्कर ने (झा, 1957) इन दोनों श्लोकों के ऊपर रसचन्द्रिका जैसी टीका लिखी होगी तब इन दोनों का महत्त्व बढ़ गया होगा। शङ्कर ने याति० वाले श्लोक का ध्वन्यर्थ निकालते हुए लिखा है कि "एतावता पतितः सौभाग्यगर्विताया: शकुन्तलाया अग्रे दुःखं भविष्यतीति सूचितम्।", तथा अन्तर्हिते० श्लोक का व्यंग्यार्थ बताते हुए लिखा कि "अन्यापदेशेन शकुन्तला झटिति दुष्यन्तचित्ताहरणरूपेणात्यारोहेण विरहाम्बुधौ पतिष्यतीति सूचितम्।" (रसचन्द्रिका, पृ. 235) इस टीका ने प्रक्षिप्त श्लोकों में रही चमत्कृति जरूर उद्घाटित की, लेकिन उसमें पुनरुक्ति हो रही है एवं उसमें प्रासंगिक सन्दर्भ (प्रभातकाल का बोध) छूट गया है–यह बात शङ्कर ने नहीं पहचानी। परिणामतः, तीसरे स्तर पर, शङ्कर ने जिसका ध्वन्यर्थ दिखाया था इन दोनों (प्रक्षिप्त श्लोकों) को बंगाली वाचना में प्राथम्य मिल गया। अर्थात् शाकुन्तल की पाठपरम्परा में दो मौलिक श्लोकों के साथ दो नये श्लोकों का प्रक्षेप होने के बाद, बंगाली वाचना में इन चारों का क्रम उलटा-पुलटा किया गया होगा। जिसमें याति० एवं अन्तर्हित० को पहला-दूसरा स्थान मिला और कर्कन्धूनाम्० एवं पादन्यासं० को तीसरा-चौथा स्थान दिया गया। (मैथिली पाठ से विपरीत क्रम जो बंगाली पाठ में दृश्यमान हो रहा है उसमें ही पाठविचलन का पौर्वापर्य निर्धारित हो रहा है।) चतुर्थ स्तर पर, जब मूल पाठ में कटौती करके इस नाटक के संक्षेपीकरण का कार्य हाथ पर लिया गया होगा तब, (बंगाली वाचना में) तीसरे एवं चौथे क्रम पर जो श्लोक थे उनको देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में से हटाया गया। लेकिन हकीकत ऐसी सिद्ध हो रही है कि जिन दो श्लोकों को देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में से हटाया गया वे ही केवल मौलिक होने का दावा कर सकते हैं।

इस तरह से प्रातःकाल का वर्णन करने के बहाने चतुर्थाङ्क के प्रारम्भ में "अपि च" निपातों से जुड़ी चार श्लोकों वाली जो शृङ्खला मिल रही है उसका तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने से शाकुन्तल की पाठपरम्परा में जो विचलन हुआ है उसका पौर्वापर्य निर्धारित किया जा सकता है। यह एक स्थान ऐसा पहली बार ध्यान में आ रहा है जिसके सहारे हम शाकुन्तल के मौलिक पाठ के विचलन के क्रम को समझ सकते हैं।

4-1-2 बंगाली वाचनानुसारी चतुर्थाङ्क के पाठ में एक स्थान द्रष्टव्य है: शकुन्तला की बिदाई के समय आश्रमस्थित सभी पेड़-पौधे और पशु-पक्षी आदि संतप्त हैं। यहाँ पर अनसूया कहती है कि इस आश्रम में ऐसा कोई नहीं है जो तेरे विरह से दुःखी न हो। देख यह चक्रवाक की स्थिति ..... इत्यादि। उसकी मूल प्राकृत उक्ति इस तरह की है "सहि, ण णो अस्समपदे अत्थि को वि चित्तवन्तो जो तए विरहीअन्तो अज्ज ण ऊसुओ ण किदो। पेक्ख,

पुडइणिवत्तन्तरिदं वाहरिदो णाणुवाहरेइ पिअं।
मुहउव्वूढमुणालो तइ दिट्ठिं देइ चक्काओ।। 4-18

(सखि, न नः आश्रमपदे अस्ति कोऽपि चित्तवान् यः त्वया विरह्यमाणः अद्य न उत्सुकः कृतः। प्रेक्षस्व-पुटकिनीपत्रान्तरिताम् व्याहृतः नानुव्याहरति प्रियाम्। मुखोद्व्यूढमृणालः त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः।)

बंगाली पाठ में अनसूया के मुख में रखी चक्रवाक-सम्बद्ध यह एक ही उक्ति मिलती है। दूसरी ओर देवनागरी में इस सन्दर्भ में शकुन्तला एवं अनसूया के द्वारा बोली गयी दो उक्तियाँ मिलती हैं जो निम्न स्वरूप में हैं, यहाँ शकुन्तला की उक्ति से आरम्भ हो रहा है:

शकुन्तला–हला, पश्य, नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरम् अपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारौति, दुष्करमहं करोमीति।

अनसूया–सखि, मा मैवम् मन्त्रय।

एसा वि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसाअदीहअरं।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि।।
(एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्।
गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति।।)

किन्तु इन दोनों में मूल पाठ्यांश में संक्षेप किया ही गया है। इसकी जानकारी हम जब काश्मीरी वाचना का पाठ देखते हैं तब मिलती है, क्योंकि उसमें तीनों उक्तियों वाला अखण्ड पाठ सुरक्षित रहा है, जो निम्नोक्त है:

अनसूया–सहि, ण सो अस्समपदे अत्थि को वि चित्तवन्तो जो तए विरहअन्तीए ण उस्सुओ किदो अज्ज। पेक्ख दाव,

पुडइणिवत्तन्तरिदं वाहरिदो णाणुवाहरेइ पिअं।
मुहउव्वूढमुणालो तइ दिट्ठिं देइ चक्काओ।। 4-18

(सखि, न सः आश्रमपदे अस्ति कोऽपि चित्तवान् यः त्वया विरह्यमाणया न उत्सुकः कृतः अद्य। पश्य तावत्–पद्मिनीपत्रान्तरिताम् व्याहृतः नानुव्याहरति प्रियाम्। मुखोदूढमृणालः त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः।।)।

शकुन्तला–(जनान्तिकम्) हला पेक्ख, नलिनीपत्तन्तरिदंपि सहअरं अदेक्खन्ती आदुरं चक्कवाई आरडइ। दुक्करं खु अहं करेमित्ति। (हला, पश्य, नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरम् अपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्याटति, दुष्करं खलु अहं करोमीति।)

प्रियंवदा–सहि, मा एव्वं मन्तेहि। (सखि, मा मैवम् मन्त्रय।)

एसा वि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसूरणादीहं।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धः सहावेदि।।
(एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विसूरणादीर्घाम्।
गुर्वपि विरहदुःखम् आशाबन्धः साहयति।।)

इस तरह चक्रवाकी से सम्बद्ध तीनों उक्तियाँ काश्मीरी में सुरक्षित रही हैं। तथा मैथिली वाचना में भी ये तीनों सुरक्षित रही हैं, और हम तक पहुँची भी हैं[51] जिसका उल्लेख डॉ० बेलवलकरजी ने नहीं किया है।[52] यद्यपि चक्रवाक की उक्तियों में कटौती हुई है इसकी ओर सबसे पहले ध्यान आकृष्ट करनेवाले मूर्धन्य विद्वान् एस. के. बेलवलकर जी ही थे। (निसर्ग कन्या शकुन्तला, 1962 (वि. सं. 2019) उन्होंने शकुन्तला की एक "निसर्ग कन्या" के रूप में पहचान प्रस्थापित करके ऐसी अपेक्षा व्यक्त की है कि शकुन्तला जब पतिगृह की ओर प्रस्थान कर रही है तब भले ही सहेलियों ने एवं पिता कण्व ने दुर्वासा के शाप की जानकारी शकुन्तला को न दी हो, किन्तु प्रकृति-समस्त में से किसी वनस्पति ने या पशु-पक्षी ने क्यों शकुन्तला को इस शाप के सन्दर्भ में सावधान नहीं किया? यही एक बड़ी समस्या है। ऐसा कुछ होना न केवल अपेक्षित था, अनिवार्य भी था। काश्मीरी वाचना में, चक्रवाकवाले प्रसंग में यह आकारित किया गया है। किन्तु दुर्भाग्य से बंगाली एवं देवनागरी वाचनाओं में कुल तीन उक्तियों में से एक एवं दो उक्तियाँ ही हम तक संचरित हो कर आई हैं। यदि काश्मीरी वाचना की (तथा मैथिली वाचना की) पाण्डुलिपियाँ प्राप्त करके देखा जाय तो तीनों उक्तियों वाला पूर्ण संवाद, जो उपर्युक्त अवतरण में दिया गया है

51. द्रष्टव्य–मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा से प्रकाशित श्रीरमानाथ झा द्वारा संपादित–अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृ. 75

52. लेकिन चक्रवाक सम्बन्धी जो तीन उक्तियाँ काश्मीरी में होने के साथ साथ मैथिली में भी मिल रही हैं वह इसी बात का साक्ष्य दे रहा है कि शाकुन्तल की उपलब्ध पाठ परम्परा काश्मीरी वाचना में से पहले मैथिली वाचना में गयी होगी और तदनन्तर ही वह पाठ बंगाली में गया होगा।

वह हम तक संचरित होकर आया ही है। चक्रवाक के इस प्रसंग में (तीनों संवादों के द्वारा) शकुन्तला को दुष्यन्त की ओर से नकारात्मक प्रतिभाव ही मिलेगा और शकुन्तला को कुछ कालावधि तक पुनर्मिलन की प्रतीक्षा करनी होगी ऐसा व्यंजित किया गया है।

श्री बेलवलकरजी के शब्दों में देखें तो–"यहाँ पर पूरी घटना शकुन्तला को यह समझाने के लिए लायी गयी है कि आगे तुम्हारे भाग्य में क्या बदा है। चकवी पुकारती है किन्तु चक्रवाक उत्तर नहीं देता, क्योंकि उत्तर न देने के कारणों पर उसका कोई वश नहीं है, उसका हृदय शकुन्तला के वियोग से भरा हुआ है। इसी प्रकार शीघ्र ही शकुन्तला भी पुकारेगी और दुष्यन्त भी उसका उत्तर नहीं देगा। अनसूया अपनी सखी को सान्त्वना देती है और वह विश्वास के साथ सान्त्वना दे भी सकती थी क्योंकि उसके हाथ में शाप का अन्त करानेवाली अँगूठी तो थी ही। इसीलिए ठीक इस घटना से अगले संवाद में ये सखियाँ शकुन्तला को अँगूठी का स्मरण करा देती हैं। दूसरी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कण्व ने अपने जिस शोक को प्रकट नहीं होने दिया उसी को चक्रवाक ने एक प्रकार के दैवी परिज्ञान से समझकर शकुन्तला को भावी विपत्ति और दु:ख की चेतावनी दे दी।[53]" इस उच्च स्तरीय पाठालोचना से यह सुदृढ हो जाता है कि बंगाली वाचना में और देवनागरी वाचना में संचरित होकर जो पाठ हम तक पहुँचा है वह प्रकृत सन्दर्भ में संक्षिप्त किया गया पाठ है।

4–1–3 बंगाली वाचनानुसारी चतुर्थांक के पाठ में दूसरे स्थान पर एक श्लोक का जो संक्षेप मिलता है वह इस तरह का है:–शकुन्तला पतिगृह की ओर प्रस्थान कर रही है तब (बंगाली वाचनानुसारी चतुर्थांक के पाठ में) इस तरह का संवाद है: शकुन्तला कण्व से पूछती है कि मैं पति के घर जा रही हूँ, लेकिन पिताजी आपका विरह कैसे सह पाऊँगी? तब पिता कण्व श्लोक 4–22 से उत्तर देते हैं कि कुलीन व्यक्ति के घर में गृहिणी पद प्राप्त होने के बाद तू बहुविध कार्यकलाप में व्यस्त हो जायेगी और तेरे अङ्क में पुत्र का आगमन हो जाने के बाद तो सुख ही सुख होने से तू मेरे विरह से उत्पन्न होनेवाले दु:ख को भूल जायेगी। इतना सुनने के बाद शकुन्तला पिता के चरणों में प्रणाम करती है (ऐसी रंगसूचना है)। अर्थात् बंगाली में कण्वमुनि एक ही श्लोक बोलते हैं। किन्तु इस सन्दर्भ का काश्मीरी एवं मैथिली पाठ निम्नोक्त है, जिसमें कण्व दो श्लोक बोलते हैं:

शकुन्तला–कधं तादस्स अङ्कादो परिब्भट्ठा मलअपव्वदुम्मूलिदा विअ चन्दणलदा देसन्तरे जीविदं धारइस्सं। (इति रोदिति) (कथं तातस्याङ्कात् परिभ्रष्टा मलयपवनोन्मूलिता इव चन्दनलता देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये।)

---

53. निसर्ग कन्या शकुन्तला–शीर्षकवाला आलेख, जो कालिदास–ग्रन्थावली (तीसरा खण्ड, समीक्षा निबन्ध, पृ. 59 से 70), अनुवादक–सीताराम चतुर्वेदी ने अलीगढ से 1962 में प्रकाशित किया है वह बार बार द्रष्टव्य है।

कण्वः–वत्से, किमेवं कातरासि।

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैरस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजं न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि।। 4-22

अपि च, इदमवधारय

यदा शरीरस्य शरीरिणश्च पृथक्त्वमेकान्तत एव भावि।
आहार्ययोगेन वियुज्यमानः परेण को नाम भवेद् विषादि।। 4-23

शकुन्तला–(पितुः पादयोः पतित्वा) ताद वन्दामि।

यहाँ श्लोक 22 के नीचे, "अपि च" निपात से बाँधा गया एक श्लोक–23 दिख रहा है, जो केवल काश्मीरी एवं मैथिली वाचना के पाठ में ही उपलब्ध होता है। बंगाली, देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में वह नहीं मिलता है। डॉ० एस. के. बेलवलकरजी के द्वारा सम्पादित अभिज्ञानशाकुन्तल में भी वह श्लोक नहीं मिलता है, किन्तु ऑक्सफर्ड लाईब्रेरी में सुरक्षित दो शारदा पाण्डुलिपियों में यह श्लोक "अपि च" निपात से अवतारित किया गया है। अतः विचारणीय है कि क्या दूसरा श्लोक "अपि च" के विनियोग से काश्मीरी–मैथिली में प्रक्षिप्त किया गया होगा या फिर मौलिक होते हुए भी बंगाली, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में से उसे हटाया गया है? यहाँ पूर्वधारणा के रूप में मान लिया जाय कि मूल पाठ में पहलेवाला एक ही श्लोक रचा गया था। अब, पहले श्लोक 22 में शकुन्तला को पिता की याद नहीं आयेगी उसके लिए बहुत प्रीतिकारक कारण पेश किये गये हैं। फिर भी यह चिन्त्य तो है ही कि पुत्री को ससुराल में कितना भी सुख मिल जाय तो भी क्या वह अपने पिता को भुला सकती है? सब का अनुभवजन्य उत्तर यही है कि ढेर सारे सुख में भी पुत्री अपने पिता को कदापि नहीं भुला सकती है। अतः प्रश्न होगा ही कि क्रान्तद्रष्टा महाकवि ने यहाँ सर्वजनानुभव–विरुद्ध क्यों लिखा है? क्या सचमुच में शकुन्तला सुखातिशय में भी पिता कण्व को भुला देगी? वृद्ध पिता की कोई चिन्ता उसे नहीं सताती रहेगी? इस प्रश्न का एक ही उत्तर सभी रसिकों के मन में होगा कि शकुन्तला अपने पिता को हरगिज नहीं भूल सकती है। यह बात कण्व भी जानते होंगे, अतः यहाँ उनको कुछ अधिक कहने की आवश्यकता होगी। यदि मूल पाठ में पहलेवाला एक ही श्लोक था ऐसी पूर्वधारणा को छोड़कर, काश्मीरी और मैथिली वाचना में आया हुआ दूसरा श्लोक भी मूल में होगा ऐसा स्वीकारते हैं तो उपर्युक्त क्षति का विसर्जन होता है।

प्रस्तुत चर्चा में पहले कहा गया है कि इस नाट्यकृति में एक श्लोक के बाद "अपि च" से अवतारित दूसरे श्लोक में प्रवर्तमान दृश्य या विचार का दूसरा पहलू रखा जाता है।

ऐसा होना अनिवार्य है, क्योंकि समुच्चयार्थक "अपि च" का प्रयोग तभी हो सकता है जब प्रस्तुत विचार का दूसरा पहलू भी सम्मिलित करना हो। इस दृष्टि से सोचा जायेगा तो पहले श्लोक में शकुन्तला को ससुराल में सुख मिलने पर वह पिता को भूल जायेगी ऐसा कहा जाता है। तत्पश्चात् दूसरे ही श्लोक में कहा जाता है कि इन ऐहिक सुखों के बीच में भी शकुन्तला के हृदयाकाश में पिता के वार्धक्य को लेकर सदैव चिन्ता विद्यमान रहनेवाली है तो उसका निरसन करने के लिए क्रान्तद्रष्टा कालिदास ने ऋषि कण्व से निम्नोक्त दूसरा श्लोक कहलाया है:

अपि चेदमवधारय

यदा शरीरस्य शरीरिणश्च पृथक्त्वमेकान्तत एव भावि।
आहार्ययोगेन वियुज्यमानः परेण को नाम भवेद् विषादी।। 4-23

शकुन्तला—ताद वन्दामि। (पितुः पादयोः पतति।)

अर्थात् कण्व ने शकुन्तला को आश्वासन देते हुए "अपि च" से अवतारित 23 वें श्लोक से यह भी कह दिया है कि शरीर और शरीरी का पृथक्त्व अवश्यंभावी है। जैसे कोई नट अपने पहने हुए मुकुटादि आहार्य चीजों का त्याग करते समय दुःखी नहीं होता, (वैसे ही कल कण्वमुनि के देहावसान की खबर मिले तो भी शकुन्तला को दुःखी नहीं होना चाहिए)। यहाँ "अपि च" के प्रयोग का याथार्थ्य पूर्ण रूप से सिद्ध होता है। कण्व ने अपनी पुत्री को दो बातें कह कर उसे दोनों दृष्टियों से स्वस्थ मनःस्थितिवाली बनाया है। एक तो ससुराल में निरतिशय सुख एवं नयी जिम्मेवारियों को लेकर पिता की याद नहीं आयेगी, और दूसरा पिता का शरीर आहार्य चीज रूप है, जो एक दिन नष्ट होनेवाला है तो उसकी चिन्ता करना जरूरी नहीं है। आश्रम में पली ऋषिकन्या के लिए आरण्यक पिता का यह औपनिषदिक दर्शन इस स्थान पर एकदम सुसंगत प्रतीत होता है। और इस दृष्टि से देखा जायेगा तो "अपि च" का विनियोग भी समुच्चयार्थक के रूप में यहाँ सर्वथा चरितार्थ हो रहा है। अतः काश्मीरी और मैथिली वाचना में दृश्यमान यह दूसरा श्लोक मौलिक होने में संदेह नहीं रहता है।

उपर्युक्त दो श्लोकोंवाला काश्मीरी पाठ जो पहले मैथिली पाठ में संक्रान्त हुआ होगा वह वहाँ पर सुरक्षित रहा है। लेकिन तीसरे स्तर पर बंगाली एवं देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में से, "अपि च" से अवतारित दूसरा श्लोक हटाया गया होगा। इस प्रकार के संक्षिप्तीकरण से चतुर्थाङ्क का एक विशेष सौन्दर्य, जो दार्शनिक पिता के वचनों में से झलक रहा है उससे हम वंचित रह जाते हैं। कालिदास ने अपने अन्य काव्यों में भी औपनिषदिक दर्शन व्यक्त किया है और इस चतुर्थाङ्क में भी शकुन्तला जब पूछती है कि पिताजी इस तपोवन को मैं फिर से कब देख पाऊँगी? तब कण्व मुनि ने कहा है कि उत्तरावस्था में दौष्यन्ति (भरत) के कन्धों पर राज्यधुरा स्थापित करके शान्ति के लिए इस

आश्रम में आना।[54] यहाँ पर शान्त्यै (शान्ति के लिए) को समझाते हुए टीकाकार चन्द्रशेखर ने लिखा है कि–मोक्षार्थम्। दुष्यन्त–शकुन्तला जब आप्तकाम हो जाय तब मोक्षार्थ इस आश्रम में वापस आने को कहनेवाला तपस्वी तात कण्व "अपि च" से पूर्वोक्त श्लोक द्वारा पुत्री को शोक न करने का उपदेश दे वह सर्वथा मौलिक प्रतीत होता है। नाटक के अन्तिम भरत–वाक्य में भी कवि ने लिखा है कि "सरस्वती श्रुतिमहती/ श्रुतिमहतां महीयताम्।" इसको देखते हुए भी काश्मीरी वाचना का उपर्युक्त श्लोक मौलिक दिख रहा है एवं मैथिली वाचना को छोड़ कर अन्यत्र (बंगाली, देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में) उसको बेशक हटाया गया है।

5–1–0 पञ्चमाङ्क का आरम्भ कहाँ से होता है, इस प्रश्न को लेकर बंगाली पाठ और देवनागरी के पाठ की वस्तुस्थिति का आकलन किया जाय तो (क) बंगाली पाठ में अंक कञ्चुकी की उक्ति से आरम्भ होता है, उसके बाद हंसवती का गीत आता है और तत्पश्चात् शकुन्तला–प्रत्याख्यान निरूपित किया गया है। (ख) देवनागरी पाठ में हंसपदिका के गीत से अंक आरम्भ होता है, द्वितीय क्रम में कञ्चुकी की उक्ति आती है, और तत्पश्चात् शकुन्तला–प्रत्याख्यान रखा गया है। अद्यावधि विद्वत्समूह ने इन दोनों तरह के पाठों की साहित्यिक–आलोचना की है। जैसे, शकुन्तला के प्रत्याख्यान की पार्श्वभूमिका में रखे गये हंसपदिका के गीत से दुष्यन्त के मन में जननान्तर सौहृद झंकृत होने पर पर्याकुल हुई मानसिकता को जिम्मेवार माना जाय या फिर वैतालिकों के गान से कर्तव्यनिष्ठ बनी राजा की मानसिकता को जिम्मेवार माना जाय। इन दोनों स्थितियों में से किसी एक का चयन किया जाय ऐसा कहना तो आसान है लेकिन इस तरह की साहित्यिक आलोचना के द्वारा पाठ की मौलिकता निश्चित नहीं की जा सकती क्योंकि उसमें विवेचक की आत्मलक्षिता सुतराम् प्रविष्ट होती है। यहाँ तो उपलब्ध द्विविध पाठों में से पूर्वापर स्थित वाक्यों की संगति का समीक्षण ही आन्तरिक सम्भावना के रूप में निर्णायक बन सकता है।

निम्न स्तरीय पाठालोचना के फलस्वरूप हमें पूर्वोक्त दो तरह की पाठपरम्परा ज्ञात हुई है। प्रथम, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनानुसारी योजना में दुष्यन्त को देख कर कञ्चुकी जब बोलता है कि "तथापीदानीमेव धर्मासनाद् उत्थिताय पुनरुपरोधकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदयितुम्।" तब वह संगतिपूर्ण नहीं लगता है। राजा ने तो धर्मासन से उठ कर संगीतशाला में जाकर हंसपदिका का गीत सुना है। दूसरा, इस तरह की योजना में "रम्याणि वीक्ष्य०" सुनकर जननान्तर सौहृद का अनुभव करने के पश्चात् पर्याकुल स्थिति का अभिनय करते हुए राजा को बहुत देर तक रंगमंच पर खड़े रहना है क्योंकि उसके पीछे आ रही कञ्चुकी की उक्ति अनेक श्लोकों से एवं गद्य संवाद से भरी है। यहाँ बेचैन

54. भूत्वा चिराय सदिगन्तमहीसपत्नी, दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं प्रसूय। तत्सन्निवेशितधुरेण सहैव भर्त्रा, शान्त्यै करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्।। अ.शं. 4–22

राजा के लिए रंगभूमि पर लम्बी देर तक खड़े रहना मंचन के अनुकूल नहीं है। इसके विपरीत, बंगाली पाठानुसार कञ्चुकी बहुत देर तक राजा को निवेदन करने के लिए योग्य क्षण की प्रतीक्षा में खड़ा रहे तो उस में कोई प्रतिकूलता या अनौचित्य नहीं है। तीसरा, बंगाली पाठ में वैतालिकों के गान को सुनकर दुष्यन्त "एतेन कार्यानुशासनपरिश्रान्ताः पुनर्नवीकृताः स्मः।" ऐसा बोले उसमें पूरा औचित्य दिखता है। किन्तु देवनागरी पाठ में वैतालिकों के गान को सुन कर दुष्यन्त "क्लान्तमनसः पुनर्नवीकृताः स्मः" कहे तो उसमें बिल्कुल औचित्य नहीं है। राजा का मन जननान्तर सौहृद की अज्ञात याद में पर्याकुल है और वैतालिकों ने जो गान किया है उसका प्रतिपाद्य विषय तो राजा की प्रजा सम्बन्धी कार्य करने की संनद्धता है। उपर्युक्त तीन कारणों से बंगाली पाठ की मौलिकता अधिक प्रीतिकर सिद्ध होती है।

5-1-1 बंगाली वाचना के पञ्चमाङ्क में शकुन्तला अपने को परभृता कहने वाले दुष्यन्त को "अनार्य" कहती है और प्रचण्ड कोप करते हुए दुष्यन्त को ताडित करती है। यहाँ पर शकुन्तला की कोपाविष्ट मुखमुद्रा को देखते हुए दुष्यन्त ने दो श्लोकों का उच्चारण किया है:

राजा–(स्वगतम्) वनवासाद् अविभ्रमः पुनरत्रभवत्याः कोपो लक्ष्यते। तथाहि

न तिर्यगवलोकितं, भवति चक्षुरालोहितं
वचोऽपि परुषाक्षरं न च पदेषु संसज्जते।
हिमार्त इव वेपते सकल एष बिम्बाधरः,
स्वभावविनते भ्रुवौ युगपदेव भेदं गते।। 5-23

अथवा, संदिग्धबुद्धिं माम् अधिगत्याकैतवच्छायया कोपोऽस्याः। तथाह्यनया–

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ,
वृत्तं रहः प्रणयम् अप्रतिपद्यमाने।
भेदाद् भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य।। 5-24

(प्रकाशम्) भद्रे, प्रथितं दुःषन्तचरितम् प्रजासु। नापीदं दृश्यते।

यहाँ देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में केवल दूसरा श्लोक ही संचरित होकर आया है। दूसरे शब्दों में कहें तो पहलेवाले (5-23) श्लोक को उनमें से हटाया गया है, ऐसा दिखता है। मैथिली वाचना के पाठ में भी यही दो श्लोक मिलते हैं, लेकिन वहाँ दूसरा श्लोक "अथवा" से अवतारित नहीं है। वहाँ "अपि च" निपात से दूसरे श्लोक को बाँधा गया है। अतः दो बातें परीक्षणीय हैं (1) क्या इन दोनों श्लोकों के प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत करने के लिए यहाँ "अथवा" का प्रयोग उचित है या "अपि च" का प्रयोग सुसंगत

लगता है? (2) इन दोनों में से कौन सा श्लोक मौलिक होगा अथवा कौन सा प्रक्षिप्त होगा?

कालिदास जिस सन्दर्भ में "अथवा" का विनियोग करते हैं वह बहुशः दुष्यन्त जब निषेधात्मक विचार पहले प्रस्तुत कर देता है वहाँ तुरन्त ही उसी विचार को छोड़ कर कुछ सकारात्मक / आशाजनक विचार को कहना चाहता है तब "अथवा" से उसका अवतार करता है। कोशकार "अथवा" को पक्षान्तर का वाचक कहते हैं। उदाहरण के लिए

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्ति।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र[55]।। 1-15

इस दृष्टि से देखें तो पञ्चमाङ्क के उपर्युक्त सन्दर्भ में (बंगाली पाठ में) तो "अथवा" का प्रयोग पक्षान्तर को प्रस्तुत करने के लिए नहीं हुआ है। उसी तरह से मैथिली वाचना में इन श्लोकों को "अपि च" से संलग्न किया गया है। किन्तु वहाँ पर भी "अपि च" का प्रयोग समुच्चयार्थक के स्वारस्य को प्रकट नहीं करता है क्योंकि यहाँ दोनों ही श्लोकों में भिन्न भिन्न शब्दों में शकुन्तला की भ्रुकुटि का ही चित्र वर्णित किया गया है, अर्थात् एक ही विचार पुनरुक्त हो रहा है। अतः इतना तो पहले सिद्ध हो ही जाता है कि इन दोनों में से कोई एक श्लोक प्रक्षिप्त होने की पूरी सम्भावना है। अब सोचना है कि इनमें से कौन सा श्लोक प्रक्षिप्त माना जाय?। देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में केवल दूसरे श्लोक का ही स्वीकार हुआ है, उसको देखकर कोई कहेगा कि उनकी दृष्टि में वही मौलिक होगा। किन्तु देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में स्वीकार्य होने से वही मौलिक होगा, ऐसा निर्णय देना भी तार्किक नहीं है। इसकी परीक्षा करने के लिए इस प्रसंग का पूर्वापर सन्दर्भ देखना बहुत जरूरी है।

दुष्यन्त ने शकुन्तला को प्रत्याख्यात करने के लिए "प्राग् अन्तरिक्षगमनात् स्वम् अपत्यजातम् अन्यद्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति।।" (5-22) ऐसा बोल दिया है। इसको सुनते ही शकुन्तला ने दुष्यन्त को "अनार्य" कहकर भारी कोपवचन कहे हैं। जिसको सुनते सुनते दुष्यन्त ने स्वगत उक्ति के रूप में उपर्युक्त दो श्लोक बोले हैं। पहलेवाले श्लोक में दुष्यन्त ने निरीक्षण किया है कि वनवास के कारण शकुन्तला का कोप बिलकुल स्वाभाविक-अविभ्रम-है। उसमें कोई कृत्रिमता, विलासादि हावभाव नहीं थे और उसका अधरोष्ठ वेपमान होने के साथ विनीत भ्रुकुटियाँ भी एकसाथ वक्रता को धारण करती हैं। फिर वह दूसरे श्लोक में पुनरपि कहता है कि उसकी दोनों कुटिल भ्रुकुटियाँ एकदम भग्न होने से ऐसा लगता है कि मानों कामदेव का शरासन भग्न हो गया। इस वर्णन को देख कर

55. द्रष्टव्यः रघुवंश में - क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः। तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्। अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः। मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः। (सर्गः 1, श्लो. 2, 4)

अनुमान किया जा सकता है कि दुष्यन्त कितना संवेदना विहीन व्यक्ति है क्योंकि एक ओर शकुन्तला के जीवन पर वज्राघात किया गया है और दूसरी ओर नायक उसकी भ्रुकुटियों का विविध रूप में निरूपण कर रहा है। पहले श्लोक में दुष्यन्त के चित्त में यह प्रतीति उदित हो जाती है कि शकुन्तला का कोप तात्त्विक–अकृत्रिम–ही है। बस प्रस्तुत सन्दर्भ में इतना ही पर्याप्त है, सह्य है। इससे अधिक कुछ नहीं। लेकिन दूसरे श्लोक में दुष्यन्त शकुन्तला की भग्न भ्रुकुटी के लिए जो उपमान का प्रयोग करता है, वह काव्यत्व से मण्डित होते हुए भी पूर्वापर सन्दर्भ में सर्वथा अयुक्तियुक्त है। और यहाँ (दूसरे श्लोक की) पहली दो पङ्क्तियों में दुष्यन्त अपना ही दोष देखने लगा है ऐसा कथन है, जो भी असंगत है। यदि वह इस बात से सहमत है कि मैं विस्मृत चित्तवृत्तिवाला हो गया हूँ और एकान्त में किये प्रणय को नहीं स्वीकारता हूँ तो प्रत्याख्यान करने की मति से उसे विरत हो जाना चाहिए। अतः इस दूसरे श्लोक को ही प्रक्षिप्त मानना होगा। प्रो. शारदारञ्जन राय (1908) ने भी इसी श्लोक को प्रक्षिप्त मानने का अभिप्राय दिया था[56]।

5–1–2 उपर्युक्त दोनों श्लोकों के नीचे शकुन्तला की एक उक्ति बंगाली पाण्डुलिपियों में प्रवर्तमान है जिसमें शकुन्तला ने कहा है कि क्या आप ही केवल प्रमाणज्ञ हैं और आप ही अकेले लोकमान्य धर्मस्थिति को जानते हैं तथा लज्जाशील महिलायें क्या कुछ जानती ही नहीं है:

तुम्हे ज्जेव पमाणं जाणध धम्मत्थिदिञ्च लोअस्स।
लज्जाविणिज्जिदाओ जाणन्ति ण किं पि महिलाओ।। 5–26

अर्थात्–यूयमेव प्रमाणं जानीथ धर्मस्थितिञ्च लोकस्य।
लज्जाविनिर्जिता जानन्ति न खलु किमपि महिलाः।।

यह श्लोक रिचर्ड पिशेल की आवृत्ति में ग्राह्य नहीं बना है। बंगाली वाचना के पाठ पर टीका लिखनेवाले और प्रमाणभूत माने गये टीकाकार चन्द्रशेखर चक्रवर्ती ने इस श्लोक को "पुराणप्रसिद्धा गाथेयम्" कहा है। लेकिन बंगाली पाण्डुलिपियों में यह श्लोक संचरित होता रहा है इस लिए डॉ० दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने उसे स्वीकारा है। काश्मीरी एवं मैथिली वाचना में भी यह श्लोक संचरित हुआ दिख रहा है। किन्तु इस श्लोक को मौलिक मानना मुश्किल है, क्योंकि यह तो शकुन्तला के व्यक्तित्व का दूसरा ही रूप प्रकट करता है, जो समग्र नाटक में आलिखित शकुन्तला के स्वरूप से भिन्न है तथा प्रत्याख्यान–जनित करुणता के प्रभाव का अपकर्ष करनेवाला सिद्ध होता है। इस लिए इसकी मौलिकता पर प्रश्न चिह्न लगता है।

इन दो श्लोकों के अलावा पञ्चमाङ्क के अन्यान्य श्लोकों की स्वीकृति सभी वाचनाओं में एक समान है।

---

56. द्रष्टव्य: उनका सम्पादित किया गया अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृ. 514–515

5–2–1 देवनागरी पाठपरम्परा में कञ्चुकी की उक्ति का एक श्लोक हटाया गया है जो इस प्रकार है–भोश्चित्रमेतत्।

क्षणात् प्रबोधमायाति लंघ्यते तमसा पुनः।
निर्वास्यतः प्रदीपस्य शिखेव जरतो मतिः।। 5-2

ऐसा संक्षेप करना आवश्यक था क्योंकि देवनागरी पाठ में, राजा पर्याकुल मनःस्थिति में रंग पर कहीं अकेला खड़ा है। उसको ज्यादा समय पर्याकुलता के हावभाव के साथ खड़ा रहना रंगमंच के अनुकूल नहीं है। अतः यह एक श्लोक हटाया गया दिखता है। वस्तुतः बंगाली पाठ में, पञ्चमाङ्क के प्रारम्भ में कञ्चुकी वार्धक्य के कारण बीच बीच में भूल जाता है ऐसा दिखा कर दुष्यन्त की विस्मृति का अभिव्यंजन किया जा रहा है। इसमें नाटकीयता अधिक है। किन्तु देवनागरी पाठ में से कञ्चुकी के इस श्लोक को हटाया गया है।

5–2–2 पञ्चमाङ्क के प्रथम दृश्य के आरम्भिक सोपान को बदलने से बंगाली वाचना में एक वाक्य जो विदूषक के मुख में रखा गया है–भो गोविन्दारक इति भणितस्य ऋषभस्य परिश्रमो नश्यति। उसे देवनागरी पाठ में से हटाया गया है। क्योंकि देवनागरी पाठ में हंसपदिका गीत को प्राथम्य देने से विदूषक को सब से पहले वसुमती के पास भेज दिया गया है। इसके विपरीत, बंगाली पाठ में तो विदूषक वैतालिकों के गान के समय तक वहीं खड़ा था और तत्पश्चात् ही हंसवती का गान शुरू होता है। सूक्ष्म विश्लेषण से मालूम होता है कि देवनागरी के संक्षिप्त किये गये पाठ में विदूषक का स्वरूप भी बदल दिया गया है। बंगाली पाठपरम्परा में विदूषक का जो स्वरूप है, उससे भिन्न स्वरूप देवनागरी पाठपरम्परा में दिख रहा है।

6–1–0 बंगाली वाचना (और मैथिली वाचना) के षष्ठांक में कुल मिला कर 38 श्लोक हैं। किन्तु काश्मीरी, देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में सर्वत्र केवल 32 श्लोक संचरित होकर हम तक पहुँचे हैं। अतः पाँच श्लोकों के कम–ज्यादा होने का क्या कारण हो सकता है, यह विचारणीय है। एवमेव, इन दोनों पाठपरम्पराओं में से कहाँ पर मौलिकता झलक रही है वह भी गवेषणीय है।

6–1–1 बंगाली वाचना के षष्ठाङ्क में आरम्भ में ही एक श्लोक का प्रक्षेप है कृशकुन्तला के हाथ से बिछड़ गयी अङ्गूठी राजा को प्राप्त हो जाने के बाद, वह विरहावस्था में कहता है कि एक रन्ध्र हो जाने पर अनर्थों की परम्परा शुरू हो ही जाती है। इस बात का समर्थन करते हुए दुष्यन्त के मुख में निम्नोक्त दो श्लोक रखे गये हैं

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः।
मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता धनुषि चूतशरश्च निवेशितः।। 6-8

अपि च

उपहितस्मृतिरङ्गुलिमुद्रया प्रियतमाम् अनिमित्तनिराकृताम्।
अनुशयादनुरोदिमि चोत्सुकः सुरभिमाससुखं समुपस्थितम्।। 6-9

यहाँ पर दोनों श्लोकों को "अपि च" निपात से सम्बद्ध करके प्रस्तुत किया गया है। अत: सब से पहले उसके विनियोग का पूर्वोक्त स्वारस्य घटित होता है कि नहीं यह देखना होगा। पहले श्लोक में शापमुक्ति के बाद की स्थिति का कथन है, दूसरे में शाप के प्रभाव में क्या अनर्थ हो गया उसका कथन है। एवमेव, पहले श्लोक में आम्रमञ्जरी के बाण का उल्लेख करने के बाद दूसरे श्लोक में सुरभिमास उपस्थित होने का कथन स्पष्टतया व्युत्क्रम ही है। वर्णनीय वस्तु में व्युत्क्रम होने से इसकी मौलिकता संशयग्रस्त होती है। इसमें सूक्ष्म रूप से पुनरुक्ति होने से दोनों श्लोकों के मध्य में "अपि च" निपात का विनियोग भी सही अर्थ में समुच्चयार्थक सिद्ध नहीं होता है। इस दृष्टि से दूसरा श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होता है।

बंगाली एवं मैथिली वाचना में इस दूसरे श्लोक का प्रक्षेप करने का क्या कारण हो सकता है, ऐसा प्रश्न यदि किया जाय तो राजा की उक्ति में कहा गया है "वयस्य, रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था इति यदुच्यते, तदव्यभिचारि।" इस वाक्य में, एक छिद्र होने पर अनेक अनर्थों का होना उल्लिखित होने से किसी अज्ञात कविंमन्यमान व्यक्ति ने दूसरे श्लोक की रचना की होगी। काश्मीरी, देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में यह श्लोक नहीं है।

6-1-2 रंगमंच पर जब चेटी के द्वारा शकुन्तला का चित्र प्रस्तुत होता है तब उसको देखते हुए राजा ने एक श्लोक का उच्चार किया है। जैसे कि-

दीर्घापाङ्गविसारिनेत्रयुगलं　　लीलाञ्चितभ्रूलतं
दन्तान्तःपरिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाभिषिक्ताधरम्।
कर्कन्धूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं　　तस्यास्तदेतन्मुखं
चित्रेप्यालपतीव विभ्रमलसत् प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम्।। 6-15

यहाँ पर, बंगाली वाचना पर टीका लिखनेवाले चन्द्रशेखर चक्रवर्ती ने ऐसा अङ्गुलिनिर्देश भी किया है कि "तस्याः०।। तुङ्गमिव रेखानिपुणतया तथा भानात्। एवमग्रेपि। पद्यमिदमनतिमधुरं दाक्षिणात्य-पुस्तकेष्वेव दृश्यते"।। मतलब कि उपर्युक्त श्लोक के बाद एक और नया श्लोक भी दाक्षिणात्य(उत्कलीय) पाठपरम्परा में है, जैसे कि

तस्यास्तुङ्गमिव स्तनद्वयमिदं निम्नेव नाभिः स्थिता
दृश्यन्ते विषमोन्नताश्च वलयो भित्तौ समायामपि।
अङ्गे च प्रतिभाति मार्दवमिदं स्निग्धः स्वभावश्चिरं
प्रेम्णा मन्मुखचन्द्रमीक्षत इव स्मेरेव वक्तीव च।। 6-15क

(इस दूसरे श्लोक को रिचर्ड पिशेल ने मान्य नहीं रखा है। किन्तु डॉ० दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने लिखा है कि उपर्युक्त 6-15क श्लोक पाँच बंगीय पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ है।) इन दोनों श्लोकों की प्रामाणिकता विषयक चर्चा करने के लिए, इसके अनुगामी संवाद की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। इस दूसरे श्लोक के नीचे विदूषक की उक्ति निम्नोक्त शब्दों में है: (विलोक्य) भो, भावमधुरा रेखा। स्खलतीव मे दृष्टिः निम्नोन्नतप्रदेशेषु। किं बहुना, सत्त्वानुप्रवेशशङ्कया आलपनकुतूहलं मे जनयति। इस उक्ति का सीधा सम्बन्ध 6-15क श्लोक के साथ ही है यह निःशङ्क है। अर्थात् रिचर्ड पिशेल ने दीर्घापाङ्गविसारिनेत्रयुगलं० 6-15 के नीचे जो विदूषक की उक्ति के रूप में वाक्य दिया है, उसका सम्बन्ध तो मात्र 6-15क श्लोक के साथ ही सुसंगत बैठता है। इसी दूसरे श्लोक में उत्तुङ्ग स्तन और निम्न नाभि का उल्लेख है, जिसके साथ "स्खलतीव मे दृष्टिः निम्नोन्नतप्रदेशेषु।" इन शब्दों का सन्धान दिखता है। (6-15 के साथ उसका सम्बन्ध कथमपि नहीं बैठता है।) अब स्मर्तव्य हैं चन्द्रशेखर के शब्द, जिसमें कहा है कि यह (6-15क) पद्य अनतिमधुर है, अर्थात् सुरुचि का भङ्ग करनेवाला है तथा वह केवल दाक्षिणात्य पाठपरम्परा में ही मिलता है। इस लिए वह दूसरा श्लोक तो निश्चित रूप से प्रक्षिप्त मानना चाहिए।

अब दीर्घापाङ्गविसारिनेत्रयुगलम्० (6-15) श्लोक की प्रामाणिकता को लेकर चर्चा करना आवश्यक है, क्योंकि वह श्लोक देवनागरी या दाक्षिणात्य वाचनाओं में नहीं है, (और वह काश्मीरी वाचना में भी नहीं है)। यदि यह श्लोक मौलिक है, ऐसा सिद्ध होता है तो कहना होगा कि देवनागरी पाठ में से उसको हटा कर संक्षेप किया गया है। उससे विपरीत यदि ऐसा सिद्ध होता है कि यह श्लोक मौलिक नहीं है, तो बंगाली में उसका प्रक्षेप हुआ है यह मानना होगा।

राजा ने श्लोक-14 में अङ्गुलीयक को उलाहना दिया, फिर "अथवा" शब्द से पक्षान्तर का आश्रयण करता हुआ अपने आपको ही दोषी सिद्ध किया है। लेकिन इस श्लोक-14 में कहे शब्दों से वह भारी उद्विग्न हुआ है। वह वर्तमान स्थल-काल को भूल कर ही बोलता है कि जिसने बिना कोई वजह तुम्हारा त्याग कर दिया है और जो व्यक्ति आज पश्चात्ताप से दग्ध हृदयवाला हुआ है उसके उपर अनुकम्पा दिखाते हुए, हे प्रिये! दर्शन दो। इसी क्षण चेटी "ये रही चित्रगता भट्टिनी शकुन्तला" ऐसा बोलती हुई सहसा रंगभूमि पर शकुन्तला का चित्र लेकर प्रवेश करती है। इस पूर्वापर सन्दर्भ को देखते हुए उचित नहीं लगता है कि राजा अपने ही चित्रित किये चित्र का बखान शुरू कर दे। रंगभूमि पर चित्र प्रदर्शित होते ही वह तुरंत "अहो रूपमालेख्यस्य। तथा हि" कहता हुआ प्रकृत श्लोक का गान शुरू करता है। यहाँ विचारणीय यह भी है कि (1) श्लोक-15 के द्वितीय चरण में "दन्तान्तःपरिकीर्ण-हासकिरणज्योत्स्नाभिषिक्ताधरम्" जैसे शब्दों से "हास्य के किरणों की

ज्योत्स्ना" कहना उचित होगा, या फिर "हास्य की ज्योत्स्ना" ही पर्याप्त है? अर्थात् इस श्लोक की रचना कालिदासीय नहीं हो सकती है। लेकिन यह तर्क आत्मलक्षिता के दोष से ग्रस्त हो सकता है। अतः अनुगामी संवाद भी परीक्षणीय बनते हैं। जैसे कि (2) इस श्लोक में राजा ने पहले अपने चित्रित किये चित्र की प्रशंसा करने के पश्चात् श्लोक-16 में जो नम्रता दिखायी है, और शकुन्तला के लावण्य की कुछ लकीर ही वह खींच पाया है ऐसा कह कर शकुन्तला के निरतिशय सौन्दर्य की ओर सूचन किया है वह परस्पर संगत नहीं बैठता है। इस चित्र में अभी भी बहुत कुछ चित्रित करना अवशिष्ट है वह बात भी अनुगामी संवादों में दो-तीन बार कही जानेवाली है, उसको देखते हुए श्लोक-15, जिसमें शकुन्तला की भ्रूलता, दन्तावली, अधरोष्ठ सहित का पूरा मुखमण्डल बारीकी से वर्णित है, वह किसी भी तरह से कविप्रणीत नहीं लगता है। (3) उचित तो यही लगता है कि चेटी के द्वारा लाये गये शकुन्तला के चित्र को देख कर रंगमंच पर जो दो पात्र उपस्थित हैं–विदूषक और मिश्रकेशी–वे ही उसको देखते हुए कुछ प्रतिभाव व्यक्त करें। इन दोनों के संवादों में भी, विदूषक के मुख में, "अहो भावमधुरा रेखा। सत्त्वानुप्रवेशशङ्कया आलपनकौतूहलं मे जनयति।" इतने शब्द ही हो, "स्खलतीव मे दृष्टिः निम्नोन्नतप्रदेशेषु"–जैसी सुरुचि का भङ्ग करनेवाली उक्ति नहीं होनी चाहिए।[57] यह उक्ति तो "तस्यास्तुङ्गमिव स्तनद्वयमिदम्॰" वाले श्लोक के शब्दों को देख कर किये गये प्रक्षेप का परिणाम है। (अतः यह अंश निष्कास्य है।) विदूषक के प्रतिभाव के बाद मिश्रकेशी भी उस चित्र को देख कर मौन नहीं रह सकती है। इस लिए उसका तो होना आवश्यक है। तत्पश्चात् (अर्थात् विदूषक की उक्ति को सुन कर) राजा अपने चित्रित किये हुए चित्र में बार बार सुधार करने पर भी शकुन्तला का लावण्य कुछ हद तक ही रेखाङ्कित हो पाया है–ऐसा कहे वह प्रसंगोचित है, तथा उसके धीरोदात्त चरित के अनुरूप है। अतः श्लोक-15 का भी मूल में होना सम्भव नहीं दिखता है।

6-1-3 बंगाली पाठ में "साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं॰।" श्लोक-17 के मौलिक होने न होने का संशय नहीं है, क्योंकि यह श्लोक सभी वाचनाओं में संचरित हुआ है। किन्तु बृहत्पाठ परम्परा में और लघुपाठ परम्परा में उसका उपस्थितिक्रम भिन्न भिन्न दिख रहा है। जैसे, यहाँ बंगाली पाठ में, राजा जब कहता है कि चित्र में बार बार सुधार करने के बावजूद शकुन्तला का लावण्य रेखाओं से कुछ कुछ ही अङ्कित हो सका है। उसके बाद, उसका मन निःश्वास के साथ कहने लगता है कि प्रिया जब प्रत्यक्ष आयी तो मैंने उसे ठुकरा दिया, और अब चित्र में अंकित प्रिया को मैं बहुमान दे रहा हूँ। मानों स्रोतोवहा नदी को लाँघ कर (उसमें से बिना जल पीये), अब मैं मृगतृष्णिका में से जल पीना चाहता हूँ। किन्तु

57. काश्मीरी वाचना के पाठ को सुरक्षित रखनेवाली ऑक्सफोर्ड की शारदा पाण्डुलिपियों (क्रमांक-1247 एवं 159) में यह उक्ति नहीं है, यह भी हमारे विचार को प्रमाणित करती है।

देवनागरी वाचना में चेटी वर्तिका करण्डक को लाने के लिए जाती है तब उस चित्रपट को विदूषक के हाथ में सौंपना चाहती है। लेकिन राजा तुरन्त कहता है कि मैं ही उस चित्र को पकड़ कर रखूँगा (अहमेवैनमवलम्बे।), और उसके बाद वह निःश्वासपूर्वक यह श्लोक बोलता है। जिसके अनुसन्धान में विदूषक कहता है कि एषोऽत्रभवान् नदीमतिक्रम्य मृगतृष्णिकां संक्रान्तः। विदूषक की यह आत्मगत या अपवार्य उक्ति बंगाली पाठ में नहीं है। इस श्लोक का इस तरह का स्थानान्तरण हुआ है, जिसके कारण विदूषक के मुख में पूर्वोक्त एक उक्ति अधिक है इतना उल्लिखित करके इस चर्चा को रोक लेते हैं। क्योंकि यहाँ मुख्य रूप से श्लोकों के प्रक्षेपों पर ही विचारणा करना अभीष्ट है।

6–1–4 बंगाली वाचना के षष्ठांक के अन्त में मातलि ने विदूषक को पकड़कर मारना शुरू किया। उस प्रसंग का निवेदन करने के लिए पार्वतायन नामका कञ्चुकी आता है। उसको देखते हुए राजा ने कञ्चुकी की कम्पमान स्थिति का एक श्लोक में निरूपण किया है

प्रागेव जरसा कम्पः सविशेषेण संप्रति।
आविष्करोति सर्वाङ्गम् अश्वत्थमिव मारुतः॥ 6–29

यहाँ प्रासंगिक सन्दर्भ देख कर लगता है कि राजा के मुख में इस तरह की श्लोकात्मक अभिव्यक्ति ठीक नहीं है। आतङ्क की स्थिति में श्लोक एवं उसका गान नाट्यानुकूल नहीं होने से मौलिक नहीं लगता है। विदूषक, जो शकुन्तला का चित्र वसुमती के देखने में न आ जाय इस लिए द्रुतपद से भागा था, और मेघच्छन्न नामक प्रासाद की अट्टालिका में जा पहुँचा है वहाँ पर मातलि ने उसे पकड़ा है और मारना शुरू किया है। विदूषक की आपत्ति का कारण कोई जानता ही नहीं है, क्योंकि मातलि अदृश्य है। अतः चिन्ता का विशेष कारण है। ऐसी स्थिति में राजा कञ्चुकी की कम्पमान स्थिति का निरूपण करने के लिए एक श्लोक का गान करे वह किसी भी दृष्टि से वास्तविक नहीं है, शोभास्पद नहीं है। अतः यह श्लोक निश्चित रूप से प्रक्षिप्त ही होगा। लघुपाठ परम्परा का संचरण करने वाली देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में इस श्लोक का होना तो किसी भी तरह से सम्भवित है ही नहीं।

6–1–5 बंगाली वाचना (एवं मैथिली वाचना) में मातलि ने जब विदूषक को पकड़ कर मारना शुरू किया तब राजा कञ्चुकी से पूछता है कि माधव्य को क्या हुआ है? तब उसके प्रत्युत्तर में निम्नोक्त श्लोक बोला जाता है:–

तस्याग्रभागाद् गृहनीलकण्ठैरनेकविश्रामविलङ्घ्यशृङ्गात्।
सखा प्रकाशेतरमूर्तिना ते केनापि सत्त्वेन निगृह्य नीतः॥ 6–30

यहाँ पर भी पूर्वोक्त तर्क से ही, प्रकृत सन्दर्भ में श्लोकात्मक अभिव्यक्ति प्रसंग के अनुरूप है। अतः मौलिक नहीं है। यहाँ वस्तुतः क्या होना चाहिए, ऐसी जिज्ञासा की जाय

तो उसका उत्तर लघुपाठ परम्परा के शाकुन्तल में मिलता है। देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में, इसी श्लोकार्थ को व्यक्त करने के लिए एक गद्य वाक्य को ही रखा गया है। तद्यथा–अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेन आक्रम्य मेघप्रतिच्छन्नस्य प्रासादस्य अग्रभूमिम् आरोपितः माणवकः माधव्यः। विदूषक के परित्राण का उपाय जल्दी हो जाय इस लिए उसका निवेदन गद्य वाक्य में ही होना मौलिक प्रतीत होता है।

6–2–1 बंगाली पाठ की अपेक्षा से देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं के षष्ठांक के पाठ में कुल मिला कर पाँच श्लोक कम हैं। किन्तु संक्षिप्त की गयी इन दोनों वाचनाओं के पाठ में कुत्रचित् गद्य वाक्यों का प्रक्षेप भी हुआ है ऐसा दिख रहा है। उदाहरण के रूप में, इस अङ्क में सानुमती की उक्तियाँ जहाँ पर हैं वह बंगाली वाचना के पाठ्यांश के साथ पूर्ण रूप से ताल–मेल में नहीं है। दुष्यन्त को याद आ रहा है वह क्षण जब शकुन्तला को उसने तो ठुकराया ही था, लेकिन शार्ङ्गरवादि ऋषिकुमारों ने भी उसे उनके पीछे आने से रोक दिया था। उस समय निःसहाय शकुन्तला ने दुष्यन्त की ओर जो वक्रतापूर्ण दृष्टि डाली थी वह क्षण सविष शल्य की तरह दुष्यन्त को दाह दे रहा है। (मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम्।। 6-9) इसको सुन कर सानुमती बोलती है "अहो ईदृशी स्वकार्यपरता। अस्य संतापेनाहं रमे।।" यह दूसरा वाक्य बंगाली, मैथिली एवं काश्मीरी वाचनाओं के पाठ में नहीं है। देवनागरी में यह वाक्य प्रक्षिप्त ही किया गया है, उसका प्रमाण यही है कि उसी ने कुछ ही क्षण पहले यह कहा है कि मैं राजा का बहुमुख अनुराग देख कर अपनी प्रियसखी को उसका निवेदन करूँगी। उसका यहाँ आने का मूल प्रयोजन याद करने से मालूम होता है कि वह राजा की संतप्त दशा को देख कर उसका आनन्द उठाने नहीं आयी है। एवमेव, इस दृश्य के अन्त भाग में भी राजा की सन्तापजनित मूर्च्छित दशा को देख कर उसको एक क्षण के लिए ऐसा विचार भी आता है कि चलो, जाकर मैं ही राजा के पास पूरी बात का राज खोल दूँ और उसे आश्वस्त कर दूँ। अर्थात् वह राजा के दुःख में आनन्दित होने के लिए नहीं आयी थी यह बात निश्चित है। अतः पूर्वोक्त वाक्य को प्रक्षिप्त मानना चाहिए।

6–3 अनेक विद्वानों ने कहा है कि षष्ठांक बहुत लम्बा है। ऐसा कहने में इतनी लम्बाई की ओर अरुचि इङ्गित करना अभिप्रेत है। किन्तु किसी ने यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि वह लम्बा है या फिर लम्बा है ऐसा महसूस हो रहा है?। सच बात तो यह है कि तृतीयाङ्क के मूल पाठ में कटौती करके उसे संक्षिप्त किया गया, अतः षष्ठाङ्क लम्बा है, ऐसा लगता है। वस्तुतः यह अङ्क लम्बा नहीं है, इस दीर्घ पाठ में तो उसके प्रमाण निहित है कि तृतीयाङ्क का मूल पाठ भी लम्बा ही था। बंगाली पाठ के तृतीयाङ्क में दुष्यन्त ने जो शकुन्तला के कलुषित नेत्र को वदनमारुत से स्वच्छ कर दिया था, उसीका प्रतिरूप खड़ा करते हुए कालिदास ने इस षष्ठाङ्क में "कण्डूयमानाम् मृगीम्" को चित्रित करने की चाहत व्यक्त की है। देवनागरी के संक्षिप्त किये गये पाठ में जब इस चित्र के अभिलषित विषय

को प्रेक्षक सुनता है तो, उसको उस विशिष्ट इच्छा के मूल कहाँ पर छुपे हैं यह समझ में ही नहीं आ सकता है।

7–0–1 अभिज्ञानशाकुन्तल की बृहत्पाठ परम्परा एवं लघुपाठ परम्परा की पाँचो वाचनाओं में सप्तमाङ्क का पाठ प्रायः एक समान संचरित हुआ है। ध्यानास्पद जो भेद है, या कहें एकमात्र जो प्रक्षिप्तांश है वह केवल काश्मीरी वाचना के पाठ में मिलता है। वहाँ सप्तमाङ्क के आरम्भ में एक "प्रवेशक" है, जिसमें स्वर्गलोक की दो नाकलासिकायें रंगमंच पर आकर नृत्य करती हैं और प्रेक्षकवृन्द को यह बताती हैं कि इन्द्र को साहाय्य करके दुष्यन्त पृथिवीलोक की ओर वापस लौट रहा है। विद्वानों का मानना है कि यह प्रवेशक अकेले काश्मीरी पाठ में ही मिलता है, अन्यत्र कहीं पर भी नहीं है इसलिए वह प्रक्षेप ही है। किन्तु डॉ० एस. के. बेलवलकरजी का इस सन्दर्भ में विशेष मन्तव्य[58] है कि सप्तमांक का यह प्रवेशक मौलिक हो सकता है क्योंकि महाकवि कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र एवं विक्रमोर्वशीय नाटकों में भी नृत्य का दृश्य रखा है तो उसका स्थान यहाँ, शाकुन्तल में भी होना ही चाहिए। इस मन्तव्य का ऊहापोह अभी तक देखने में नहीं आया है।

7–1–1 बंगाली वाचना के सप्तमांक में कुल 35 श्लोक हैं। किन्तु देवनागरी, दाक्षिणात्य वाचनाओं में 34 श्लोक हैं। नाटक के अन्त भाग में दुष्यन्त को आशीर्वचन देते हुए मारीच ऋषि ने जो एक श्लोक बोला है वह बंगाली में अधिक है:

तव भवतु बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु,
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं प्रीणयालम्।
युगशतपरिवृत्तैरेवमन्योन्यकृत्यैर्नयतम्
उभयलोकानुग्रहश्लाघनीयौ ।। 7–34

(इस श्लोक के साथ "अपि च" का विनियोग करते हुए मैथिली वाचना में एक तीसरा श्लोक भी प्राप्त हो रहा है

क्रतुभिरुचितभागांस्त्वं सुरान् प्रीणयालं,
सुरपतिरपि वृष्टिं त्वत्प्रजार्थं विधत्ताम्।
इति सममुपचारव्यञ्जितश्रीमहिम्नोर्व्रजतु
बहुतिथोऽयं सौहृदेनैव कालः ।। 7–35

यह श्लोक, कुछ शब्दों के परिवर्तन के साथ, काश्मीरी वाचना में भी दृष्टिपथ में आ रहा है। लेकिन वहाँ पर बंगाली वाचना का "तव भवतु बिडौजाः०" वाला श्लोक नहीं है।

---

58. द्रष्टव्यः–Entract to 7 (Nataka and Nartan), Bulletin of Deccan College Research Institute, Poona, vol.-20, 1950, pp. 19-24

इस "तव भवतु बिडौजा:०" श्लोक को देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचना में से हटाया गया है। अर्थात् उसमें एक श्लोक का संक्षेप किया गया है। यहाँ इस श्लोक का संक्षेप किया गया है इतना कहने से बात पूरी नहीं होनी चाहिए। वस्तुत: नाटक में उसकी कोई विशेष उपयोगिता भी नहीं है। इस लिए वह प्रक्षिप्त होने की सम्भावना ही अधिक है। और इस सम्भावना का समर्थन इस बात से होता है कि बंगाली वाचना के श्लोक के स्थान में काश्मीरी वाचना में कोई दूसरा ही श्लोक चल रहा है तथा मैथिली वाचना ने बंगाली वाचना के श्लोक को स्वीकार करने के साथ साथ काश्मीरी वाचना का श्लोक भी स्वीकारा है। अत: इन दोनों श्लोकों को प्रक्षिप्त मानना युक्तियुक्त है। इस सन्दर्भ के अलावा बंगाली और देवनागरी वाचनाओं में सप्तमाङ्क का पाठ प्राय: एक समान प्रवर्तमान है।

उपसंहार:—देवनागरी वाचना ही अधिकाधिक श्रद्धेय (एवं मौलिक) है इस प्रकार की मान्यतावाले विद्वानों ने बंगाली पाठ में प्रक्षेप है ऐसा पूर्वाग्रह बनाकर उसकी नितान्त उपेक्षा की है। दूसरी ओर जिन विद्वानों ने अनेक पाण्डुलिपियों का आलोडन करके बंगाली वाचना के पाठ की समीक्षितावृत्ति प्रकाशित की है, उन्होंने बंगाली पाठ ही प्राचीनतर (एवं मौलिक) होने का मताग्रह दृढ कर लिया है। परिणामत: बंगाली पाठ प्राचीनतर या मौलिकता के नजदीक होते हुए भी उसमें प्रकट रूप से दिख रहे प्रक्षेपों का अन्वेषण करने का प्रयास हुआ ही नहीं है। निम्न स्तरीय पाठालोचना के फलस्वरूप बंगाली वाचना की समीक्षितावृत्ति का पाठ तैयार हो जाने के बाद, उस पाठ की उच्च स्तरीय आलोचना भी अपेक्षित थी जिसकी विस्तृत चर्चा प्रस्तुत आलेख में की गयी है।

तथा च, देवनागरी वाचना का पाठ ही व्यंजना से युक्त है, अत: वही कालिदासीय पाठ हो सकता है ऐसा माननेवालों ने कभी यह सोचा ही नहीं कि देवनागरी के (विशेष रूप से तृतीयांक के) पाठ में समयनिर्देशन की उक्तियों में पूर्वापर विसंगति है, अत: देवनागरी का पाठ संक्षिप्त किया गया पाठ हो सकता है। देवनागरी वाचना में चल रहा पाठ तो कम समय में पूरे नाटक की प्रस्तुति करने के आशय से अनेक स्थानों पर कटौती किया गया पाठ है। लेकिन राघव भट्ट ने उस संक्षिप्त पाठ में भी सभी सन्धि-सन्ध्यङ्ग को सिद्ध होते हुए दिखाया है इस लिए उसका सर्वाधिक प्रचार हो गया। डॉ० बेलवलकर जी के विविध शोधलेखों के प्रकाशन के बावजूद देवनागरी पाठ के पक्षधर विद्वानों ने अपने पूर्वाग्रहों को पहचाना नहीं। कालिदासीय पाठालोचना की उभयथा दुर्भाग्यपूर्ण इस स्थिति में कुछ बदलाव हो यही अभ्यर्थना है।

—•—

चन्द्रशेखरचक्रवर्तिकृतसन्दर्भदीपिकया समलङ्कृतम्

।। अभिज्ञानशकुन्तलम् ।।

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रसन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।। 1–1।।

[नान्द्यन्ते]

सूत्रधारः–अलमतिविस्तरेण। (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये, यदि नेपथ्यविधानम् अध्यवसितं तदिहागम्यताम्।

नटी–(प्रविश्य) अज्ज, इअं म्हि। आणवेदु अज्जो, को णिओओ अणुचिट्ठीअदु त्ति। (आर्य, इयम् अस्मि। आज्ञापयतु आर्यः, कः नियोगः अनुष्ठीयताम् इति।)

।। ॐ नमो गणेशाय।।

श्रीचन्द्रशेखरपदाम्बुरुहे महेन्द्रश्रीचन्द्रशेखरकृतावनती प्रणम्य।
श्रीचन्द्रशेखरकृती वितनोति वृत्तिं शा(श)कुन्तलस्य विलसत्तनुचित्तवृत्तिम्।।

प्रारि(री)प्सितस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तिकामः कविताकल्पलताराम[1] वाग्देवता-विश्राम (धाम)[2] श्रीकालिदासः सकलान्तरायोत्सारण-कारण-स्मरणस्य भगवतः शशधरशिरोमणेरष्टमूर्ति- वर्णनरूपाम् आशीर्वादात्मिकां नान्दीं प्रकाशयति।।

या सृष्टिरिति।। (1-1) ईशः परमैश्वर्यवान् महादेवस्ताभिस्तनुभि-र्मूर्तिभिर्वो युष्मान् अवतु रक्षतु। ताभिः काभिः? या सृष्टिः स्रष्टुः स्थावर-जङ्गमात्मक-जगद्विधातुराद्या प्रथमा सृष्टिः। प्रथमतो या ब्रह्मणा विहितेति भावः। सा तनुर्जलरूपा।। या हविर्हवनीयद्रव्यं घृतादिकं वहति। हविः कीदृशम्? विधिहूतं, वेदविधानेनाग्नौ क्षिप्तम्। साऽग्निरूपा।। या होत्री यजमानरूपा।। ये द्वे तनू कालं दिवारात्रिरूपम् समयं विधत्तः कुरुतः। ते चन्द्रार्क-रूपे। एतेन दिक्कालात्मव्यावृतिः[3] ।। या जगद्[4] व्याप्य, स्थावरजङ्गमात्मकं जगदाक्रम्य स्थिता वर्तमाना। सा कीदृशी? श्रुतेःकर्णस्य[5] विषयो गोचरो

---

1. मातृका 4117 इत्यत्र कविताकल्पलताराम-वाग्देवताविश्रामश्रीकालिदासः इति पठ्यते।
2. मातृका 4118 इत्यत्र फलकाद् बहिः लिखितम्।
3. वाक्यमेतत् मातृकयोः (4117-4118) "साकाशरूपे"ति प्राक् पठ्यते, किन्तु स्थानपरिवर्तनं द्वयोर्लिपिकारयोः प्रमादः।
4. मातृका 4117 इत्यत्र "जागत" पाठो न समीचीनः प्रतिभाति।
5. मातृका 4117 इत्यत्र वर्णस्य इति दृश्यते।

सूत्रधारः—आर्ये, अभिरूपभूयिष्ठा परिषत्। तस्यां च श्रीकालिदासग्रथितवस्तुना नवेनाभिज्ञानशकुन्तलनाम्ना नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः।

नटी—सुविहिदप्पओअदाए अज्जस्स ण किं पि परिहाइस्सदि।

(सुविहितप्रयोगतया आर्यस्य न किमपि परिहास्यते।)

सूत्रधारः—(सस्मितम्) आर्ये, कथयामि ते भूतार्थम्।

गुणः शब्दो यस्याः सा तथा[6]। साऽऽकाशरूपा।। यां तनुं सर्व्वेषां बीजानां व्रीह्यादीनां प्रकृतिरुत्पत्तिस्थानम् इति कृत्वा आहुः। पुराविदः पण्डिताः वदन्तीत्यर्थः। सा पृथिवीरूपा।। निदाने प्रकृतिः स्त्रियामिति व्याडिः। यया मूर्त्या प्राणिनो मनुष्यादयः प्राणवन्तः, सा वायुरूपा।। प्राणोपान इत्यमरः। तनुभिः कीदृशीभिः? प्रत्यक्षाभिः। योग्ययोगीन्द्र-ज्ञानग्राह्याभिरित्यर्थः। ईशः कीदृशः? प्रसन्नः सन्तुष्टः।।

नान्द्यन्त इति। नान्दीलक्षणञ्च आशीर्यत्र नमस्क्रिया तु शशिनः सङ्कीर्तनं, वस्तुनो निर्देशो गुरुसंस्तुतिर्मधुलिहां मोदाय पुष्पाञ्जलिः। उच्चैः द्वादशभिः पदैरथ समैर्यद्वाष्टभिस्तुर्य्यकैः सद्वृत्तेन सुगन्धिना च कथिता नान्दीति सर्व्वागमे इति त्रिलोचनमिश्रादयः। नान्दीं पदैर्द्व(र्द्वा)दशभिरष्टाभिः संस्कृताम्, तां षोडषपदम् एके, केचिदाहुश्चतुष्पदात्(म्)। सुप्-तिङन्तं पदं, श्लोकतुर्य्यांशश्चेति पक्षयोः(पादयोः)।।"न मुनेः स्वरसः, किं तु गतानुगतिकादरः" इति वामदेवादयः। अन्ये तु पत्रावली[7] माङ्गलिनी तथा सा नमस्कृतिश्चेति वदन्ति नान्दीम्। शो(श्लो)कस्य पादैरथ सुप्तिङन्तैः कार्य्याऽष्टभिर्द्वादशभिः पदैः स्वेति(श्चेति) नान्द्याश्चातुर्विध्यमाहुः।। तदियं नान्दी। एतदन्ते सूत्रधारो वदति, नान्दीं पठित्वाऽन्यद् वदतीति वाक्यार्थः। तल्लक्षणञ्च नर्तनीय-कथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते। रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते[8]। सूत्रधारः पठेन्नान्दीं प्रथमं स्वरमाश्रित इति नयेन नान्द्यन्ते सूत्रधारप्रवेशोऽपास्त इति प्राज्ञः। केचित्तु सूत्रधारः पठेद् एनाम् अन्यो वा रङ्गभूमिग इति पठन्ति। तन्मते स्वर्गादौ(रूपकादौ?) सूत्रधारपदेन लक्षणया स्थापकनामपात्रमुक्तम्। तेन नान्द्यन्ते सूत्रधारः स्थापकः प्रविशतीत्यर्थः। काव्यार्थस्थापनात् स्थापकं(कः)। तदुक्तम्—

"रङ्गपूजां विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते।
स्थापकः प्रविशेत् तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः।।"

इति। त्रिलोचनमिश्रैस्तु(?) सूत्रधार इति क्रियापदमुक्तम्। सूत्रं भूमिकां धारयतीति[9] सूत्रधारः स्थापक इत्यर्थः। अन्यस्त्वाहुः नान्दी नान्दीपाठकः अन्ते शेषे इदं प्रयोजितवान्। तदुक्तं भरतेन "अथ पात्राणि तत्रादौ नान्दी। नान्दीस्तु यः पठेद्" इति। चतुर्भुजमिश्रास्तु नान्द्यन्त इत्यस्यायमर्थः। इयं नान्दी, नान्दीति ज्ञातव्यम् अन्ते सूत्रधार प्रविशतीत्याहुः। नव्यास्तु नेयं नान्दी, किन्तु पूर्वरङ्गस्य रङ्गत्वयामाख्या(?) रङ्गमिदम्। तदुक्तं यस्मादभिनयो ह्यत्र प्राथम्यादेवतार्थ्यते। रङ्गत्वावमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकमिति नान्द्यास्तु रङ्गद्वारात् प्राङ् नित्यमिति कर्तव्यतया न मुनिना निर्देशः कृतः। "वेदान्तेषु यमाहुरित्यादौ नान्दी लक्षणायोगात्। नान्दी-लक्षणन्तु द्वादशाष्टपदपरिच्छिन्नाऽऽशीरादिषु

---

6. मातृका 4117 इत्यत्र "ग(गो) चराचरागूणः शब्दो यस्याञ्च(श्च) सा तथा" इति पठ्यते।
7. मातृका 4117 इत्यत्र "त पात्रावलिनी", तन्न समीचीनम्।
8. शिवानन्दकरी नान्दी, नान्दी विघ्नोपशान्तये इति 4117 इत्यत्राधिकं काकपदेन फलकाद् बहिर्लिखितम्।
9. शब्दोऽयं 4117 इत्यत्र मातृकायां नास्ति।

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानाम् आत्मन्यप्रत्ययं चेतः।। 1–2।।

नटी–एवं णेदं। अणन्तरकरणीयं दाणिं आणवेदु अज्जो। (एवं नु एतत्। अनन्तरकरणीयम् इदानीम् आज्ञापयतु आर्यः।)

सूत्रधारः–आर्ये, किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रसादहेतोर्गीतादनन्तरकरणीयमस्ति।

नटी–अध कदरं उण उदुं समस्सइअ गाइस्सं। (अथ कतरम् पुनः ऋतुम् समाश्रित्य गास्यामि।)

सूत्रधारः–आर्ये, नन्विममेव तावन्नातिचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमाश्रित्य गीयताम्। सम्प्रति हि–

सुभगसलिलावगाहाः पाटलिसंसर्गसुरभिवनवाताः।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः।। 1–3।।

युक्तं पदानीति। तदुक्तं रङ्गद्वारमारभ्य कविः कुर्यादिति। तेन नान्द्यन्ते सूत्रधार इदं प्रयोजितवान्। इतः प्रभृति मया नाटकमुपादीयत इति कवेरभिप्रायः। अत एव प्राचीनग्रन्थे विक्रमोर्वश्यां नान्द्यन्त इत्यनन्तरमेव "वेदान्तेषु यमाहुरि" त्यादि पद्यं दृश्यत इत्यर्थः।।

अलमिति। अलं निष्फलम्। तदुक्तं निष्फलपर्यायैभर्तृ(?)हरिमिश्रैः। भवति हि तृतीयान्तेन समर्थितमिति। आवश्यकै र्नान्दीकृता अनावश्यकैः प्रत्यहोरात्रादि प्रपञ्चैः फलाभावैः सदस्यवैरस्यादिति भावः। तदुक्तं–

"यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूर्वरङ्गस्य नाटके।
तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये।"

पूर्वरङ्गस्तु यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वरङ्गविघ्नोपशान्तये। कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते।। नेपथ्यं भूषणस्थानम् इति कोषः। रङ्गाद् बहिस्तु नेपथ्यमिति मुनिः।।

आर्ये इति नाट्ये नटी–सूत्रधारावार्य्य नाम्ना परस्परमिति भरतः। नेपथ्यवेशः। आकल्पवेषो नेपथ्यम् इत्यमरः। अध्यवसितं निर्व्यूढम्। पाठान्तरे–नेपथ्ये यद् विधीयते तन्नेपथ्यविधानं नृत्यम्। अध्यवसितमिष्टम्। आर्य इयम् अस्मि। आज्ञापयत्वार्य्यः, को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति। रसभावदीक्षागुरोः[10] श्रीसाहसाङ्कस्या–ऽभिरूपभूयिष्ठा परिषदिति क्वचित् पाठः[11]। अभिरूपः पण्डितः। वस्त्वितिवृत्तं शकुन्तलादुःषन्त[12] सम्बन्धरूपम् अभिज्ञायते स्मर्यतेऽनेनेत्यैभिज्ञानचिह्नाङ्गुरीयकम्, तेन स्मृता शकुन्तला, अभिज्ञानशकुन्तला। शाकपार्थिवादिः। तामधिकृत्य कृतो ग्रन्थ इत्यर्थेऽपनायकार्य्यं नाटकस्य ग्रह्यता(गृहीता)र्थप्रकाशनमिति भरतः।।

---

10. रसभावदीक्षादीक्षागुरोः इति 4118 अत्र दृश्यते। रङ्गभावः दीक्षा दीक्षागुरोः इति मातृका 4117 इत्यत्र पठ्यते।

11. मैथिली पाठपरम्परायां "रसभावविशेषदीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत्।" इति वाक्यमुपलभ्यते। उत्कलीय पाठपरम्परायां "श्रीविक्रमादित्यस्य" इत्यधिकं प्राप्यते।

12. शकुन्तलाम्बः सन्त इति मातृका 4117 इत्यत्र पठ्यते।

नटी–(गायति)

खणचुम्बिआइँ भमरेहिँ उअह सुउमारकेसरसिहाइं।
अवअंसअन्ति सदअं सिरीसकुसुमाइँ पमआओ।। 1–4।।
(क्षणचुम्बितानि भ्रमरैः ऊहत सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति सदयं शिरीषकुसुमानि प्रमदाः।।)

ना(नायिके)त्युत्कण्ठातिशयाय[13]। नाटकेति। तल्लक्षणञ्च–

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम्। पञ्चाधिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः।।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्। दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान् नायको मतः।।
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा। अङ्गमन्ये रसाः सर्बे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः।।

इदञ्च रूपकम्। तदुक्तम्–"नाटकम् अथ प्रकरणं भाण–व्यायोग–समरकाव–(समवकार)–डिमाः। ईहामृगाङ्क–वीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दशेति"। अपि च, विष्कम्भकादावपि नो बोधो वाच्यविकारिणः। न चातिरसो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्। रसं वा न तिरोदध्याद्वस्तु अलङ्कारलक्षणैः। घटितं त्रिंशल्लक्षणान्यत्र नाट्यालङ्कृतयस्तथा। त्रयस्त्रिंशत् प्रयोज्यानि वीथ्यङ्गानि त्रयोदश।।

सन्धयश्च [मु]ख[14]–प्रतिमुख–गर्भ–विमर्श–निर्वहणाख्याः। तदङ्गानि चोपक्षेपादीनि आकारेभ्योऽवसेयानि। एतानि च यथास्थानं किञ्चिदेव वक्ष्यन्ते, विस्तरभयादिति।। आधीयताम् आरोप्यतां यथा कोऽपि स्वर–तालादि–भङ्गो न स्यादिति भावः। स्वविहित–प्रयोगतयाऽभ्यस्तनृत्यतया परिहास्यते। परिहीणं भविष्यति।। सस्मितमिति। सङ्गीतप्राविण्याभिधानात् नटीकृतप्रशंसा जातईर्षादिति शङ्करः। स्मिताख्यहसितञ्चोत्तमानाम्। तल्लक्षणञ्च–ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः। अदृष्ट–दन्तमुकुलैरुत्तमानां स्मितं भवेत्।।

भूतार्थं सत्यम्।

आपरि०। (1–2) प्रयोगविज्ञानं नृत्यकौशलं बलवत् सुष्टु की(कि)मुत अत्यतीव च निर्भरे इत्यमरः। शिक्षितानाम् अभ्यस्तविद्यानाम्, अर्थान्तरन्यासः। एवमेतत् अनन्तरकरणीयम् अव्यवधानकर्तव्यम् इदानीम् आज्ञापयत्वार्यः। उत्तरीयानि सरोजेष्विति प्राकृतसूत्रम्। करणिज्जं करणीयमिति द्वयमेव साधु। दानि–शब्द इदानीमर्थे।। ऋतुञ्च कञ्चित्, प्रायेण भारतीं वृत्तिमाश्रित इति नियमाद् आह। कदरमिति कतरम्। पुनर्ऋतुम् समाश्रित्य गास्यामि। ननु–शब्दोऽत्रानुज्ञायाम्। ननु–प्रश्नेऽप्यनुनयेऽनुज्ञायामपीति मेदिनी। सम्प्रति हीति, हि–पादपूरणे हेतौ तथा प्रश्नेऽवधारणे इति कोषः।

सुभग०।। (1–3) सुभगं रम्यं, "पाटलिः" पुष्पभेदः। प्रकृष्टाच्छाया आतपाभावो यत्र देशे स प्रच्छायः। प्रच्छाया प्रच्छायम्। विभाषा सेने (पा. सू. 2–4–25)त्यादिना क्लीबैकत्वमिति शङ्करः, तच्चिन्त्यम्। जात्यलङ्कारः।।

खण०।। (1–4) क्षणचुम्बितानि भ्रमरैः, उअ अपश्यते(दि)त्यर्थः। उअअ (ऊहत)[15]

---

13. नायिकोत्कण्ठाः तिशयाय इति मातृका 4118 इत्यत्र पठ्यते।
14. अस्य स्थाने "सन्धयश्च रथ खप्रतिमुख०" इति 4117 इत्यत्र पठ्यते।
15. मिथिलातः प्रकाशिते शङ्कर–नरहरिटीकाद्वयसहितेनाभिज्ञानशाकुन्तले तु "ऊहत" इति लिखितें वर्तते।

सूत्रधारः–आर्ये, साधु गीतम्। असौ हि रागापहृतचित्तवृत्तिरालिखित इव भाति सर्वतो रङ्गः। तत्कतमं प्रयोगमाश्रित्यैनमाराधयामः।

नटी–णं पढमं जेव अज्जेण आणत्तं आहिण्णाणसउन्तलं णाम अउव्वं णाडअं अहिणीअदु त्ति। (ननु प्रथममेव आर्येणाज्ञप्तम् अभिज्ञानशकुन्तलम् नाम अपूर्वम् नाटकम् अभिनीयताम् इति।)

सूत्रधारः–आर्ये, सम्यगवबोधितोऽस्मि। अस्मिन्क्षणे विस्मृतं खलु मयैतत्। कुतः–

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुःषन्तः सारङ्गेणातिरंहसा।। 1–5।।

(इति निष्क्रान्तौ)

।। प्रस्तावना।।

इति शङ्करप्रमादः। सुकुमारकेशरशिखानि। अवतंसयन्ति सदयं शिरीषकुसुमानि प्रमदाः।। पुंस्युत्तंसावतंसौ द्वौ कर्णपूरे च शेखरे इत्यमरः। सदयम् इत्यतिकोमलत्वाद् भङ्गाशङ्कयेति भावः।। रागः स्वरः। रङ्गो रङ्गस्थलम्।। ननु प्रथममेवार्य्येणाज्ञप्तम् "अभिज्ञानशकुन्तलम्"[16] नामापूर्वं नाटकम् अभिधी (नी)यतामिति।

सूत्रधारो वदतीति शेषः। एवमन्यत्रापि।

विस्मरणहेतुमाह–तवास्मि०।। (1–5)। प्रसभं बलात् हृतोऽस्वाधीनः कृतोऽस्मि। हारिणा मनोहारिणा। वस्तुस्वरूपं सूचयन्नाह–एष इति। सारङ्गो मृगः। रंहो वेगः। नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशः क्वचिदिष्यत इति भरतः। निष्क्रान्तौ नटी–सूत्रधारावित्यर्थः। इयं प्रस्तावना जातेत्यर्थः। तल्लक्षणञ्च–

"नटी विदूषको वाऽपि पारिपार्श्वक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते।।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्या .... प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनापि सा।।
उद्घातकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा।
प्रवर्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभेदाः।।

तत्रेयम् अवलगित–नाम्नी प्रस्तावना। तदुक्तम् यत्रैकत्र समावेशात् कार्यमन्यत् प्रसाध्यते। प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नाऽवलगितं बुधैरिति। सूचयेद् वस्तुबीजं वा मुखं(मुख्य)पात्रम्, अथापि वेति वचनात् पात्रसूचनमिदम्। धीरोदात्तो धीरोद्ध[त]स्तथा धीरललितः। धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः। प्रथमं चतुर्भेद इति नायकभेदाश्चत्वारः। तत्रायं धीरोदात्तः। तदुक्तं अवि(धि)क–क्षमावान् अतिगम्भीरो महासत्त्वः। स्थेयाननिगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथित इति। अङ्गी चात्र शृङ्गारः। यद्वा देवा धीरोद्धता ज्ञेया, ललितास्तु नृपादय इति दर्शनाद् धीरललित एवायम्। तल्लक्षणञ्च निश्चितो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्। शसवंति०। तदुक्तं भरतेन, वेशः सांग्रामिकश्चैव भूषणं परिकीर्तितः[17]।

---

16. अभिज्ञानशकुन्तला नामापूर्वम् इति 4118 इत्यत्र पठ्यते।

17. मातृका 4117 इत्यत्र परिकीर्तितम् इति पठ्यते।

(ततः प्रविशति रथारूढः सशरचापहस्तो मृगमनुसरन् राजा सूतश्च।)

सूतः–(राजानं मृगं चावलोक्य) आयुष्मन्–

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके।
मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम्।। 1–6।।

राजा–सूत ...... सूत ....., दूरममुना सारङ्गेण वयमाकृष्टाः। सोऽयमिदानीं

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
शष्पैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति।। 1–7।।

(सविस्मयम्) कथमनुपतत एव मे प्रयत्नप्रेक्षणीयः संवृत्तः।

सूतः–आयुष्मन्, उद्घातिनी भूमिरिति रश्मिसंयमनाद्रथस्य मन्दीभूतो वेगः। तेन मृग एष विप्रकृष्टः संवृत्तः। संप्रति समदेशवर्ती न ते दुरासदो भविष्यति।

राजा–तेन हि विमुच्यन्तामभीषवः।

सूतः–यथाज्ञापयत्यायुष्मान्। (रथवेगं रूपयित्वा) आयुष्यमन्, पश्य, एते हि–

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकायाः
स्वेषामपि प्रसरतां रजसामलङ्घ्याः।
निष्कम्पचामरशिखाश्च्युतकर्णभङ्गा धावन्ति
वर्त्मनि तरन्ति नु वाजिनस्ते।। 1–8।।

विचित्र-शस्त्र-कवचो रङ्गगुणो धनुर्धर इति। आयुष्मन्निति वदेद्, राज्ञीं च चेटीञ्च "भवति! "इति विदूषकः। "आयुष्मान्" रथिनं सूतो, वृद्धं "तात" इति चेतन इति भरतनियमात्।।

कृष्ण(सारे)०।।(1-6) चक्षुरिति जात्यपेक्षया। साक्षात् प्रत्यक्षं पिनाकिनमिवेत्युत्प्रेक्षालङ्कारः। पिनाकिपदं साभिप्रायम्। "सूत सूते"ति विस्मये। विषादे विस्मये हर्षे कोपे दैन्येऽधारणे। प्रसादनेऽनुकम्पायां द्विस्त्रिरुक्तं न दुष्यतीति काव्यमीमांसकाः। संभ्रमे यावद् बोधं वेति च।।

ग्रीवा(भङ्गाभिरामम्)।।(1-7) अनुपतति पश्चादागच्छति। मुहुः प्रेरितनयनः। पश्चार्द्धम् अपरार्द्धे अर्थाच्छरीरस्य अर्द्धोत्तरपदस्य दिग्वाच्यपरस्य पश्चभावो वक्तव्य इत्यपरपदस्य पश्चभावः। शष्पं बालतृणम्। पश्येति वाक्यार्थ-कर्मकम्। उदग्रं विपुलं प्लुतम् गतिभेदः। अत्र भङ्गपदस्यासभ्य-स्मारकत्वेनाभिरामपदस्य समभिव्याहारत्वे विप्रतिपत्तिः, जातिरलङ्कारः। उद्घातिनी निम्नोन्न-तत्वात्पादस्खलनवती। उद्घातस्तु पुमान् पादस्खलने समुपक्रमे इति मेदिनी। रश्मीति रज्जुसमाकर्षणात्, विप्रकृष्टो दूरस्थः।

अभीषुः प्रग्रहे रश्मावित्यमरः।।

मुक्तेषु।। (1-8) निरायतेति अतिदीर्घशरीराग्रभागाः। स्वेषां निजखुरोद्धतानां प्रसरतां पुरोगच्छताम् अन्यथा निर्वेगस्याप्यश्वस्य वातालङ्घनाभावाद् गुणाभावः। इदानीञ्चानुकुलो वातः

राजा–(सहर्षम्) कथमतीत्य हरिणं हरयो वर्तन्ते। तथा हि–

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसंधानमिव तत्।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किं चित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात्।। 1–9।।

(नेपथ्ये) भो भो राजन्, आश्रममृगोऽयं, न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

सूतः–(आकर्ण्यावलोक्य च) आयुष्मन्, अस्य खलु ते बाणपातपथवर्तिनः कृष्णसारस्यान्तरायौ तपस्विनौ संवृत्तौ।

राजा–(ससंभ्रमम्) तेन हि निगृह्यन्तामभीशवः।

सूतः–यथाज्ञापयत्यायुष्मान्। (इति तथा करोति) (ततः प्रविशति सशिष्यो वैखानसः)

तापसः–(हस्तमुद्यम्य) भो भो राजन्, आश्रममृगः खल्वयम्।

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽय-
मस्मिन्मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः।
क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं क्व
च निशितनिपाताः सारपुङ्खाः शरास्ते।। 1–10।।

शङ्क्यते। तेन वा कविरेवम् अवादीदिति केचित्। कीदृशाः कम्पशून्यचामराग्रभागाः, तथा उन्नोनीत उचोलितकर्णाः तरन्ति उत्पल्वन्ते।। नु वितर्के, उभयोः समानाधिकरणाद्। वितर्क इति वेगातिशयोक्तिः। किरणप्रग्रहौ रश्मी इत्यमरः।

अतिशयोक्तिरलङ्कारः। हरयो घोटकाः। त्वक्-केशवाल-लोमानि सुवर्णाभानि यस्य तु। हरिर्नामतो वाजी पीतकौशेय समन्वित[18] इत्यश्वभेद इत्यन्ये।

यदा०।। (1-9) मम पार्श्वे दूरे वा क्षणमपि न किञ्चिद् विद्यत इति शेषः। तदेवाह दर्शनविषये यद्दूरदोषात् सूक्ष्मं प्रतिभातमित्यर्थः। एवमग्रेऽपि। तत्कालमेव तद्वस्तु विपुलत्वं याति। आलोके दर्शने सतीति शङ्करः। अर्द्धे विच्छिन्नं द्विधाकृतम्। कृतसन्धानमेकीभूतमिव भवति। स्वभावतो यदुक्तं तदपि समलेखम् अवक्रमिव नयनयोरश्व-वेगादिति च सम्बन्धः। सर्वत्र प्रकृत्येत्यवक्रं नयनयोरिति सम्बन्धः इति शङ्करः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः। न हन्तव्य इति। द्विरुक्तिः संभ्रमात्। बाणपातस्य पथि वर्तमानस्य। शङ्करस्तु बाणपात-समवर्तिनः सायकपात-तुल्यदेशस्थितस्य, यद्वा बाणपातसमवर्ती, समः झटिति लक्ष्यहरत्वादिति पाठान्तरमाह। अन्तरायौ विघ्नभूतौ। सम्भ्रमस्त्रासः। सम्भ्रमं त्रयमिच्छन्ति– "भयम् उद्वेगमादरमिति कोषः। उद्यम्य उत्तोल्य।।

न खलु न खलु०।। (1-10) शब्दो निषेधे। द्विरुक्तिरत्यन्तनिषेधाय। मृदुनि कोमले। बत खेदे। हरिणकानां क्षुद्रहरिणानाम्। लोलं चञ्चलम्। निशित-निपातास्तीक्ष्णप्रहाराः। निपातयतीति निपातः।

---

18. संनिभ इति शङ्करेण पठ्यते। (शङ्कर-नरहरिटीकयोः सम्पादनं मिथिलाविद्यापीठेन प्रकाशितं (1957) वर्तते।)

तदाशु कृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।। 1–11।।

राजा–(सप्रणामम्) एष प्रतिसंहृतः। (इति यथोक्तं करोति।)

तापसः–(सहर्षम्) सदृशम् एवैतत्पुरुवंशप्रभवस्य नरेन्द्रप्रदीपस्य भवतः। सर्वथोभयचक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि।

राजा–(सप्रणामम्) प्रतिगृहीतं ब्राह्मणवचः।

तापसौ–राजन्, समिदाहरणाय प्रस्थितावावाम्। एष चास्मद्गुरोः कण्वस्य साधिदैवत इव शकुन्तलयानुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपातः प्रविश्यात्र गृह्यतामतिथिसत्कारः। अपि च–

धर्म्यास्तपोवनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समभिवीक्ष्य।
ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति।। 1–12।।

राजा–अथ सन्निहितस्तत्र कुलपतिः।

तापसौ–इदानीमेव दुहितरमतिथिसत्कारायादिश्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।

राजा–यद्येवं तामेव द्रक्ष्यामि। सैव विदितभक्तिर्मां महर्षये निवेदयिष्यति।

तापसौ–एवं साधयावस्तावत्। (इति सशिष्यो वैखानसो निष्क्रान्तः)

राजा–सूत, प्रेरयाश्वान्। पुण्याश्रमदर्शनेनात्मानं पुनीमहे तावत्।

सूतः–यथाज्ञापयत्यायुष्मान्। (इति भूयो रथवेगं निरूपयति)

राजा–(समन्तादवलोक्य) अकथितोऽपि ज्ञायत एव यथायमाभोगस्तपोवनस्य।

सूतः–कथमिव।

राजा–किं न पश्यसि। इह हि–

शल्यमित्यन्यः। सारो दृढः। पूङ्खः शराधो भागो येषाम्। अत्यन्तासम्भवेऽर्थे क्व–द्वयन्तु प्रयुज्यते। अहो बतानुकम्पायां खेदे सम्बोधनेऽपि चेति मेदिनी। अत्र पुष्पराशावित्यनेनात्यन्तासामञ्जस्यमुक्तम्। ततस्तदेवोपपादयति क्व–बतेति इति पौनरुक्त्या समाधानमाह शङ्करः। गुरवस्तु धन्विनां हि द्वयं पौरुषं दुर्भेदस्य भेदनं, दुर्म्मरस्य झटिति मरणं च। तदत्र पुष्पेत्यनेन दुर्भेदत्वं निरस्य, क्व–बतेत्यनेन दुर्म्मरत्वं निरस्तमिति। न कदाचिद् विप्रतिपत्तिः, तेनैतन्मृगमारणेन भवतो न किमपि पौरुषमिति भावः इति सुष्ठु समादधिरे। यत्तु विस्मय–विषादादिषु पौनरुक्त्यं न दोषायेति–तत् कुव्याख्यानम्। तदाशु। (1–11)। आशु शीघ्रं प्रतिसंहरेत्यन्वयः। आर्तत्राणाय दुःखितरक्षणाय अनागसि निरपराधे प्रतिसंहारः संहार एव। तदुक्तम्–धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित्तमनुवर्तते। तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्ग–गतिस्त्रिधेति।। सहर्षमिति। वाचा मात्रेणैवाभिमतसम्पादनात् सर्वथा निर्विघ्नम्। चक्रवर्तिनं

नीवाराः शुककोटरार्भकमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दलेखाङ्किताः।। 1–13।।

अपि च–

कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूला
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन
एते चार्वागुपवनभुवि च्छिन्नदर्भाङ्कुरायां
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति।। 1–14।।

सूतः–सर्वम् उपपन्नम्।

सार्वभौमम्। गृहीतमिति, एवं भवती(त्वि)त्यर्थः। प्रस्थितौ गन्तुमुद्यतौ। अयञ्चोल्लेखनामा नाट्यालङ्कारः। यदुक्तं कार्यदर्शनमुल्लेख इति। साधिदैवत इत्यनेन शकुन्तलायाः सौन्दर्यातिशय उक्तः। मालिनी नदीभेदः। तस्यास्तीरमनु समीपे। अतिपातः प्रत्यूहः।

धर्म्या० ।। (1-12) धर्मादनपेताः। धर्म्मे साधेवारा,(साधिकाराः?) क्रिया यज्ञादिकाः। किणः संघर्षजो[19] व्रणः, अङ्कश्चिह्नं यस्य।। अथ प्रश्ने। कुलपतिर्बहूनां तापसानां मुख्यः। इदानीमिवेत्यनेन कुलपतिश्चिरात् प्रत्यागमिष्यतीति गम्यम्। अतिथीत्यनेन सुलभमेव तत्कन्यादर्शनमिति च। तेन च नृपस्याश्रमप्रवेशनौपयिकं रूपमुक्तम्। दैवमिति विवाहप्रतिबन्धकं दूरदृष्टम्। विदितभक्तिरिति क्रियाविशेषणेन समासः। एवम् अङ्गीकारे, साधयामो गहारः। प्रायेण न्यन्तकः(?) साधिर्गमे प्रस्थाने प्रयुज्यत इति भरतः। तावच्छब्दः परिच्छेदे। यावत्-तावत् परिच्छेदे इति शाश्वतः। आभोगो विस्तारः। कथमिवेति वाक्यालङ्कारे। परिचायकं रूपमुपदर्शयन्नाह–"इह ही"ति, हिरत्र हेतूपदेशे। प्रश्ने हेतूपदेशे हि इति मेदिनी।

नीवाराः० ।। (1-13) नीवारा उडीति ख्याता धान्यभेदा दृश्यन्त इत्यन्वयः। शुकानां कोटरेषु काष्ठविवरेषु येऽर्भकाः शावाः(वकाः)। क्वचित् प्रदेशे स्निग्धा अतिचिक्कणाश्चेद् अत इङ्गुदी-फलभिदः प्रस्तराः सूच्यन्ते बुध्यन्ते दृश्यन्ते इत्यन्ये। इङ्गुदी तापसतरुरित्यमरः। एवकारोऽन्य-योगव्यवच्छेदे। अभिन्नगतयोऽविकृतगतयः। बन्धनेति बन्धनाग्रात् क्षरन्तीति लेखाभिश्चिह्निताः। स्निग्धो वत्सलचिक्कणाविति शाश्वतः। अन्यदस्याह।।

कुल्या० ।। (1-14) कुल्या कृत्रिमनदी, प्रसृतानि विस्तार{य}शीलानि दन्तिचपलानि। पवनेति च पाठः। किसलयेन रुचो येषां, तेषां वृक्षाणां रागो लोहित्यम्। हूतं घृतादिषु धूमानामूर्द्ध्वगमनेन भिन्नोऽन्यथा भूत इति शङ्करः। अन्ये तु "कृदभिहितो[20] भावो द्रव्यवत् प्रकाशत" इति रूक् सहित किसलयानामित्यर्थः। यथा मालत्यां०। यद्वा "नेन्दुकलोदयाद् अवचितै"रित्यादीत्याहुः। नव्यास्तु रागोऽनुरागः। तथा च किसलय-रुग् विषये योऽनुरागः सोऽपगत इत्यर्थः। धूमैः किसलयस्य मालिन्यात्

---

19. सहर्षयो इति 4117 इत्यत्र पठ्यते।
20. विहितो इति 4117 इत्यत्र पठ्यते।

राजा–(स्तोकमन्तरं गत्वा) सूत, आश्रमोपरोधो मा भूत्तदिहैव रथं स्थापय यावदवतरामि।

सूतः–धृताः प्रग्रहाः। अवतरत्वायुष्यमान्।

राजा–(अवतीर्यात्मानमवलोक्य च) सूत, विनीतवेषप्रवेश्यानि तपोवनानि। तदिदं तावद्गृह्यतामाभरणं धनुश्च। (इति सूतस्यार्पयति) यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्य निवर्तिष्ये तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः।

सूतः–यथाज्ञापयसि (इति निष्क्रान्तः)

राजा–(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमपदम्, यावत्प्रविशामि। (प्रविष्टकेन निमित्तं सूचयित्वा) अये–

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।। 1–15।।

(नेपथ्ये)

इदो इदो पियसहीओ। (इतः इतः प्रिय सख्यौ।)

राजा–(कर्णं दत्त्वा) अये, दक्षिणेन वृक्षवाटिकायामालाप इव श्रूयते। भवतु अवगच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) अये, एतास्तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैर्बालपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते। अहो, चित्रमासां दर्शनम्।

तद्विषये च। नानामनुरागो नास्तीति भाव इत्याहुः। रागोऽनुरागे मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिष्विति कोषः। अर्वाक् शब्दोऽव्ययोऽग्रतो वाची। अग्रत एते दृश्यमाना हरिणशावका विश्वासात् त्यक्तभया मन्दं मन्दं चरन्ति, धावन्ति, भक्षयन्ति तृणानीत्यर्थादित्यन्ये। छिन्नेति। अर्थाद् ऋषिभिः अयमपि तपोवनाभोगोऽस्वतन्त्रो हेतुः। श्लोकद्वये(1–13,14) प्यनुमानाख्योऽ–लङ्कारः। तदुक्तं–लिङ्गाद् यल्लिङ्गिनो ज्ञानम् अनुमानं तदिष्यत इति। उपरोधो बाधा मा भूत्, न भवतु।

"माङि लुङ्" (पा.सू. 3–3–175) इति कालसामान्ये लुङ्। हयरश्मौ तुलासूत्रे प्रग्रहः सद्भिरिष्यत इति शाश्वतः। विनीत। तथा च मनुः–"विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित्"। नीतिनामा नाट्यालङ्कारोऽयम्।

यदुक्तम्–नीतिः शास्त्रानुवर्त{मा}नमिति। निष्क्रान्तो रङ्गभूमेरित्यर्थः। प्रविष्टकं प्रवेशोचित–गतिभेदः। निमित्तं कुशलम्। अये सम्बोधने। अये कोपे सम्भ्रमे च सम्बुद्धौ स्मरणेऽपि चेति विश्वः।

शान्तम्। (1–15) शान्तं विकारशून्यम् रागिजनशून्यं वा। पदं स्थानम्। चकारः पुनरर्थे, बाहु–र्ममेत्यर्थात् फलं वराङ्गनालाभः। स इह निर्विकाराश्रमे कुतोऽस्ति {क्ष} वर्तते। यद्वा वर्तमानसामीप्ये भविष्यति लट्, । यद्वाक्षेपेऽवष्टम्भे इति शङ्करः। अवष्टम्भे तथाक्षेपे पक्षान्तरेऽथवा स्मृतमिति कोषः। भवितव्यानां विधिविलसितानां द्वाराण्यागमनपथाः। सव्येतरभुजस्पन्दो वरस्त्रीलाभसूचक इत्यद्भुतसारः[21]। आक्षेपालङ्कारः। अनुमानालङ्कार इति शङ्करः। नेपथ्य इति वाक्यस्यार्थतया यत्र

---

21. इत्यद्भुतसागरः इति 4117 इत्यत्र पठ्यते। मिथिलातः प्रकाशितायां शङ्करटीकायां "अद्भुतसारः" इति प्राप्यते।

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः।। 1–16।।

यावदेताश्छायामाश्रितः प्रतिपालयामि। (इति विलोकयन् स्थितः)

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला)

एका–हला सउन्तले, तत्तो वि तादकण्णस्स अस्समरुक्खआ पिअ त्ति तक्केमि जेण णोमालिआ कुसुमपरिपेलवा वि तुमं एदेसुं आलवालपूरणेसुं णिउत्ता। (सखि शकुन्तले, त्वत्तः अपि तातकण्वस्याश्रमवृक्षकाः अतिप्रियाः इति तर्कयामि। येन नवमालिका कुसुमपरिपेलवा अपि त्वम् एतेषु आलवालपूरणेषु नियुक्ता।)

शकुन्तला–हला,अणुसूए, ण केवलं तादस्स णिओओ ममावि सहोअरसिणेहो एदेसुं। (सखि अनुसूये, न केवलं तातस्य नियोगः, ममापि सहोदरस्नेहः एतेषु।)

(इति वृक्षसेचनं नाटयति)

प्रियंवदा–सहि सउन्तले, उदअं लम्भिदा एदे गिम्हआलकुसुमदाइणो अस्समरुक्खआ। इदाणिं अदिक्कन्तकुसुमसमए वि रुक्खए सिञ्चम्ह। तेण हि अणहिसंधिगरुओ धम्मो भविस्सदि। (सखि शकुन्तले, उदकम् लम्भिताः एते ग्रीष्मकालकुसुमदायिनः आश्रमवृक्षकाः इदानीम् अतिक्रान्तकुसुमसमयान् अपि वृक्षकान् सिञ्चामः। तेन हि अनभिसन्धिगुरुः धर्मः भविष्यति।)

शकुन्तला–सहि पिअंवदे, रमणीअं मन्तेसि। (इति भूयो वृक्षसेचनं नाटयति।) (सखि प्रियंवदे, रमणीयं मन्त्रयसे।)

राजा–(आत्मगतम्) कथमियं सा कण्वदुहिता शकुन्तला। (सविस्मयम्) अहो असाधुदर्शी तत्रभवान् कण्वो य इमां वल्कलधारणे नियुङ्क्ते।

पात्रं नैव प्रशस्यते। नेपथ्य इति वाकाशे प्रयोज्यम्। तत्र नाटक इति भरतः इति शङ्करः। इत इतः प्रियसख्यौ। द्विवचनस्य बहुवचनमिति प्राकृतसूत्राद् बहुवचनम्। दक्षिणेन वृक्षवाटिकायां दक्षिणभागे इत्यर्थः। अत्र लक्षणया वृक्षवाटिकाशब्द उपवनमात्रे। संलापो भाषणं मिथः इत्यमरः। अयेति कोमलानुमन्त्र....(?) अहो सुकन्यका एता सेचनघटैर्नवीनवृक्षेभ्यो जलं दातुमत्रागच्छन्ति। अहो चित्रम् आसां दर्शनम्, एतेन रत्युत्पत्तिरुक्ता।

शुद्धान्त० (1-16)।। शुद्धान्तेऽन्तःपुरम् अवरोधस्य राजस्त्रिया दुर्लभं दर्शनमेव ज्ञातव्यम्। अन्तः शब्दोऽव्ययम्। स्त्रीणां तु प्राकृतमिष्टत्वाच्च, यदाह भरतः संस्कृतात् प्राकृतं श्रेष्ठम् इति। भाषा चेयं सौरसेनी नायिकादीनां प्रशस्ता। यदाह भरतः नायिकानां सखीनाञ्च सौरसेनी प्रयुज्यते इति। सखि शकुन्तले, त्वत्तोऽपि तातकण्वस्याश्रमवृक्षका अतिप्रिया इति तर्कयामि। कः स्वार्थे। स्वार्थे को वेति प्राकृतसूत्रम्। येन नवमालिका कुसुमपरिपेलवापि त्वमेतेषु आलवालपूरणेषु नियुक्ता। श्रेष्ठनायिकेयं, यदाह भरतः। दिव्या च भूपपत्नी च कुलस्त्री गणिका तथा। चतस्रो नायिकाः श्रेष्ठा वेश्याद्या मध्यमाधमाः। सखि, न केवलं तातस्य नियोगो ममापि सहोदरस्नेह एतेषु। अनुसूया-प्रियंवदेति

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्लमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।। 1–17।।

भवतु, पादपान्तरितो विश्वस्तां तावदेनां पश्यामि। (इत्यपवार्य स्थितः)

शकुन्तला–हला, अणुसूए, अदिपिणद्धेण एदिणा वक्कलेण पिअंवदाए दढं पीडिद म्हि। ता सिढिलेहि दाव णं। (अनुसूया शिथिलयति), (सखि अनुसूए, अति पिनद्धेनैतेन वल्कलेन प्रियंवदया दृढं पीडितास्मि। तत् शिथिलय तावदेनम्।)

प्रियंवदा–(विहस्य)–एत्थ दाव पओहरवित्थारइत्तअं अत्तणो जोव्वणारम्भं उवालहसु। (अत्र तावत् पयोधरविस्तारयितृकमात्मनो यौवनमुपालभस्व।)

राजा–सम्यगियमाह–

इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।
वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण।। 1–18।।

सख्यौ, एते अनुनायिके च। यदाह भरतः–सखी प्रव्रजिता दासी प्रेष्या धात्रेयिका तथा। अन्याश्च शिल्पकारिण्यो विज्ञेया ह्यनुनायिका इति। सखि शकुन्तले, उदक लम्भिता एते ग्रीष्मकालकुसुमदायिन, आश्रमवृक्षान् सिञ्चामः। शनय(शमन) इति शमः। स्थाने श्र आदेशः। तेन हि अनभिसन्धिगुरुधर्म्मो भविष्यति। सखि, रमणीयं मन्त्रयसि। आत्मगतमिति तत् प्रीत्यै यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतमिति भरतः। कथमिति हर्षे। कथं हर्षे च गर्हायामिति मेदिनी। सा शकुन्तलेति या तपस्विना कथितेति भावः। अहो विषादे। विषादे विस्मयेऽप्यहो इति कोषः। तत्रभवान् श्लाघ्यः। श्लाघ्ये तत्रभवान् मुख्या इति भरतः। असाधुदर्शी अनभिज्ञः। तदेव प्रकटयन्नाह। इदं। (1–17) किल निश्चये। अव्याजेति। स्वभावरम्यम् इदं शरीरम्। तपः तपोयोग्यं साधयितुं कर्तुं य इच्छतीत्यन्वयः। ध्रुवं निश्चितं शमीदृढतर लताभेदः। एतस्यातिमधुरस्य शरीरस्य तपाक्षमत्वकरणं नीलोत्पलपत्रधारया शमीलता–कर्त्तनं यथा न भवति, तथैतदपि। वपुः क्षमं तपः साधयितुं भविष्यतीति पाठान्तरश्चेत्याह। अभिप्रायाख्यं नाट्यलक्षणमिति। तदुक्तं अभिप्रायस्तु सामर्थ्याद् भूतार्थस्य कल्पनेति। सखि अनुसूये, अतिपिनद्धेनौमुना वल्कलेन प्रियम्वदया[22] दृढं पीडितास्मि, तस्माच्छिथिलय तावद् इदम्। इदं बन्धनमित्यर्थः। विहस्येति। विहसितमाह भरतः। आकुञ्चिताक्षि गन्तञ्च निःश्वनं मधुरं तथा। कालागतं सानुरागं नृणां विहसितं भवेदिति।। सखि, अत्रतावत् पयोधरभार–विस्तारयुक्तमात्मनो यौवनारम्भम् यौवनोद्यममुपालम्भस्व। निन्द हेतुकशब्दः प्राकृते मतुबर्थः। शङ्करस्तु पयोधरभार–विस्तारयितार–बन्धकम् इत्याह। इदं०।। (1–18)। परिणाहो विशालता। अभिनवं तारुण्यमारुढम्। स्वामात्मीयां शोभां कान्तिम् अभिख्यामिति पाठेऽपि शोभैवार्थः। पिनद्धमालिङ्गितम्। पाण्डु धूषरं यत् पत्रं तदन्यन्तरेण। अतस्तु नाभोगदर्शनादुद्दीपनविभावात्।

---

22. मातृका 4117 इत्यत्र सर्वत्र प्रियंवदेति शब्दः "प्रियमुदा" इत्येवं रीत्या लिखितम्।

अथवा काममप्रतिरूपमस्य वयसो वल्कलं न पुनरलङ्कारश्रियं न पुष्णाति। कुतः–

सरसिजमनुविद्धं　शैवलेनापि　रम्यं
मलिनपि　हिमांशोर्लक्ष्म　लक्ष्मीं　तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा　वल्कलेनापि　तन्वी
किमिव　हि　मधुराणां　मण्डनं　नाकृतीनाम्।। 1–19।।

[अपि च–

कठिनमपि　मृगाक्ष्या　वल्कलं　कान्तरूपं
न　मनसि　रुचिभंगं　स्वल्पमप्यादधाति।
विकचसरसिजायाः　स्तोकनिर्मुक्तकण्ठं
निजमिव कमलिन्याः कर्कशं वृन्तजालम्।। 1–20।।][23]

शकुन्तला–(अग्रतोऽवलोक्य) सहीओ, एस वादेरिदपल्लवाङ्गुलीहिं किं पि वाहरेदि विअ मं चूदरुक्खओ। ता जाव णं संभावेमि। (इति तथा करोति) (सख्यौ, एषः वातेरितपल्लवाङ्गूलीभिः किमपि व्याहरतीव मां चूतवृक्षकः। तद्यावदेनम् सम्भावयामि)

प्रियंवदा–हला सउन्तले, इध ज्जेव मुहुत्तअं चिट्ठ। (सखि शकुन्तले, इहैव मूहूर्तकं तिष्ठ।)

शकुन्तला–किं णिमित्तं। (किं निमित्तम्।)

उर्दनरूप/तद्वर्धनरूप वाग्–व्यापाराच्च निरन्तरोत्पन्न–सात्त्विक–व्यभिचारिभावाच्च रसपुष्टिः। स्वोक्तम् आक्षिपति–अथवेति। अप्रतिमरूप(म्) मन्तव्यं अस्य वयसो यौवनस्येत्यर्थः। शङ्करस्तु वयो यौवनमित्याह। वयो यौवनमात्रके इति विश्वः। न पुष्णाति [इति] न, अपि तु पुष्णात्येव। निषेधस्य निषेधेन स्वायोगव्यवच्छेद इति चातुर्यम्, एवमना(न्य)त्र। अतुल्य सम्बन्धेऽपि शोभात्वे दृष्टेत्याह। सर०। (1-19)। मधुराणां निसर्गसुन्दरीणाम् आकृतीनां समर्थनामाह–किमिव हि इति।। सामान्येन विशेषसमर्थन–रूपो–ऽर्थान्तरन्यासः। स च शकुन्तला–सरसिजयोः सादृश्य–प्रतीतिहेतुकदीपकेन सङ्कीर्णः। स(श)ङ्करस्तु तुल्ययोगितामाह। इदञ्च माधुर्य्यं नाम यौवनालङ्कारः। तदुक्तम्–सर्ब्बावस्थाविशेषेण माधुर्यं रमणीयतेति।

कठिन०।। (1-20)। कान्तरूपमेतत् सङ्गादिति भावः। रुचिरिच्छा स्तोकेति ईषद्–दूखित/(विकच?)पुष्पाऽधोभागम्। पद्यमिदं दाक्षिणात्य–तीरभुक्तीय ग्रन्थेषु न दृश्यते।।

सख्यौ, एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिः किमपि मां व्याहरतीव वृक्षः, तस्मादेनं सम्भावयामि जन(ल)दानादिना पुरस्करोमि, प्राप्नोमि वा। सखि शकुन्तले, इहैव मुहूर्तं तिष्ठ। किं निमित्तम्। किमर्थम् मया स्थातव्यमित्यर्थः। त्वया समीपस्थितया लतासनाथ इवायं चूतवृक्षः प्रतिभाति। अत एव प्रियमु(यंव)देति, त्वम् उच्यसे।

23.　अंशोऽयं रिचार्ड पिशेलेन सम्पादिते बंगदेशीयपाठे न स्वीकृतः।

प्रियंवदा–तए समीवट्ठिदाए लदासणाधो विअ अअं चूदरुक्खओ पडिभादि। (त्वया समीपस्थितया लतासनाथः इव अयं चूतवृक्षकः प्रतिभाति।)

शकुन्तला–अदो ज्जेव पिअंवद त्ति तुमं वुच्चसि। (अतः एव प्रियंवदा इति त्वम् उच्यते।)

राजा–अवितथमाह प्रियंवदा, तथा ह्यस्याः

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्।। 1–21।।

अनुसूया–हला सउन्तले, इअं सअंवरवहू सहआरस्स तए किदणामहेआ वणदोसिणि त्ति णोमालिया। (हला शकुन्तले, इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनतोषिणी इति नवमालिका।)

शकुन्तला–(उपगम्यावलोक्य च सहर्षम्) हला अणुसूए, रमणीओ क्खु इमस्स पादवमिधुणस्स वदिअरो संवुत्तो। इअं णवकुसुमजोव्वणा णोमालिआ, अअं पि बद्धफलदाए उवभोअक्खमो सहआरो त्ति। (इति पश्यन्ती तिष्ठति)

(सखि अनुसूए, रमणीयः खल्वस्य पादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः। इयम् नवकुसुमयौवना नवमालिका, अयमपि बद्धफलतया उपभोगक्षमः सहकारः इति।

प्रियंवदा–(सस्मितम्) अणुसूए, जाणासि किं णिमित्तं सउन्तला वणदोसिणिं अदिमेत्तं पेक्खदि त्ति। (अनुसूये, जानासि किन्निमित्तं शकुन्तला वनतोषिणीमतिमात्रं प्रेक्षते इति।)

अनुसूया–ण क्खु विभावेमि। कधेहि। (न खलु विभावयामि। कथय।)

प्रियंवदा–जधा वणदोसिणी सरिसेण पादवेण संगदा तधा अवि णाम अहं पि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअं ति। (यथा वनतोषिणी सदृशेन पादपेन सङ्गता, तथापि नामाहम् अप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति।)

अधरः०।। (1–21)। विटपः शाखी। शाखा तु विटपोऽस्त्रियामिति कोषः। लोभनीयं लोभजनकम्। कर्तर्य्यनीयः। पदोच्चयाख्यम् नाट्यलक्षणमिदम्। स योऽर्थानुरूपो यः पदानां, स पदोच्चय इत्युक्तेः। अत्र हि पद-पदार्थयोः सौकुमार्यं तुल्यमेव। उपमालङ्कारः।

सखि शकुन्तले, इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया "वनतोषिणी"ति नवमालिका तिष्ठतीत्यर्थः। स्वयम्वरवधूः स्वातन्त्र्यविहितवल्लभा। एतेन तवापि स्वातन्त्रेण वल्लभलाभ इति सूचनमिति शङ्करः। रमणीयः खलु एतस्य पादपमिथुनस्य व्यतिकरः संपर्कः संवृत्तः। व्यतिकर इति स्थाने, काल इति पाठः क्वचित्। रमणीयत्वमेवाह, इयं नवकुसुमयौवना नवमालिका, अयमपि बद्धफलतया उपभोगक्षमः सहकारः। अनुसूये, जानासि किं निमित्तं शकुन्तला वनतोषिणीम् अतिमात्रं पश्यति। दृशेः पुलअ-पेच्छ-निअहा इति प्राकृतसूत्रम्। न खलु विभावयामीत्यर्थात्। यथा वनतोषिणी सदृशेन पादपेन सङ्गता, तथाऽहमपि नामानुरूपं वरं लभेयमिति। वरं जामातारम्।

शकुन्तला–एस अत्तणो दे चित्तगदो मणोरधो। (एषः आत्मनः ते चित्तगतः मनोरथः।) (इति कलशमावर्जयति।)

अनुसूया–हला सउन्तले, इअं तादकण्णेण तुमं विअ सहत्थसंवड्ढिदा माहवीलदा। इमं विसुमरिदा सि। (सखि शकुन्तले, इयम् तातकण्वेन त्वमिव स्वहस्तसंवर्धिता माधवीलता। इमां विस्मृतासि।)

शकुन्तला–तदो अत्ताणअं पि विसुमरिस्सं। (लतामुपेत्यावलोक्य च सहर्षम्) अच्छरीअं अच्छरीअं। पिअंवदे, पिअं दे णिवेदेमि। (ततः आत्मानमपि विस्मरिष्यामि। आश्चर्यम् ... ... आश्चर्यम् .... प्रियंवदे, प्रियं ते निवेदयामि।)

प्रियंवदा–सहि, किं मे पिअं। (सखि, किं मे प्रियम्।)

शकुन्तला–असमए क्खु एसा आ मूलादो मउलिदा माहवीलदा। (असमये खल्वेषा आमूलात् मुकुलिता माधवीलता।)

उभे–(सत्वरमुपगम्य) सहि,सच्चं सच्चं। (सखि, सत्यं सत्यम्।)

शकुन्तला–सच्चं, किं ण पेक्खध। (सत्यम्। सखि, किं न प्रेक्षेथे।)

प्रियंवदा–(सहर्षम् निरूप्य) तेण हि पडिप्पिअं दे णिवेदेमि। आसण्णपाणिग्गहणा सि तुमं। (तेन हि प्रतिप्रियं ते निवेदयामि। आसन्नपाणिग्रहणासि त्वम्।)

शकुन्तला–(सासूयम्) णूणं एस दे अत्तगदो मणोरधो। (नूनम् एषः ते आत्मगतः मनोरथः।)

प्रियंवदा–ण क्खु परिहासेण भणामि। सुदं खु मए तादकण्णस्स मुहादो तुए कल्लाणसूअअं इदं णिमित्तं ति। (न खलु परिहासेण भणामि। श्रुतं खलु मया तातकण्वस्य मुखात्तव कल्याणसूचकम् इदं निमित्तम् इति।)

अनुसूया–पिअंवदे, अदो ज्जेव सउन्तला ससिणेहा माहवीलदं सिञ्चदि। (प्रियंवदे, अतः एव शकुन्तला सस्नेहा माधवीलतां सिञ्चति।)

शकुन्तला–जदो मे बहिणिआ भोदि तदो किं ति ण सिञ्चिस्सं। (यतः मे भगिनी भवति ततः किमिति न सेक्ष्यामि। (इति कलशमावर्जयति)

एष आत्मनस्ते चित्तगतो मनोरथः। सखि शकुन्तले, इयं तातकण्वेन त्वमिव स्वहस्तसंवर्द्धिता माधवीलता, तत्कथमेनां विस्मृतासि। गत्यर्थादि-सूत्रे चकारात् कर्तरि क्तः। अतः आत्मानमपि विस्मरिष्यामि। सहर्षम् इति। अस्याः कुसुमोद्‌गमोऽयं मम विवाहसूचक इति भावात्। आश्चर्यम् आश्चर्यम् द्विरुक्ती(क्तिरि)व सावेशेन अकालकुसुमदर्शनाद् आश्चर्यम्। प्रियंवदे, प्रियं ते निवेदयामि। सखि, किम् मे प्रियम्। असमये खल्वेषा आमूलान्मुकुलिता माधवीलता। क्खु-शब्दः खल्वर्थः इति साहित्यरत्नाकरः। सखि, अपि सत्यं, सत्यं किं न पश्यथ। तेन हि प्रतिप्रियं ते निवेदयामि।

राजा–अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा भवेत्। अथवा कृतं सन्देहेन,

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।। 1–22।।

तथापि तत्त्वत एनामुपलप्स्ये।

शकुन्तला–(ससंभ्रमम्) अम्मो, णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिलसदि। (अम्भो, नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरः अभिलषति।) (इति भ्रमरबाधां रूपयति)

राजा–(सस्पृहम्)

यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते ततस्ततः प्रेरितवामलोचना।
विवर्तितभ्रूरियमद्य शिक्षते भयादकामापि हि दृष्टिविभ्रमम्।। 1–23।।

अपि च (सासूयमिव)

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।

तदेवाह–आसन्नपाणिग्रहणा त्वम्। सासूयमिति। असूया दोषेष्वपि गुणारोपः। नूनमेष ते आत्मगतो मनोरथः। न खलु परिहासेन भणामि। श्रुतं खलु मया तातकण्वस्य मुखात् तव कल्याणसूचकमेतन्निमित्तमिति। खलु वाक्यालङ्कारे। प्रियंवदे, अत एव शकुन्तला सस्नेहा माधवीलतां सिञ्चति। यतो भगिनी भवति, ततः किं न सिञ्चामि। "अपि नामे"ति निपातसमुदायः सम्भावनायाम्। असं(शयम्)०।। (1-22) परिग्रहः परिणयनं, आर्यम् समर्य्यादं, न सर्वगामीत्यर्थः आकाङ्क्षा मात्रेण कथं सस्नेहाभाव इत्याह–सतां हि इति। सन्देहाश्रयेषु मनोव्यापारा एव प्रमाणम्। अर्थान्तरन्यासः। अनुमानमिति शङ्करः। मतिर्नाम व्यभिचारीति भावः। तदुक्तं शास्त्रोक्तार्थानुसन्धानाद् अर्थनिर्धारणम् मतिः। इयं च प्रथमकामावस्था। तदुक्तं–प्रथमेऽभिलाषश्च स्यादिति।। सम्भ्रमस्त्रासः। अम्मो आश्चर्यम्। तदुक्तं भरतेन, विस्मये हे स्महे अम्मे(म्मो?) नित्यं स्त्रीभिः प्रयुज्यत इति।। नवमालिकामुज्झित्वा म(व)दनं मे मधुकरो मेऽभिलषति। शङ्करस्तु–सलिलसेकसम्भ्रान्तो मधुकरो वदनं मे अभिलषति पीडयतीति पाठान्तरम् आह। भ्रमराबाधां भ्रमरकृतपीडाम्। यतो०। (1-23) यतो यत्राभिवर्तते संमुखमागच्छति। ततस्तु एतस्माद् वा प्रेरितो लोचनाञ्चलः कटाक्षो यया। वामेति पाठे वाम सुन्दरं, विवर्तितभ्रूश्चालितभ्रूः, अकामाऽप्यननुभूतकामभावापीत्यर्थः। विभ्रमं विलासः, दृष्टिरियं शृङ्गारे, तदुक्तं सभ्रूक्षेपकटाक्षा च शृङ्गारे दृष्टिरिष्यत इति।।

चला(पाङ्गां)। (1-24)। रहस्याख्यायी सङ्गोऽप्यकथकः(?) रतिसर्वस्वं रतिनिधानं मधु सर्वस्वमिति क्वचित् पाठः। हताः शोच्या, ब्राह्मणी न वेति सन्देहे, नाहमेनां न कामये, त्वं पुनरसन्दिग्ध एनां कामयसे इति तव कृतार्थत्वम्। अन्योऽपि नागरो लोचनचुम्बनं, कर्णान्तिके लघुभाषणं, अधरपानञ्च करोति। अभिलाषरूपा प्रथमावस्थेयमिति शङ्करः। वाक्यार्थहेतुः काव्यलिङ्गालङ्कारः।

करं व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।। 1–24।।

शकुन्तला–हला, परित्ताअध मं इमिणा दुट्ठमहुअरेण अहिभूअमाणं। (सख्यौ, परित्रायेथाम् मामनेन दुष्टमधुकरेणाभिभूयमानाम्।

उभे–(सस्मितम्) काओ अम्हे परित्ताणे। एत्थ दाव दुस्सन्तं सुमर, जदो राअरक्खिदाइं तवोवणाइं। (के आवाम् परित्राणे। अत्र तावत् दुःषन्तं स्मर, यतः राजरक्षितानि तपोवनानि।)

राजा–अवसरः खल्वयम् आत्मानं दर्शयितुम्। न भेतव्यम् ....। (इत्युर्धोक्ते) (अपवार्य) एवं राजाहमिति परिज्ञानं भवेत्। भवतु, अतिथिसमाचारमवलम्बिष्ये।

शकुन्तला–ण एसो दुव्विणीदो विरमदि। ता अण्णदो गमिस्सं। (पादान्तरे सदृष्टि-विक्षेपम्) हद्धी हद्धी। कधं इदो वि मं अणुसरदि। ता परित्ताअध मं।

(नैषः दुर्विनीतः विरमति, तदन्यतः गमिष्यामि। हा धिक्, हा धिक्, इतोऽपि मामनुसरति। तत्परित्रायेथाम् माम्।)

राजा–(सत्वरमुपगम्य) आः–

कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु।। 1–25।।

(सर्वा राजानं दृष्ट्वा किं चिदिव सम्भ्रान्ताः।)

सख्यौ, परित्रायेथां मां मधुकरेणाऽभिभूयमानाम्। के आवां परित्राणे। अत्र तावद् दुःस्व(ष)न्तम् स्मर, यतो राजरक्षितानि तपोवनानि।। नैष दुर्विनीतो विरमति। तत्तस्माद् अन्यतोऽन्यत्र गमिष्यामि। हन्धी खेदे, हा धिगित्यर्थे वा। हन्धीत्यव्ययं खेदे इति प्राकृत-साहित्यरत्नाकरः। हन्धीति हा धिगित्यर्थे नित्यं स्त्रीभिः प्रयुज्यत इति नाट्यलोचनः। शङ्करस्तु आवेगाद् द्विरुक्तिः। प्राकृते हा धिगित्यर्थे "हन्धी" नित्यं द्विरुच्यत इति भरत इत्याह। कथमितोऽपि माम् अनुसरति, तत् परित्रायेथाम्।

आः कोपे। कः पौ०। मुग्धासु (1-25) निरपराधास्विति यावत्। कोऽयम् अज्ञातशीलः। अध्यवसाय नामा नाट्यालङ्कारोऽयम्। यदाह कार्येष्वध्यवसायो यश्च लनागर्भितं वचः इति शङ्करः। आर्य, न किञ्चिदत्याहितं महाभीतिः। किन्तु इयं नः प्रियसखी मधुकरेणाकुलीक्रियमाणा कातरीभूता अस्तीति शेषः। इदानीम् अतिथिविशेषलाभेन। तपो वर्द्धत इत्यनुषङ्गः च अनुवृत्तिर्नाम नाट्यालङ्कारोऽयम्।

अनुसूया–अज्ज, ण किं पि अच्चाहिदं। किं तु इअं णो पिअसही महुअरेण आउलीअमाणा कादरीभूदा। (आर्य, न किमप्यत्याहितम्। किन्तु, इयम् नौ प्रियसखी मधुकरेणाकुलीक्रियमाणा कातरीभूता।) (इति शकुन्तलां दर्शयति।)

राजा–(शकुन्तलामुपेत्य) अयि तपो वर्धते। (शकुन्तला ससाध्वसम् अवनतमुखी तिष्ठति।)

अनुसूया–इदाणिं अदिधिविसेसलम्भेण। (इदानीमतिथिविशेषलाभेन।)

प्रियंवदा–साअदं अज्जस्स। हला सउन्तले, गच्छ उडआदो फलमिस्सं अग्घं उवहर। इदं पि पादोदअं भविस्सदि। (स्वागतमार्यस्य,सखि शकुन्तले,गच्छ कुटजात्फलमिश्रम् अर्घमुपहर। इदमपि पादोदकम् भविष्यति।)

राजा–भवति, सूनृतयैव वाचा कृतमातिथ्यम्।

अनुसूया–तेण हि इमस्सिं सहावसीदलाए सत्तवण्णवेदिआए उवविसिअ परिस्समं अवणेदु अज्जो। (तेन ह्यस्याम् स्वभावशीतलायां सप्तपर्णवेदिकायामुपविश्य परिश्रमम् उपनयतु आर्यः।)

राजा–ननु यूयमप्यनेन धर्मकर्मणा परिश्रान्ताः। तन्मुहूर्तमुपविशत।

प्रियंवदा–(जनान्तिकम्) हला सउन्तले, उइदं णो अदिधिपज्जुवासणं। ता एहि उवविसम्ह। (सखि शकुन्तले, उचितं नः अतिथिपर्युपासनम्। तत् एहि उपविशामः। (इति सर्वा उपविशन्ति।)

शकुन्तला–(आत्मगतम्) किं णु क्खु इमं जणं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीअ म्हि संवृत्ता। (किन्तु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनः विकारस्य गमनीया अस्मि संवृत्ता।)

राजा–(सर्वा अवलोक्य) अहो, समानवयोरूपरमणीयं सौहार्दमत्रभवतीनाम्।

तदुक्तं अत्र... दनुवर्तनमनुवृत्तिरिति। स्वागतमार्य्यस्य। सखि शकुन्तले, गच्छ कुटजात् फलमिश्रमर्घमस्मै उपहर। इदमपि पादोदकं भविष्यति। तेन हि अस्यां स्वभाव-शीतलायां सप्तपर्णवेदिकायाम् उपविश्य परिश्रममुपनयत्वार्यः। प्रच्छायशीतलायाम् इति शङ्करधृतः पाठः। सप्तपर्णतले या वेदिः परिष्कृतभूमि-र्विश्रामस्थानमिति यावत्।

जनान्तिकमिति। त्रिपताककरेणाऽन्यम् अपवार्यान्तरा कथाम् अन्योन्यामन्त्रणं यत् स्यात्, जनान्ते तज्जनान्तिकमिति। हस्तेन त्रिपताकेन संज्ञया यदुदीर्यते, बहूनां पूरतो मध्ये तज्जनान्तिकमुच्यते इत्यन्यत्र। सखि शकुन्तले, उचितं नोऽतिथि-पर्युपासनं, तदेह्युपविशामि(मः)।

किन्नु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य तपोवन-विरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता। नु-शब्दो वितर्के। खलु-शब्दो निश्चये। अत्रभवतीनां श्लाघ्यानां भवतीनामित्यर्थः। सखि अनुसूये, क एष मधुरगम्भीरा-कृतिर्मधु[र] समालेपन प्रभुत्वदाक्षिण्यं विस्तारयति। गाम्भीर्य्यमाह भरतः। विकाराः

प्रियंवदा–(जनान्तिकम्) हला अणुसूए, को णु क्खु एसो दुरवगाहगम्भीराकिदी महुरं आलवन्तो पहुत्तदक्खिण्णं वित्थारेदि। (सखि अणुसूये, को नु खल्वेषः दुरवगाह-गम्भीराकृतिः मधुरमालपन् प्रभुत्वदाक्षिण्यम् विस्तारयति।)

अनुसूया–हला, ममावि कोदूहलं। पुच्छस्सं दाव णं। (प्रकाशम्) अज्जस्स महुरालावजणिदो विस्सम्भो मं आलावेदि। कदरो उण अज्जेण राएसिवंसो अलंकरीअदि कदरो वा देसो विरहपज्जुस्सुओ करीअदि। किं णिमित्तं अज्जेण सुउमारेण तवोवणागमणपरिस्समे अप्पा उवणीदो त्ति। (सखि, ममापि कौतुहलम्। प्रक्ष्यामि तावदेनम्। आर्यस्य मधुरालापजनितः विश्रम्भः मामालापयति। कतरः पुनरार्येण राजर्षिवंशः अलङ्क्रियते, कतरः वा देशः विरहपर्युत्सुकः क्रियते। किन्निमित्तमार्येण सुकुमारेण तपोवनागमनपरिश्रमे आत्मा उपनीतः इति।)

शकुन्तला–(आत्मगतम्) हिअअ, मा उत्तम्म जं तए चिन्तिदं तं अणुसूआ मन्तेदि। (हृदय, मा उत्ताम्य। यत्त्वया चिन्तितं तत् अनुसूया मन्त्रयते।)

राजा–(स्वगतम्) कथमिदानीमात्मानं निवेदयामि, कथं वात्मनः परिहारं करोमि। (विचिन्त्य) भवत्वेवं तावत्। (प्रकाशम्) भवति, वेदविदस्मि राज्ञः पौरवस्य नगरधर्माधिकारे नियुक्तः पुण्याश्रमदर्शनप्रसङ्गेन धर्मारण्यमिदमायातः।

अनुसूया–सणाधा धम्मआरिणो। (सनाथाः धर्मचारिणः।)

(शकुन्तला शृङ्गारलज्जां नाटयति)

सख्यौ–(उभयोराकारं विदित्वा जनान्तिकम्) हला सउन्तले, जइ अज्ज तादो इध संणिहिदो भवे। (सखि शकुन्तले, यद्यद्य तातः इह सन्निहितः भवेत्।)

शकुन्तला–तदो किं भवे। (ततः किं भवेत्।)

सहजा यस्य हर्षशोकभयादिषु भावेषु नोपलभ्यन्ते तद् गाम्भीर्यमुदाहृतम् इति। प्रभुत्वदाक्षिण्यं प्रभुत्वेन सह दाक्षिण्यं, पाठान्तरे प्रभूतं बहुलम्। शङ्करस्तु चटुना(चतुरा) मनोहरा गंभीरा चेति पाठमाह। ममापि कौतुहलं ज्ञानोत्कण्ठा तत् प्रवेक्षामि तावदेनम्। प्रकाशमिति। सर्व्वश्राव्यम् प्रकाशं स्यादिति भरतः। आर्यस्य मधुरालापजनितो विस्रम्भो विश्वासो माम् आलापयति, अर्थयते भवन्तं पृच्छामीति शेष इति शङ्करः। कतरः पुनरार्य्येण राजर्षिवंशोऽलङ्क्रियते। कतरः च पुनर्वर्ण इति शङ्करसम्मतः पाठः। कतरो वा देशो विरहपर्युत्सुकः क्रियते। किं निमित्तं वा आर्येण सुकुमारेण तपोवनपरिश्रमे उपनीयते। तपोवनागमनं किं निमित्तमित्यर्थः। हे हृदय, मा उत्ताम्य। मा ग्लानं भव, यत् त्वया चिन्तितं तदनुसूया मन्त्रयते, पृच्छति।

क्रमेणानुसूया कृतप्रश्ने उत्तराण्याह-वेदविदिति। ब्राह्मणङ्क्त्र(क्षत्रिय)योरेव सम्बद्धत्वात् सङ्गोपनं प्रकाशते बोद्धव्यं धर्माधिकारेत्युभयत्र संलग्नमिति सर्वत्र सत्यवादि[त्व]म् अखण्डमेवास्छि(स्थि) तमिति भावः। सनाथा धर्म्मचारिणः। त्वन्ने(मेवं) तपोवनमिदं अलङ्कृतवानसीति भावः।

उभे–तदो जीविदसव्वस्सेणावि इमं अदिधिविसेसं किदत्थं करेदि। (ततः जीवितसर्वस्वेनौपि इमम् अतिथिविशेषं कृतार्थं करोति।)

शकुन्तला–(सकृतक-कोपम्) अवेध, किं पि हिअए कदुअ मन्तेध। ण वो वअणं सुणिस्सं। (अपेतम्, किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयेथे। न वां वचनं श्रोष्यामि।)

राजा–वयमपि तावद्भवत्यौ सखीगतं किं चित्पृच्छामः।

उभे–अज्ज अणुग्गहे वि अब्भत्थणा। (आर्य, अनुग्रहे अप्यभ्यर्थना।)

राजा–तत्रभवान् कण्वः शाश्वते ब्रह्मणि वर्तते, इयं च वः सखी तस्यात्मजेति कथमेतत्।

अनुसूया–सुणादु अज्जो, अत्थि कोसिओ त्ति गोत्तणामहेओ महप्पहावो राएसी। (शृणोत्वार्यः, अस्ति कौशिकः इति गोत्रनामधेयः महाप्रभावो राजर्षिः।)

राजा–तत्रभवान्कौशिकः।

अनुसूया–तं सहीए पहवं अवगच्छ। उज्झिदसरीरसंवड्ढणाए उण तादकण्णो से पिदा। (तं सख्याः प्रभवमवगच्छ। उज्झितशरीरसंवर्धनया पुनः तातकण्वः अस्याः पिता।)

राजा–उज्झित शब्देन जनितं नः कुतूहलम्। तदा मूलाच्छ्रोतुमिच्छामः।

अनुसूया–सुणादु अज्जो, पुरा किल तस्स राएसिणो उग्गे तवसि वट्टमाणस्स कधं पि जादसङ्केहिं देवेहिं मेणआ णाम अच्छरा णिअमविग्घआरिणी पेसिदा। (शृणोत्वार्यः, पुरा किल तस्य राजर्षेः उग्रे तपसि वर्तमानस्य कथमपि जातशङ्कैः देवैः मेनका नामाप्सराः नियमविघ्नकारिणी प्रेषिता।)

राजा–अस्त्येतदन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम्। ततस्ततः।

अनुसूया–तदो वसन्तोदाररमणीए समए उन्मादइत्तअं ताए रूवं पेक्खिअ।

शृङ्गारलज्जां शृङ्गारकृतलज्जां नाटयत्यभिनयति। आकारमान्कृतिं चेष्टां वा, आकारस्त्विङ्गिताकृत्ययोरिति मेदिनी। सखि शकुन्तले, यद्यद्य तात इह सन्निहितो भवेत्ततः किं भवेत्।

वे(ले)शाख्योऽयमलङ्कारः। तदुक्तं यद्वाक्यं वाक्यकुशलैः सुश्लिष्टार्थं प्रयुज्यते। नैपुण्योद्घाट्यते यत्र स लेशः परिकीर्तितः।। इति शङ्करः।

ततो जीवितसर्वस्वेनापि इममतिथिविशेषं कृतार्थं करोति। अथ च जीवितसर्वस्वं तस्य त्वमेव। अपसरतम्, किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयेथे, न युवयोर्वचनं श्रोष्यामि। सखीगतं शकुन्तलागतम्। आर्य, अनुग्रहेऽप्यभ्यर्थना। शृणोत्वार्यः, अस्ति कौशिक इति गोत्रनामधेयो महाप्रभावो राजर्षिः। कुशिकस्यापत्यमिति, कुलक्रमागतं नामेत्यर्थः। तं सख्याः प्रभवं पितरमवगच्छ। स्याज्जन्महेतुः प्रभव इति शाश्वतः। उज्झितशरीरसम्वर्द्धनया। पुरस्तात् कण्वोऽस्याः पिता। शृणोत्वार्यः, पुरा किल तस्य राजर्षे उग्रे तपसि वर्तमानस्य कथमपि जातशङ्कैर्दैवैर्मेनका नामाप्सरा नियमविघ्नकारिणी प्रेषिता। तस्यास्तत्र गमनानध्यवसायात् कथमपीत्युक्तम्। ततो वसन्तोदारे रमणीये समये उन्मादि उन्मादकारि,

(ततो वसन्तोदाररमणीये समये उन्मादयितृकं तस्याः रूपं प्रेक्ष्य।)

(इत्योर्धोक्ते लज्जां नाटयति)

राजा–पुरस्तादवगम्यत एव। सर्वथाप्सरःसम्भवैषा।

अनुसूया–अध इं। (अथ किम्।)

राजा–उपपद्यते,

मानुषीभ्यः कथं नु स्यादस्य रूपस्य संभवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्।। 1–26।।

(शकुन्तला सव्रीडाधोमुखी तिष्ठति)

राजा–(आत्मगतम्) हन्त, लब्धावकाशा मे मनोरथाः।

प्रियंवदा–(सस्मितम् शकुन्तलां विलोक्य) पुणो वि वत्तुकामो विअ अज्जो। (पुनः अपि वक्तुकामः इव आर्यः।) (शकुन्तला सखीमङ्गुल्या तर्जयति।)

राजा–सम्यगुपलक्षितं भवत्या। अस्ति नः सुचरितश्रवणलोभादन्यदपि प्रष्टव्यम्।

प्रियंवदा–तेण हि अलं विआरिदेण। अणिज्जन्तणणिओओ क्खु तवस्सिअणो। (तेन हि अलं विचारितेन। अनियन्त्रणनियोगः खलु तपस्विजनः।)

राजा–एतत्पृच्छामि–

वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्
व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव सदृशेक्षणवल्लभाभि–
राहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः।। 1–27।।

हेतुकशब्दो मतुबर्थः। तस्या रूपं प्रेक्ष्य दृष्ट्वा लज्जामिति रहस्यनिवेदनात्। अथ किं स्वीक्रिया नामे इति नाट्यलोचनः।

मानुषी। (1–26) अस्य परिदृश्यमानस्य प्रभावो हि तेजसो रूपमित्यागमः। तच्च रूपं सौरचान्द्रादि तेजस एव नान्यस्य। प्रभया तरलं प्रभातरलं वसुधातलात् पातालात्, किन्तु गगनादेरित्यर्थः। प्रभातरलं ज्योतिर्विद्युदिति केचित्। प्रतिवस्तूपमालङ्कारः। तदुक्तं प्रतिवस्तूपमा सा स्यात् वस्तुनो रूप्यमानयोः। एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथगिति। अर्थान्तरन्यास इति शङ्करभ्रमः। लब्धेति। असवर्णत्व निश्चयादिति भावः। पुनरपि वक्तुकाम इवार्यो लक्ष्यते। अङ्गुलि(ल्या) तर्जनञ्च। ललिताख्यो भावः। तदुक्तं कविकण्ठहारेण भ्रू–नेत्रादिक्रियाशाली सुकुमारविधानतः। हस्तपादादि–विन्यासस्तरुण्या ललितं मतमिति।। तेन हि अलं विचारितेन, अनियन्त्र[ण]नियोगः खलु तपास्विजनः, तेन हीति स्वीकारे। तेन हि स्वीकृतौ प्रोक्तम्। तथा हेतुविधानयोरिति कोषः इति शङ्करः। वैखा०।। (1–27) वैखानसं नियतारण्यवासरूपम् आप्रदानं वराय प्रदानपर्यन्तं, निवत्स्यति स्थास्यति। आहो विकल्पे मृगीभिः सह।

प्रियंवदा–अज्ज, धम्माअरणपरव्वसो अअं जणो। गुरुणो उण से अणुरूववरप्पदाणे संकप्पो। (आर्य, धर्माचरणपरवशोऽयं जनः। गुरोः पुनः अस्याः अनुरूपवरप्रदाने सङ्कल्पः।)

राजा–(आत्मगतं सहर्षम्)

भव हृदय साभिलाषं सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जातः।
आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्।। 1–28।।

शकुन्तला–(सरोषमिव) अणुसूए, गमिस्सं अहं। (अनुसूये, गमिष्याम्यहम्।)

अनुसूया–किं णिमित्तं। (किं निमित्तम्)

शकुन्तला–इमं असंबद्धप्पलाविणिं पिअंवदं अज्जाए गोदमीए गदुअ णिवेदइस्सं। (इमामसंबद्धप्रलापिनीम् प्रियंवदाम् आर्यायै गौतम्यै गत्वा निवेदयिष्यामि। (इत्युत्तिष्ठति)

अनुसूया–सहि, ण जुत्तं अस्समवासिणो जणस्स अकिदसक्कारं अदिधिविसेसं उज्झिअ सच्छन्ददो गमणं। (सखि, न युक्तं आश्रमवासिनः जनस्य अकृतसत्कारम् अतिथिविशेषम् उज्झित्वा स्वच्छन्दतः गमनम्। (शकुन्तला उत्तरम् अदत्त्वैव प्रस्थिता)

राजा–(अपवार्य) कथं गच्छति ......। (उत्थाय जिघृक्षुरिवेच्छां निगृह्य) अहो, चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजनमनोवृत्तिः। अहं हि–

अनुयास्यन् मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।
स्वस्थानादचलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः।। 1–29।।

प्रियंवदा–(शकुन्तलामुपसृत्य) हला चण्डि ण लम्भदि गन्तुं। (सखि चण्डि न लभ्यते गन्तुम्)

शकुन्तला–(परिवृत्त्य सभ्रूक्षेपम्) किं ति। (किमिति।)

आर्य, धर्माचरण-वशः परतन्त्रोऽयं जनः। गुरोः पुनरनुरूपवरप्रदाने सङ्कल्पः। वरो जामातरि श्रेष्ठे इति शाश्वतः। आयत्ततायाम् आयत्ते प्रभुत्वं च वशं विदुरिति च। असवर्णत्व-निश्चयाद्योग(ग्य) वरप्रदाने श्रवणाच्च प्रमोदातिशयात्। स्वहृदयमुद्दिश्याह।

भव०।। (1-28) हे हृदय, साकाङ्क्षं भव। संप्रति प्रियमु(यंव)दाकथानन्तरं सन्देहनिर्णयः सन्देहान्निश्चयो जातः। सन्देहे सति यो निर्णय इति शङ्करः। यद् वस्तु शकुन्तलारूपं ब्राह्मणीजत्वेनाग्निमाशंकसे, तत् स्पर्शयोग्यं रत्नमेव जातम्। अनुसूये, गमिष्याम्यहं। किं निमित्तम्। इमामसम्बद्धप्रलापिनीं प्रियमु(यंव)दाम् आर्यायै गौतम्यै गत्वा निवेदयिष्यामि। सखि, न पुनराश्रमवासिनो जनस्याकृतसत्कारम् अतिथिविशेषम् उज्झित्वा स्वच्छन्दतो गमनम्। शिक्षाख्यो नाट्यालंकारोऽयम्। शिक्षा स्याद् उपदेशनमित्युक्तेः। प्रतिरूपिका सदृशी। अहं। (1-28) सहसा अन्वयास्यन् कुलमर्यादया निवारित-स्वच्छन्दाचरणः गत्वेवेति। इव सम्भावनायाम्। चण्डि कोपने, न लभ्यते गन्तुं त्वयेति शेषः। सभ्रूक्षेपेति ललिताख्योऽयं हावविशेषः। तदुक्तं सुकुमारतया अङ्गानां विन्यासो ललितं मतमिति। किमिति, कथं न लभ्यते गन्तुमित्यनुषङ्गः।।

प्रियंवदा–दुवे मे रुक्खसेअणके धारेसि। तेहिं दाव अत्ताणअं मोओवेहि तदो गमिस्ससि। (द्वे मे वृक्षसेचनके धारयसि। ताभ्यां तावदात्मानम् मोचय। ततः गमिष्यसि।) (इति बलान्निवर्तयति)

राजा–वृक्षसेचनाद् एवात्रभवतीं परिश्रान्तामवगच्छामि। तथा ह्यस्याः–

स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणाद्
अद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः।
बद्धं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः।। 1–30।।

तदहमेनामनृणां करोमि। (इत्यङ्गुरीयकं ददाति)।।

(सख्यौ प्रतिगृह्य नामाक्षराणि वाचयित्वा च परस्परमवलोकयतः।)

राजा–अलम् अन्यथासंभावनया। राज्ञः प्रतिग्रहोऽयम्।

प्रियंवदा–तेण हि णारिहदि इमं अङ्गुरीअविओअं कादुं अज्जो। अज्जस्स वअणादो ज्जेव अरिणा एसा भोदु। (तेन हि, न अर्हति इमम् अङ्गुरीयवियोगम् कर्तुमार्यः। आर्यस्य वचनादेवानृणा एषा भवतु।)

अनुसूया–हला सउन्तले, मोआविदा सि अणुकम्पिणा अज्जेव अध वा महाराएण। ता कहिं दाणिं गमिस्ससि। (सखि शकुन्तले, मोचितासि अनुकम्पिनार्येण, अथ वा महाराजेन। तत्कुत्र इदानीं गमिष्यसि।

शकुन्तला–(आत्मगतम्) ण एदं परिहरिस्सं, जइ अत्तणो पहवे। (नैतम् परिहरिष्यामि यदि आत्मनः प्रभवामि।)

प्रियंवदा–संपदं किं ण गच्छीअदि। (साम्प्रतं किं न गम्यते।)

शकुन्तला–इदाणिं पि किं तुह आअत्त म्हि। जदा मे रोअदि तदा गमिस्सं। (इदानीमपि किं तवायत्तास्मि। यदा मे रोचते तदा गमिष्यामि।)

द्वे मे वृक्षसेचनके धारयसि। ताभ्यां तावदात्मानं मोचय। ततो गमिष्यसि।

स्रस्तां०।। (1-30) लोहिततलौ रक्तकरोदरौ। जालकं समूहः। जालकं कोरके सङ्घे इति विश्वः। विकीर्णाः केशा एव करसंयमिता अनुमानमलङ्कारः। राज्ञ इति राज्ञो दत्तमिदमिति प्रतारणा। अथ च राज्ञा इदं ध्रियत एवेति सत्यमेव। तेन हि नार्हतीमम् अङ्गुरीयकवियोगं कर्तुम् आर्यः। आर्य्यस्य वचनादेवैषानृणा भवतु। सखि शकुन्तले, मोचितास्यनुकम्पिनार्येण, अथवा राजर्षिणा। तत् कुत्रेदानीं गमिष्यसि। पाठान्तरे तत् कृतार्थेदानीमसि। नेदं परिहरिष्यामि, ययात्मन प्रभवामि। पाठान्तरे नेदं विस्मरिष्यामि। किं साम्प्रतं न गच्छसि। इदानीमपि किं तवायत्तास्मि?, यदा मे रोचते तदा गमिष्यामि। अथ च तवाधीना किं?, किं तर्ह्यूपकारिण एवेति भावः।

राजा–(शकुन्तलां विलोकयन्नात्मगतम्) किं नु खलु यथा वयमस्यामेवमियमप्यस्मान् प्रति स्यात्। अथवा लब्धावकाशा मे मनोवृत्तिः।

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यवहिता मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीयं
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः।। 1–31।।

(नेपथ्ये) भो भोस्तपस्विनः। तपोवनसन्निहितसत्त्वरक्षणाय सज्जीभवन्तु भवन्तः। प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुःषन्तः।

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुर्विटपनिषक्तजलार्द्रवल्कलेषु।
पतति परिणतारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु।। 1–32।।

राजा–(स्वगतम्) अहो धिक्, कथं मदन्वेषिणः सैनिकास्तपोवनमभिरुन्धन्ति। (पुनर्नेपथ्ये) भो भोस्तपस्विनः। पर्याकुलीकुर्वन् वृद्धस्त्रीकुमारकानेष प्राप्तः।

तीव्राघातादभिमुखतरुस्कन्धभग्नैकदन्त :
प्रौढाकृष्टव्रततिवलयासङ्गनाज्जातपाशः ।
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो
धर्मारण्यं विरुजति गजः स्यन्दनालोकभीतः।। 1–33।।

(सर्वाः श्रुत्वा ससंभ्रममुत्तिष्ठन्ति।)

राजा–अहो धिक्, कथमपराद्धस्तपस्विनामस्मि। भवतु तावत्, प्रतिगच्छामि।

सख्यौ–महाभाअ, इमिणा हत्थिसंभमेण पज्जाउलाओ म्ह। ता अणुजाणाहि णो उडअगमणे। (महाभाग, अनेन हस्तिसंभ्रमेण पर्याकुलाः स्मः। तदनुजानीहि नः उटज-गमने)

अनुसूया–(शकुन्तलां प्रति) हला सउन्तले, आउला अज्जा गोदमी भविस्सदि। ता एहि। सिग्धं एक्कत्थाओ होम्ह। (सखि शकुन्तले, आकुला आर्या गौतमी भविष्यति। तदेहि शीघ्रम् एकास्थाः भवामः।)

वाचं०।। (1-31) कामं यथेष्टम् यथा स्यात्। तथा चैवंविधवैदग्ध्य-प्रकाशनान्मदनुरक्ते वेयमिति भावः। अनुमानालङ्कारः। रसान्तराक्षेपमाह–नेपथ्य इति। अर्थोपक्षेपकाभेदैश्चूलिकेयम्। तदुक्तम्–अन्तर्जवनिका संस्थैः सूचनार्थस्य चूलिकेति। तुरग०।। (1-32) तथाहि शब्दो इत्यर्थः। विटपः शाखापल्लवसमुदायः, अरुणः सूर्यः। धिक् खेदे। तीव्रा। (1-33) तीव्राघातास्तीव्रा गमनात्, स्कन्धेत्यनेन गजस्योच्चैस्त्वमुक्तं व्रततिर्लतेरगनपाश इव। मूर्तो विघ्न इवेति। उत्प्रेक्षालङ्कारः। शारङ्गो हरिणः। प्रतिगच्छामि प्रतिनिवृत्य गच्छामि। महाभाग अनेन हस्तिसंभ्रमेण पर्याकुला स्मः। तदनुजानीहि नोऽस्मान् उटजगमनाय। उटजः पर्णशाला। सखि शकुन्तले, पर्याकुलास्मदनुसन्धायेत्यर्थः। आर्या गौतमी भविष्यति, तदेहि शीघ्रमेकस्था भवामः।

शकुन्तला–(गतिसंरोधं रूपयित्वा) हद्धी हद्धी, ऊरुत्थम्भविअल म्हि संवुत्ता। (हा धिक्, हा धिक्, ऊरुस्तम्भविह्वलास्मि संवृत्ता।)

राजा–स्वैरं स्वैरं गच्छन्तु भवत्य:। वयमप्याश्रमबाधा यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे।

सख्यौ–महाभाअ, विदिदभूइट्ठो सि। णं सम्पदं जं उवआरमज्झत्थदाए अवरद्धाओ म्ह तं मरिसेसि। असंभाविदसक्कारं भूओ वि पच्चवेक्खणणिमित्तं सपरिहारं अज्जं विण्णवेमो। (महाभाग विदित भूयिष्ठ: असि। ननु साम्प्रतं यत् उपचारमध्यस्थतया अपराद्धा स्म: तत् मर्षिष्यसि। असम्भावितसत्कारं भूयोपि प्रत्यवेक्षणनिमित्तम् सपरिहारम् आर्यम् विज्ञापयाम:।)

राजा–मा मैवम्। दर्शनेनैवात्रभवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि।

शकुन्तला–अहिणवकुससूइपरिक्खदं मे चलणं, कुरुवअसाहापरिलग्गं च मे वक्कलं। ता पडिवालेध मं जाव णं मोआवेमि। (अभिनवकुशसूचिपरिक्षतं मे चरणं, कुरुबक-शाखापरिलग्नम् च मे वल्कलम्। तत्प्रतिपालयतं मां यावत् एतन् मोचयामि।)

(इति राजानमवलोकयन्ती सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता।)

राजा–(नि:श्वस्य) गता: सर्वा:। भवतु, अहमपि गच्छामि। शकुन्तलादर्शनादेव मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति। यावदनुयात्रिकानतिदूरे तपोवनस्य निवेशयामि। न खलु शक्तोऽस्मि शकुन्तलाव्यापारादात्मानं निवर्तयितुम्। कुत:–

गच्छति पुर: शरीरं धावति पश्चादसंस्थितं चेत:।
चीनांशुकमिव केतो: प्रतिवातं नीयमानस्य।। 1–34।।

(इति निष्क्रान्ता: सर्वे)

।। इति प्रथमोऽङ्कः।।

हा धिक् हा धिक् उरुस्तम्भ विह्वलास्मि संवृत्ता। महाभाग, विदितभूयिष्ठोऽसि ज्ञाततत्त्वोऽसीत्यर्थ:। साम्प्रतं यदुपचार-मध्यस्थतया पूजाशैथिल्येनापराद्धा: स्म:, तन्मर्षिष्यसि। असम्भावितसत्कारं भूय: प्रत्यवेक्षण-निमित्तं सपरिहारमार्य्यं विज्ञापयाम:। अभिनव-कुशसूचिपरिक्षतं मे चरणम्। कुरबकशाखाप्रतिलग्नं च मेऽञ्चलम्। तत् प्रतिपालयत मां यावदेतन्मोचयामि। गच्छ०।। / (1-34) गच्छति, न तु धावति। पुरोऽग्रे पश्चात् शरीरस्येत्यर्थात् धावति, शकुन्तलां लक्षीकृत्येऽर्थात् न तु गच्छति। चीनं वस्त्रभेद:, तस्य च सूक्ष्मत्वाद्वेग-गमनादुपमितम्। केतोर्ध्वजदण्डस्य प्रतिवातं वाताभिमुखम्। उपमालङ्कार:। एतेन पराङ्गसूचनाद् अङ्कावताराख्योऽर्थोपक्षेपक उक्त:। प्रत्यक्ष-नेतृ-चरितो रसभावसमुज्ज्वल:। अन्ते निष्क्रान्त-निखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तित:।।

।। इति महामहोपाध्याय-श्रीविष्णुपण्डित-तनुजन्म-श्रीचन्द्रशेखर-चक्रवर्ति-कृतावभिज्ञान-शकुन्तल-टीकायां प्रथमाङ्क-विवरणम्।।

—•—

।। द्वितीयोऽङ्कः ।।

(ततः प्रविशति विदूषकः)

विदूषकः–(निःश्वस्य) ही माणहे भो। हदो म्हि एदस्स मिअआसीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विण्णो। अअं मिओ अअं वराहो त्ति मज्झंदिणे वि गिम्हे विरलपादवच्छाआसुं वणराईसुं आहिण्डिअ पत्तसंकरकसाअविरसाइं उण्हकडुआइं पिबीअन्ति गिरिणदीसलिलाइं। अणिअदवेलं च उण्हुण्हं मंसं भुञ्जीअदि। तुरअगआणं च सद्देण रत्तिं पि णत्थि पकामसुइदव्वं। महन्ते ज्जेव पच्चूसे दासीएपुत्तेहिं साउणिअलुद्धेहिं कण्णोवघादिणा वणगमणकोलाहलेण पबोधीआमि। एत्तिकेणावि दाव पीडा ण वुत्ता जदो गण्डस्स उवरि विडआ संजाआ। जेण किल अम्हेसुं अवहीणेसुं तत्थभवदा मिआणुसारिणा अस्समपदं पविट्ठेण मम अधण्णदाए सउन्तला णाम का वि तावसकण्णआ दिट्ठा। तं पेक्खिअ संपदं णअरगमणस्स कधं पि ण करेदि। एदं जेव चिन्तअन्तस्स मम अच्छीसुं पहादा रअणी। ता का गदी। जाव णं किदाआर–परिकम्मं पिअवअस्सं पेक्खामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एसो बाणासणहत्थो हिअअणिहिदपिअअणो वणपुप्फमालाधारी इदो ज्जेव आअच्छदि पिअवअस्सो। भोदु। अङ्गामद्दविअलो भविअ चिट्ठिस्सं। एवं पि णाम विस्सामं लहेअं।।

(ही माणवे भोः। हतोऽस्मि एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञः वयस्यभावेन निर्विण्णः। अयं मृगः....., अयं वराहः...., इति मध्यन्दिने अपि ग्रीष्मे विरलपादपच्छायासु

विदूषक इति तल्लक्षणमाह भरतः। हास्यप्रधानवाक्येन कौतुकं वितनोति यः। नायकस्य सदा प्रीतः कथ्यते स विदूषक इति। अयञ्च नायकस्य नर्मसचिव उपनायकः। तदुक्तं–पीठमर्दो विटश्चैव विदूषक इति त्रिधा। स्यान्नर्मसचिवस्तस्य कुपितस्त्रीप्रसादक इति। अस्य च चरितं पताकाख्यप्रभृति, तदुक्तम्–"व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताके" त्यभिधीयते। हीमाणहे[24]–शब्दः प्राकृते खेदे। तदाह भरतः–हीमाणहे भये खेदे इति। ही ही भो इति च पाठः। ही ही भोः शब्दो विस्मये। यदाह भरतः–ही ही भो विस्मयार्थे तु प्रयुञ्जीत विदूषक इति। भो हतोऽस्मि। एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन। निर्विण्णोऽसुस्थः। अत्र हेतुमाह–अयं मृगोऽयं वराह इति मध्यन्दिनेऽपि ग्रीष्मे विरलपादपच्छायासु वनराजिषु आहिण्ड्य परिक्रम्य पत्रसंकरकषायविरसानि। संकरः साङ्कर्यम्, उष्णकटुकानि पीयन्ते गिरिनदीसलिलानि। अनियतवेलञ्च उष्णोष्णम् अत्युष्णं मांसं भुज्यते।

पाठान्तरे आर्द्रार्द्रं मांसभूयिष्ठमिति यदि पाठः, तदाऽन्नमित्यर्थात्। तुरगगजानाञ्च शब्देन रात्रावपि नास्ति प्रकामं स्वप्तव्यम्। महत्येव प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शाकुनिकलुब्धकैः। पाठान्तरे आमिषलुब्धैः। कर्णोपघातिना वनगमन–कोलाहलेन प्रबोध्ये। दास्याः पुत्रैरिति "षष्ठ्याऽऽक्रोशे" (पा. 6–3–21) इति षष्ठ्यलुक्। एतत् सर्वम् वैद्यकविरुद्धम्। तथा च "ग्रीष्मे न पथ्यं कटुतिक्त"मित्यादि।

---

24. हीनामहे इति 4117 इत्यत्र पठ्यते।

वनराजीषु आहिण्ड्य पत्रसंकरकषायविरसानि उष्णकटुकानि पीयन्ते गिरिनदी- सलिलानि।। अनियतवेलं च उष्णोष्णं मासं भुज्यते। तुरगगजानां च शब्देन रात्रिमपि नास्ति प्रकामस्वप्तव्यं, महति एव प्रत्यूषे दास्या:पुत्रैः शाकुनिकलुब्धैः कर्णोपघातिना वनगमनकोलाहलेन प्रबोध्ये। एतावतापि तावत्पीडा न वृत्ता, यतः गण्डस्योपरि विटकाः संजाताः। येन किल अस्मास्ववहीनेषु तत्रभवता मृगानुसारिणा आश्रमपदं प्रविष्टेन ममाधन्यतया शकुन्तला नाम कापि तापसकन्यका दृष्टा। तां प्रेक्ष्य साम्प्रतं नगरगमनस्य कथामपि न करोति। एतदेव चिन्तयतः मम अक्ष्णोः प्रभाता रजनी। तत् का गतिः। यावदेनं कृताचारपरिकर्माणं प्रियवयस्यं प्रेक्षे। एषः बाणासनहस्तः हृदयनिहितप्रियजनः वनपुष्पमालाधारी इतः एवागच्छति प्रियवयस्यः। भवतु, अङ्गामर्दविकलः भूत्वा स्थास्यामि। एवमपि नाम विश्रामं लभेय। (इति दण्डकाष्ठम् अवलम्ब्य स्थितः)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा)

राजा–(आत्मगतम्)

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते।। 2–1।।

(स्मितं कृत्वा) एवमात्माभिप्रायसंभावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विप्रलभ्यते। कुतः–

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव।

एतावतापि पीडा न वृत्ता पीडावृद्धिर्न वृत्तेत्यर्थः। यतो गण्डस्योपरि विटकाः संजाताः। विस्फोटक[25] विटकस्त्रिष्वित्यमरः। शङ्करस्तु देश्यां पीडिकाशब्दो विस्फोटवाचकः। गण्डस्योपरि यो गण्डः, स विस्फोटक उच्यत इत्याह, तच्चिन्त्यम्। येनास्मासु सर्वेष्ववहीनेषु पश्चात् पतितेषु तत्रभवता मृगानुसारिणा आश्रमपदं प्रविष्टेन ममाधन्यतया शकुन्तला नाम कापि तापसकन्यका दृष्टा। तां प्रेक्ष्य साम्प्रतं नगरगमनस्य कथामपि न करोति। एतदेव चिन्तयतो ममाक्ष्णोः प्रभाता रजनी। जाग्रत एव वा निर्गता इत्यर्थः। का गतिः? कः प्रकारः कर्तव्य इत्यर्थः। यावदेनं कृताचारपरिकर्माणं प्रियवयस्यं प्रेक्ष्ये। यावद्वाक्यालङ्कारे। परिकर्मप्रसाधनम्। एष बाणासनहस्तो०। बाणासनं धनुः। हृदयनिहित-प्रियजनो वनपुष्पमालाधारी इत एवागच्छति प्रियवयस्यः। भवत्वङ्गभङ्गविकलो भूत्वा तिष्ठामि। एवम् अपि विश्रामं लभे। का०।। (2-1) कामं निश्चितम्। प्रिया शकुन्तला। तु पुनरर्थे भावः। शृङ्गारचेष्टा यदि दुर्लभेव सा, तदर्थं क[थ] मुत्कण्ठ स इत्याह। अकृतेति०। सम्भोगे सति कामस्य कृतार्थता। अतादृशेऽपि मनसिजे उभयस्य नायक-नायिकयोः प्रार्थना, न त्वेकप्रार्थना। तथा च सति शृङ्गारभोगः स्यादिति। रतिं प्रीतिं करोति। पाठान्तरे रतिराकस्मिकावलोकनोद्भुतप्रीतिरुभयप्रार्थनां कुरुते। दर्शनेनानुरागजननात् प्रार्थना जायत इत्यर्थः। भावनाख्या तृतीया कामावस्थेयम्। तदुक्तम्–मुहुर्मुहुर्निः श्वसितैर्मनोरथविचिन्तनैः। नैवाशने न शयने न हृष्यति न तिष्ठति। विलास-नामकं

---

25. विस्फोटे इति 4117 इत्यत्र पठ्यते।

मा गा इत्युपरुद्धया यदपि तत्सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत्किल मत्परायणम् अहो कामः स्वतां पश्यति।। 2-2।।

विदूषकः-(तथा स्थित एव) भो राअं। ण मे हत्थो पसरदि। वाआमेत्तकेण जआवीअसि। (भो राजन्, न मे हस्तः प्रसरति। वाङ्-मात्रेण एव जाप्यसे।)

राजा-(विलाक्य सस्मितम्) कुतोऽयं गात्रोपघातः।

विदूषकः-कधं कुदो त्ति। सअं जेव अच्छिं भञ्जिअ अस्सुकारणं पुच्छसि। (कथं... . कुतः इति। स्वयमेवाक्षिं भङ्क्त्वा अश्रुकारणं पृच्छसि।)

राजा-न खल्ववगच्छामि। भिन्नार्थमभिधीयताम्।

विदूषकः-जं वेदसो खुज्जस्स लीलं विडम्बेदि तं किं अत्तणो पहावेण अध णदीवेअस्स। (यद्वेतसः कुब्जस्य लीलां विडम्बयति तत्किमात्मनः प्रभावेण अथवा नदीवेगस्य।)

राजा-नदीवेगस्तत्र कारणम्।

विदूषकः-ममावि भवं। (ममापि भवान्।)

राजा-कथमिव।

विदूषकः-जुत्तं णाम एदं जं तए रज्जकज्जाइं तादिसं च अक्खलिदपदं पदेसं उज्झिअ वणचरवित्तिणा भविदव्वं ति। किं एत्थ मन्तीअदु। अहं उण वम्हणो पच्चहं सावदाणुसरणेहिं संखोहिदसंधिबन्धणाणं अत्तणो अङ्गाणं अणीसो म्हि। ता पसीद। एक्काहं दाव

प्रतिमुख-सन्ध्यङ्गम् इदम्। तदुक्तं-समीहा राजभोगार्था विलास इति कथ्यत इति। प्रार्थयिता याचकः विप्रलभ्यते प्रतार्यते कामेनेत्यर्थात्।

स्निग्धं०।। (2-2) तया शकुन्तलया सर्वत्र सम्बन्धनीयम्। नितम्बगौरवेण च यद्विलासादिव मन्दं गतम्। मा गच्छेति च कृतगतिव्याघातया यत् सखी सकोपं व्याहता, तत् सर्वम् मत्परायणम्, मद्विषयकं, मदर्थं कृतम् एतदिति। अहो आश्चर्यम्। कामः स्वतामात्मीयतां, मत्कृतमेतत् सर्वमिति पश्यति। रतिं(तिः) भावजा स्निग्धेयं दृष्टिः। तदुक्तं भरतेन-सहर्षा साभिलाषा च मधुरान्तर्विकासिनी। स्मेरभावा च या[26] दृष्टिः स्निग्धा रत्याख्या भावजेति।। भो राजन्, न मे हस्तः प्रसरति। अतो वाङ्मात्रेणैव जाप्यसे। कथं, कुत इति। स्वयमेवाक्षिणी भित्वौश्रुकारणं पृच्छसि। भिन्नार्थं स्फुटार्थम्। यद्वेतसः कुब्जस्य लीलां[27] सादृश्यं विडम्बयति तत् किमात्मनः प्रभावेण, अथवा नदीवेगस्य। अथशब्दः प्रकृते पक्षान्तरे। ममापि भवान्। तदेव व्याकरोति युक्तं नामेति। यत्त्वया राज्यकार्याणि तादृशञ्चास्खलितपदं प्रदेशं उज्झित्वा त्यक्त्वा वनचरव(वृ)त्तिना भवितव्यमिति। किमत्र मन्त्र्यताम्। अहं पुनर्ब्राह्मणः प्रत्यहं श्वापद-विसरणैः संक्षोभित-सन्धिबन्धनानामात्मनोऽङ्गानाम् अनीशोऽस्मि। तत् प्रसीद, एकाहमपि तावद् विश्राम्यतु भवान्।।

---

26. त्वया इति 4118 इत्यत्र पठ्यते।
27. कुब्जार्थस्य इति 4117 इत्यत्र पठ्यते।

विस्समीअदु। (युक्तं नाम एतत् यत् त्वया राजकार्याणि तादृशं च अस्खलितपदं प्रदेशमुज्झित्वा वनचरवृत्तिना भवितव्यमिति। किमत्र मन्त्रयतामहं पुनः ब्राह्मणः प्रत्यहं श्वापदानुसरणैः संक्षोभितसन्धिबन्धनामात्मनः अङ्गानामनीशोऽस्मि। तत्प्रसीद, एकाहम् तावद्विश्रमायताम्।)

राजा–(स्वगतम्) अयमेवमाह। ममापि कण्वसुताम् अनुस्मृत्य मृगयां प्रति निरुत्सुकं चेतः। तथा हि–

न नमयितुमधिज्यमुत्सहिष्ये धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव लोचनकान्तिसंविभागः।। 2–3।।

विदूषकः–(राजानमवलोक्य) अत्थभवं किं पि हिअए कदुअ मन्तेदि। अरण्णे क्खु मए रुदिदं। (अत्रभवान् किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते। अरण्ये खलु मया रुदितम्।)

राजा–(सस्मितम्) किमन्यत्। अनतिक्रमणीयं सुहृद्वाक्यमिति स्थितोऽस्मि।

विदूषकः–(सपरितोषम्) तेण हि चिरं मे जीव। (तेन हि चिरं मे जीव।) (इत्युत्थातुमिच्छति।)

राजा–तिष्ठ, शृणु मे सावशेषं वचः।

विदूषकः–आणवेदु भवं। (आज्ञापयतु भवान्।)

राजा–विश्रान्तेन भवता ममान्यस्मिन्ननायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम्।

विदूषकः–किं मोदअखज्जिआए। (किं मोदकखादिकायाम्।)

राजा–यद्वक्ष्यामि।

विदूषकः–गहिदो खणो। (गृहीतः क्षणः।)

राजा–कः कोऽत्र भोः

(प्रविश्य) **दौवारिकः**–आणवेदु भट्टा। (आज्ञापयतु भर्ता।)

राजा–रैवतक, सेनापतिस्तावदाहूयताम्।

दौवारिकः–तधा। (इति निष्क्रम्य पुनः सेनापतिना सह प्रविश्य), एदु एदु अज्जो।

न [नमयितुम्०]। (2–3) आहितसायकमर्पितशरम्। (शाखाभोग 4118) संविभागोऽर्धवण्टनम्। अत्रभवान् किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते। अरण्ये खलु मया रुदितम्, कोऽपि न शृणोतीति भावः।

तेन हि चिरंजीव। आज्ञापयतु भवान्। किं मोदकखादिकायाम्। गृहीतः क्षणः। अवधानं कृतमित्यर्थः। निर्व्यापारस्थितौ क्षण इत्यमरः।। क्षण उत्सव इत्यनन्तार्णवः।

गृहीतः प्रणय इति शङ्करः पठति।

एस आलावदिण्णकण्णो भट्टा इदो ज्जेव चिट्ठदि। उवसप्पदु णं अज्जो। (तथा एतु एतु आर्यः। एषः आलापदत्तकर्णः भर्ता इतः एव तिष्ठति। उपसर्पत्वेनम् आर्यः।

सेनापतिः–(राजानमवलोक्य स्वगतम्) कथं दृष्टदोषापि मृगया स्वामिनि केवलं गुणायैव संवृत्ता। तथा हि देवः–

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरकर्मा
रविकिरणसहिष्णुः स्वेदलेशैरभिन्नः।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति।। 2–4।।

(उपगम्य) जयति जयति स्वामी। स्वामिन्। गृहीतमृगप्रचारसूचितश्वापदम् अरण्यम्। तत्किमन्यद् अनुष्ठीयताम्।

राजा–भद्रसेन, भग्नोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माधव्येन।

सेनापतिः–(अपवार्य) सखे माधव्य, दृढप्रतिज्ञो भव। अहं तावत्स्वामिनश्चित्तम् अनुवर्तिष्ये। (प्रकाशम्) देव, प्रलपत्वेष वैधेयः। ननु प्रभुरेव निदर्शनम्। पश्यतु देवः।

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्साहयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः।। 2–5।।

आज्ञापयतु भर्ता। भर्तेति सार्वभौमस्तु वाच्यः परिजनैः सदेति भरतः। यद्वा भट्टारके भर्तेति भाषाभेदः। रैवतकेति दौवारिकनाम। एतु एत्वार्य्यः, एष आलापदत्तकर्णो भट्टारक इत एव तिष्ठति। तस्माद् उपसर्पत्वेनमार्य्यः। देवो राजा।

अनवरतधनु०। (2–4) धनुर्ज्यारूढप्रतिपत्यर्थम्। धनुःशब्दः क्रूरं कठिनं कर्म यस्य। शङ्करस्तु क्रूरपूर्वमिति पठित्वा पूर्वः पूर्वभाग इत्याह। नेकैर्न त्वनेकैरित्यर्थत्वेन सहिष्णुतोक्तिः। क्षीणमपि व्यायतत्वात् कृतव्यायामत्वादलक्षणीयम्। व्यायतत्त्वाद् दैर्घ्यादिति शङ्करदुर्बोधः। प्राणः सारो यत्र नागो हस्ती जयतीत्याशंसायां लोट्। जयतेरनभिधानादित्युत्वप्रतिषेधः।। प्रचारो गतिः, गृहीतमृगप्रचारं ज्ञातमृगपथं सूचितव्याघ्रादिकञ्चेति शङ्करः। अपवादिना निन्दकेन निषेधकेन वा। माधव्येति[28] विदूषकनाम। अपवार्येति विदूषकम् अर्थाद्विदूषकात् संगोप्यान्यत्र प्रकाशं वक्तीत्यर्थः। तदुक्तं तद्भवेदपवारितं रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते इति दर्पणः। वैधेयो मूर्खः।

मेद०। (2–5) मृगया व्यसनं मिथ्या वदन्ति, अर्थाज्जनाः। हि यतः। ईदृश आनन्दः कुतः, न कुतोऽपीत्यर्थः। यद्वा हिरवधारणे। मिथ्यैवेत्यर्थः। हेतुमाह मेद० इति शरीरस्थूलताकारको धातुभेदो मेदः। अत एव लघु, अत एवोत्साहयोग्यम्। सत्त्वानां सिंहादीनाम्। सिध्यन्ति सफला भवन्ति।

---

28. माध्यदेति इति 4117 इत्यत्र पठ्यते।

विदूषकः–(सरोषम्) अवेहि रे उच्छाहइत्तआ अवेहि। अत्थभवं पइदिं आवण्णो। तुमं दाव दासीएपुत्तो अडईदो अडइं आहिण्ड जाव सिआलमिअलोलुवस्स कस्स वि जुण्णरिच्छस्स मुहे णिवडिदो होसि। (अपेहि रे उत्साहयितः, अपेहि। अत्रभवान् प्रकृतिमापन्नः, त्वं तावद्दास्याःपुत्रः अटवीतः अटवीम् आहिण्ड यावत् शृगालमृगलोलुपस्य कस्यापि जीर्णर्क्षस्य मुखे निपतितः भवसि।)

राजा–भद्रसेन, आश्रमसन्निकृष्टे स्थितोऽस्मीति वचस्ते नाभिनन्दामि। अद्य तावत्

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विस्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः।। 2–6।।

सेनापतिः–यथा प्रभविष्णवे रोचते।

राजा–तेन हि निवर्तय पूर्वगतान्धनुर्ग्राहिणः। यथा च सैनिकास्तपोवनं नाभिरुन्धन्ति दूरात् परिहरन्ति च तथा निषेद्धव्याः। पश्य–

शमप्रधानेषु तपोवनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला अपि सूर्यकान्तास्ते ह्यन्यतेजोऽभिभवाद् दहन्ति।। 2–7।।

सेनापतिः–यथाज्ञापयति स्वामी।

व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजः कोपज इत्यमरः। काव्यलिङ्गमलंकारः। अप्रस्तुतप्रशंसेति शङ्करः। अपेहि रे उत्साहशालिन अपेहि। मतुबर्थे हेतुकशब्दः। हेतुक इति तु व्याख्यानमनाकरम्। अत्रभवान् श्लाघ्यः राजेत्यर्थात्। प्रकृतिमापन्नः। त्वं तावद् दास्याः पुत्रोऽटवीतोऽटवीमाहिण्ड भ्रम, यावत् शृगालमृगलोलुपस्य कस्यापि जीर्णऋक्षस्य भल्लुकस्य मुखे निपतितोऽसि।।

गाह०।(2-6)।निपानेति कूपसमीपजलाशयजलं मुहुस्ताडितमिति जातिरलंकारः।कदम्बकं समूहः। भुक्तस्य पुनरुदगीर्य चर्वणं रोमन्थः। अभ्यस्यतु पौनःपुन्येन करोतु। पूर्वन्तु कदाचिदेव रोमन्थ इति भावः। कुलस्यापि कुटुम्बघटनमकुतोभयता लक्षणम्। विश्रब्धैः निःशङ्कैः। पल्वलम् अल्पसरः। विश्रामं लभतां पशुहिंसादिकर्मण इत्यर्थः। आहावस्तु निपानं स्याद् उपकूपजलाशय इत्यमरः। अत्र महिषा इत्यादिना प्रथमान्तलोपक्रमात् वराहपतिभिरित्यनेन तत्त्यागात् पुनर्धनुरित्यनेन च तद् आदानान्माधुर्य व्यत्ययेन प्रक्रमभङ्ग इति। विश्रब्धा रचयन्तु कोलपतयो मुस्ताक्षति पल्वले इति वरमत्र पाठ इति प्राज्ञः। शङ्करस्तु न ह्यत्र प्रथमान्तेनोपक्रमः, किन्तु कर्तृमात्रनिर्देशः। स चाति हि तत्वेऽनति हि तत्वे च तुल्य एवेति समाधानमाह। अत्र वराहपतीनां परिवृत्य प्रभावचतुराणामपि स्वतन्त्रकर्तृतामात्रमपि धर्मव्यापारावसरे नासीदिति प्रतिपादनाय तृतीयेति तु केचित्।।

शम० (2-7)।। हि हेतौ दृष्टान्तः। अर्थान्तरन्यास इति शङ्करः। भो उत्साहशालिन निष्क्राम। निष्क्राम उत्साहहेताविति शङ्करस्याज्ञानम्। अशून्यं कुरु। द्वारस्थो भवेत्यर्थः। यन्महाराज आज्ञापयति।

विदूषकः–भो उच्छाहइत्तआ। णिक्कम णिक्कम। (भोः उत्साहितः, निष्क्राम निष्क्राम।)

(सेनापतिर्निष्क्रान्तः)

राजा–(परिजनमवलोक्य) मृगयावेषमपनयन्तु भवन्तः। रैवतक, त्वमपि स्वनियोगमशून्यं कुरु।

रैवतकः–जं महाराओ आणवेदि। (यत् महाराजः आज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्तः)

विदूषकः–किदं भवदा णिम्मक्खिअं। ता इमस्सिं पादवच्छाआविरइदविदाणसणाधे सिलादले उवबिसदु भवं, जाव अहं पि सुहासीणो होमि। (कृतं भवता निर्मक्षकम्। तदेतस्मिन् पादप-च्छाया-विरचितवितानसनाथे शिलातले उपविशतु भवान्।यावदहमपि सुखासीनः भवामि।)

राजा–गच्छाग्रतः।

विदूषकः–एदु एदु भवं। (एतु एतु भवान्।) (उभौ परिक्रम्योपविष्टौ।)

राजा–सखे माधव्य, अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि, येन त्वया द्रष्टव्यानां परं न दृष्टम्।

विदूषकः–णं भवं जेव मे अग्गदो वट्टदि। (ननु भवानेव मे अग्रतः वर्तते।)

राजा–सर्वः खलु कान्तमात्मानं पश्यति। अहं तु तामेवाश्रमललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि।

विदूषकः–(स्वगतम्) भोदु। ण से पसरं वड्ढाइस्सं। (प्रकाशम्) भो, जदो सा तावस-कण्णआ अणब्भत्थणीआ, तदो ताए किं दिट्ठाए। (भवतु, नास्य प्रसरं वर्धयिष्यामि। भोः यतः सा तापसकन्यका अनभ्यर्थनीया, ततः तया किं दृष्ट्या।)

राजा–मूर्ख,

निराकृतनिमेषाभिर्नेत्रपङ्क्तिभिरुन्मुखः ।
नवामिन्दुकलां लोकः केन भावेन पश्यति।।2–8।।

न च परिहार्ये वस्तुनि दुःषन्तस्य मनः प्रवर्तते।

कृतं भवता निर्मक्षिकं निर्जनमित्यर्थः। तदेतस्मिन् पादपच्छायाविरचित वितानसनाथे शिलातले उपविशतु भवान् यावदहमपि सुखासीनो भवामि। वितानो यज्ञ उल्लोचे विस्तारे पुंनपुंसकमिति मेदिनी। एतु एतु भवान्। ननु भवानेव ममाग्रतो वर्तते। अमेवेत्यनेन पूर्वकथनं व्यज्यते। ललामं भूषणम्। भूषावाजिप्रचारेषु ललामञ्च, ललाम चेति शाश्वतः।। भवतु नास्य प्रसरं प्रश्रयं वर्द्धयिष्यामि। भो यतः सा तापसकन्यका अनभ्यर्थनीया ततस्तया किं दृष्ट्या।।

नि०। (2-8)। भावेनाभिप्रायेण नवां प्रकाशकरणाक्षमां केवलं सौन्दर्यावलोकनसुखेन जनस्तामवलोकयति तद्वदत्रापीति भावः। अप्रस्तुतप्रशंसा। समासोक्तिरिति भावः शङ्करः। तत्कथय। अपरिवार्यत्वमाह।

विदूषकः–ता कधेहि। (तत्कथय।)

राजा–

ललिताप्सरोभवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम्।। 2–9।।

विदूषकः–(विहस्य) भो, जधा कस्स वि पिण्डखजूरेहिं उव्वेइदस्स तिन्तिडिआए सद्धा भोदि तधा अन्तेउरइत्थीरदणपरिभोइणो भवदो इअं पत्थणा।

(भोः यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैः उद्वेजितस्य तिन्तिडिकायां श्रद्धा भवति, तथा अन्तःपुरस्त्रीरत्नपरिभोगिनः भवतः इयं प्रार्थना।)

राजा–सखे, न तावदेनां पश्यसि येन त्वमेवंवादी।

विदूषकः–तं खु रमणीअं णाम, जं भवदो वि विम्हअं उप्पदेदि। (तत्खलु रमणीयं नाम, यत् भवतः अपि विस्मयम् उत्पादयति।)

राजा–वयस्य किं बहुना।

चित्ते निवश्य परिकल्पितसर्वयोगा–
न्रुपोच्चयेन महता मनसा कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः।। 2–10।।

विदूषकः–सव्वधा पच्चादेसो क्खु सा रूववदीणं। (सर्वथा प्रत्यादेशः खलु सा रूपवतीनाम्।)

ललितेति०। (2–9) किल निश्चये। प्रसिद्धावित्यन्यः। तदुज्झिताधिगतं तया त्यक्तमधिगतं लब्धं मुनिना। अर्कस्य रवेरुपरि च्युतं पतितं शिथिलं वृन्ताच् च्युतम्। उज्झितसाम्यार्थमिदम्। नवमालिका अतिकोमलपुष्पभेदः। वाक्यार्थोपमा कुव्याख्यात्रोपेक्षिता।।

भो यथा पिण्डखर्जुरैः खर्जूरभेदैरुद्वेजितस्य कस्यापि तिन्तितिकायां श्रद्धा भवति तथा स्त्रीरत्नपरिभोगिनो भवत इयं प्रार्थना। तत् खलु रमणीयं नाम यद्भवतोऽपि विस्मयमुत्पादयति।।

चित्ते०।(2–10)।सा शकुन्तला अपरा द्वितीया स्त्रीरत्नसृष्टिर्लक्ष्मीसृष्टिर्मे प्रतिभाति स्फुरति। यद्वा अन्या स्त्रीश्रेष्ठसृष्टिः प्रतिभाति। अपरा न विद्यते श्रेष्ठा यस्या इत्यमरः। "जगदानन्दिनी पद्मा स्त्रीरत्नम् अच्युत–प्रिये"ति कोषः। जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्धि "रत्नं" प्रचक्षते इति च। असम्भावनाव्युदासमाह–धातुरिति स्रष्टुर्विभुत्वं सृष्टि–नैपुण्यं तस्याश्च वपुर्जगद्विलक्षणमिति भावः। अनुचिन्त्याकलय्य अत्राकलनस्फुरणयोरेक एव नृपः कर्तेति भिन्नकर्तृत्वभ्रमो न कार्यः। अन्यतो वैलक्षण्यमाह–कीदृशी, चित्ते निवेश्य प्रवेश्य ध्यात्वेति यावत्। परिकल्पितः सर्वेषां करचरणादीनां योगो यत्र परिचिन्त्य कृत इत्यर्थः। सदुपयोगाद् जनितप्राणसम्बन्ध इति शङ्करः। तथापि सृष्टस्य निश्चितकरसम्पर्काद् भवत्येव किञ्चिद् वैसादृश्यमित्याह मनसा चेतसा कृता नु विभुत्वान्मनसः सर्ज्जने भवत्यन्यतो वैलक्षण्यमिति। अत्र करणं रूपोच्चयेन महतेति पूर्वत्रापि सम्बन्धनीयमिदम्।

राजा–इदं च मे मनसि वर्तते।

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररूहै-
रनामुक्तं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति भुवि।। 2–11।।

विदूषकः–तेण हि लहुं लहुं गच्छदु भवं मा दाव सा तवस्सिणी कस्स वि इङ्गुदीतेल्लचिक्कणसीसस्स हत्थे णिवडिस्सदि। (तेन हि लघु लघु गच्छतु भवान्। मा तावत्सा तपस्विनी कस्यापि इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य हस्ते निपतिष्यति।)

राजा–परवती खलु तत्रभवती न च सन्निहितगुरुजना।

विदूषकः–अध तुह उवरि कीदिसो उण से चित्तराओ। (अथ तवोपरि कीदृशः पुनः अस्याः चित्तरागः।)

राजा–वयस्य, स्वभावादप्रगल्भास्तपस्विकन्यकाः। तथापि

अभिमुखे मयि संवृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकथोदयम्।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न मदनो विवृतो न च संवृतः।। 2–12।।

शङ्करस्तु–तथापि मनसो नीरूपतया कथं तादृशरूपसम्पत्तिस्तत्राह। रूपोच्चयेन कृतेत्यनुषङ्गः। तत्रापि विशेषयति महतेत्याह। अन्ये तु मनसा कथमेवं कृतेत्याकाङ्क्षायां चित्ते निवेश्येति हेतुगर्भविशेषणम्। तेन द्विरुक्तिरित्याहुः। उत्प्रेक्षेयम्। सर्वथा प्रत्यादेशः खण्डनं खलु सा रूपवतीनां।।

अनाघ्रातं०।।(2–11) अनाघ्रातमित्यनेनातिरमणीयत्वं गम्यते। एवमग्रेऽपि बोद्धव्यं पुष्पमिति सकलजनानन्दकारित्वात्। एवमग्रेऽपि यथोचितमुदाहरणीयम्। अनामुक्तं अपरिहितं आकराद् आनीतमात्रमित्यर्थः। मधु क्षौद्रम् अत्यन्तं संपूर्णम्। क्वचित् कदाचित् सुकृतविपाकोऽपि दुःखमिति तत् स्यादित्याह। अनघं प्रत्यवायहेतुरहितं तद्रूपं शकुन्ता(न्तला)सौन्दर्यम्। अत्र पूर्वार्द्धे अधिकारूढ–वैशिष्ट्यरूपकालङ्कारः। अधिकारूढवैशिष्ट्यरूपकं यत्तु देवतदिति लक्षणात् परार्द्धे चोपमेत्युभयसंसृष्टिः। इयञ्चतुर्थी कामावस्था। तदुक्तं चतुर्थे गुणकीर्तनमिति।

तेन हि लघु लघु अतिशीघ्रं परिणयतु भवान् शकुन्तलामर्थात् बीजमाह। मा तावत् सा तपस्विनी अनुकम्प्या कस्यापि इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य हस्ते निपतिष्यति। तपस्वी तापसे चानुकम्पायामिति मेदिनी। शङ्करमते मा तावदिति नास्ति। परवती पराधीना तर्हि गुरुरेव नान्यस्मै दास्यते। यद्वा गुरुरेव प्रार्थ्यतामित्याह "न चे"ति। अथ प्रश्ने, भवन्तमन्तरेण भवन्निमित्तम्। भवन्मध्य इति शङ्करदुर्बोधः। भवोपवीति(?) पाठान्तरम्। कीदृशः पुनस्तस्याश्चित्तरागः। अन्तरमवकाशावधि परिधानान्तर्द्धि भेद तादात्म्य इत्यमरः।।

अ०। (2–12)। हसितं प्रौढस्मितं, किञ्चित् लक्षितदन्तञ्च हसितन्त्वभिधीयत इति भरतः। किं नु खलु दृष्टमात्रेणैव भवतोऽङ्कमारोहतु।

विदूषकः–किं णु क्खु दिट्टमेत्तस्स ज्जव भवदो अङ्कं आरोहदु। (किन्नु खलु दृष्टमात्रस्यैव भवतः अङ्कमारोहतु।)

राजा–सखीभ्यां मिथःप्रस्थाने पुनस्तत्रभवत्या मयि भूयिष्ठमाविष्कृतो भावः। तथा हि

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्।। 2–13।।

विदूषकः–गहिदपाधेओ किदो सि ताए। ता अणुरत्तं तवोवणे तुमं तक्केमि। (गृहीतपाथेयः कृतः असि तया। तदनुरक्तं तपोवने त्वां तर्कयामि।)

राजा–सखे, चिन्तय तावत्केनापदेशेन पुनराश्रमपदं गच्छामः।

विदूषकः–को अवरो अवदेसो। णं भवं राआ। (कः अपरः अपदेशः। ननु भवान् राजा।)

राजा–ततः किम्।

विदूषकः–णीवारछट्ठभाअं मे तावसा उवहरन्तु त्ति। (नीवारषष्ठभागं मे तापसाः उपहरन्तु इति।)

राजा–मूर्ख, अन्यमेव भागमेते तपस्विनो निर्वपन्ति यो रत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यते। पश्य–

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद्धनम्।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।। 2–14।।

(नेपथ्ये) हन्त, सिद्धार्थौ स्वः।

राजा–(आकर्ण्य) अये, धीरप्रशान्तः स्वरः। तत्तपस्विभिर्भवितव्यम्।

दर्भ०। (2-13)। काण्डमवसरः। अनवसर इत्यर्थः। अनिमित्तमिति शङ्करः। विवृत्तवदना विवृत्तमुखी मदवलोकनायेति भावः। असक्तम् अलग्नम् अनेनानुरागव्यक्तिरुक्ता। तदुक्तम्– आकारेणात्मनो भावं या नारी तु प्रकाशयेत्। क्षिप्रमेवानुरक्ता सा प्रथमे चापि दर्शने इति। समाधिरलंकारः। बीजस्यालम्बनं यत्तु स समाधिरिति स्मृत इति।

गृहीतपाथेयस्तया कृतोऽसि। पाथेयः सम्बलं, तस्मादनुरक्तं तपोवने त्वां तर्कयामि। अपदेशो व्याजः। कोऽन्योऽपदेशो, ननु भवान् राजा। नीवारषष्ठभागं मे तापसा उपहरन्त्विति। बीजमाह –

यदिति०। (2-14)। उत्तिष्ठति मिलति उपोऽनूर्द्ध चेष्टायामित्यात्मनेपदं न चेष्टाया अभावात्। ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठतीति प्रत्युदाहृतं दुर्गटीकायां वर्णेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः। षड्भागं षष्ठभागं पूरणप्रत्ययलोपात् हि हेतौ। हन्त हर्षे अनायासेनैव नृपदर्शनात् कृतार्थौ भवावः आवामिति शेषः। धीरो धैर्यशाली प्रशान्तोऽनुत्कण्ठः।

(प्रविश्य) **दौवारिकः**–जअदु जअदु भट्टा। एदे क्खु दुवे इसिकुमारआ पडिहारभूमिं उवट्ठिदा।

राजा–अविलम्बितं प्रवेशय।

दौवारिकः–जं भट्टा आणवेदि। (इति निष्क्रम्य ऋषिकुमारकाभ्यां सह प्रविश्य च) इदो इदो एध। (यद् भर्ता आज्ञापयति। इतः इतः एतम्।)

एकः–(राजानमवलोक्य) अहो, दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयता वपुषः। अथवा उपपन्नमेवैतद् ऋषिकल्पे राजनि। कुतः–

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः।। 2–15।।

द्वितीयः–सखे, अयं स बलभित्सखो दुःषन्तः।

प्रथमः–अथ किम्।

द्वितीयः–तेन हि

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री-
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति।
आशंसन्ते समितिषु सुराः सक्तवैरा हि दैत्यै-
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे।। 2–16।।

उभौ–(उपेत्य) विजयस्व राजन्।

राजा–(आसनादुत्थाय) अभिवादये भवन्तौ।

जयति जयति भर्ता। एतौ खलु द्वावृषिकुमारकौ प्रति(ती)हारभूमिं द्वारमुपस्थितौ। यद् भर्ता आज्ञापयति। इत इत एतम् आगच्छतम्। विश्वेति सौम्यताम्।।

अ०।(2–15)। सर्वभोगार्हे गार्हस्थ्ये। चारणद्वन्द्वं गन्धर्वमिथुनं, यद्वा दिगन्ते ये यशः प्रापयन्ति ते चारणाः। मागधभेदाः तन्मिथुनम्। एतेन राज्ञः परिजनस्यापि निर्विघ्नं अर्द्धगमनागमनमुक्तमिति भावमाह शङ्करः। पुण्यः पुण्यहेतुत्वात् कीर्तिं स्वर्गफलमाहुरिति दर्शनात् व्यतिरेकालंकारः।।

नैतदिति०।(2–16) उदधीति आसमुद्रादित्यर्थः। नगरेति परिघस्यातिस्थौल्यदैर्घ्ये गम्यते भुनक्तिं पालयति। हेतुमाह। हि यस्मात् युद्धेष्वस्य धनूषि इन्द्रस्य च वज्रे देवा विजयमभिलषन्ति। कीदृशाः, दैत्यैः सह कृतवैराः। शङ्करस्तु यच्च विजयमभिलषन्ति तदप्यस्योचितमित्यर्थः। अत एव दीपकालंकार इत्याह। अपवार्य राजानम् अर्थात्। ऋषिकुमारकावित्यर्थः इत्यन्यस्तद्विचार्यम्। एष इदानीन्तेऽनुकूलो गलहस्तः। यद्देव आज्ञापयति।।

ऋषी–स्वस्ति भवते। (इति फलान्युपनयतः)

राजा–(सप्रणामं प्रतिगृह्य) आगमनप्रयोजनं ज्ञातुमिच्छामि।

ऋषी–विदितो भवानिह स्थितस्तपस्विभिस्ते च भवन्तमभ्यर्थयन्ते।

राजा–किमाज्ञापयन्ति।

ऋषी–तत्रभवतः कुलपतेरसांनिध्याद्रक्षांसि नस्तपोविघ्नमुत्पादयन्ति। तत्कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति।

राजा–अनुगृहीतोऽस्मि।

विदूषकः–(अपवार्य) अअं दाणिं दे अणुऊलो गलहत्थो। (अयम् इदानीं ते अनुकूलः गलहस्तः।)

राजा–रैवतक, उच्यतामस्मत्सारथिः सबाणकार्मुकं रथमुपस्थापयेति।

रैवतकः–जं देवो आणवेदि। (यद् देव आज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्तः)

ऋषी–

अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि।
आपन्नाभयसत्त्वेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः।। 2–17।।

राजा–गच्छतां भवन्तौ। अहमप्यनुपदमागत एव।

ऋषी–विजयस्व। (इति निष्क्रान्तौ)

राजा–माधव्य, अप्यस्ति ते शकुन्तलादर्शनं प्रति कुतूहलम्।

विदूषकः–पढमं अपरिबाधं आसि। संपदं रक्खसवुत्तन्तेण सपरिबाधं। (प्रथमम् अपरिबाधमासीत्। साम्प्रतम् राक्षसवृत्तान्तेन सपरिबाधम्।)

राजा–मा भैषीः, ननु मत्समीप एव वर्तिष्यसे।

विदूषकः–एसो क्खु तुह चक्करक्खी भूदो म्हि। (एषः खलु तव चक्ररक्षी भूतोऽस्मि।)

(प्रविश्य) **दौवारिकः**–सज्जो रधो भट्टिणो विजअपत्थाणं अवेक्खदि। एसो उण णअरादो देवीणं सआसादो करभओ आअदो। (सज्जः रथः भर्तुः विजयप्रस्थानमपेक्षते। एषः पुनः नगरात् देवीनां सकाशात् करभक आगतः।)

अनु०।(2–17)।पूर्वपुरुषाणां।सदृशे त्वयि।सर्वेषामुपकारिणीति पाठः शङ्करमतेन समीचीनः। युक्तरूपं योग्यम्। आपन्न आपत् प्राप्तः स्यादित्यमरः। अभयमेव सत्रं यज्ञः। दीक्षिता गृहीतव्रताः कृतप्रतिज्ञा इत्यर्थः। खलु यतः।।

अनुपदं पश्चात्। प्रथममपरिबाधमविघ्नमासीत्, सांप्रतं राक्षसनामग्रहणेन सपरिबाधं कुतूहलमित्यनुषङ्गः। सपरिहासमाह–एष तव चक्ररक्षी भूतोऽस्मि। सज्जो रथो भर्तुर्विजय-प्रस्थानमपेक्षते।

राजा–(सादरम्) किमार्याभिः प्रेषितः।

दौवारिकः–अध इं। (अथ किम्।)

राजा–तेन हि प्रवेश्यताम्।

दौवारिकः–(निष्क्रम्य पुनः करभकेण सह प्रविश्य) करभअ। एसो भट्टा उवसप्पदु भवं। (करभक, एषः भर्ता। उपसर्पतु भवान्।)

करभकः–(उपसृत्य प्रणम्य च) जअदु जअदु भट्टा। देवीओ विण्णवेन्ति। (जयतु जयतु भर्ता। देव्यः विज्ञापयन्ति।)

राजा–किमाज्ञापयति।

करभकः–आगामिचदुट्ठदिअसे पुत्तपिण्डपारणो णाम उववासो भविस्सदि। तत्थ दीहाउणा अवस्सं अम्हे संम्भाविदव्वाओ त्ति। (आगामिचतुर्थदिवसे पुत्रपिण्डपालनो नाम उपवासः भविष्यति। तत्र दीर्घायुषा अवश्यं वयं सम्भावितव्याः इति।)

राजा–इतस्तपस्विकार्यमितो गुरुजनाज्ञा। उभयमप्यनतिक्रमणीयम्। तत्किमत्र प्रतिविधेयम्।

विदूषकः–(विहस्य) भो, तिसङ्कू विअ अन्तरा चिट्ठ। (भोः त्रिशङ्कुः इव अन्तरा तिष्ठ।)

राजा–सत्यमाकुलीकृतोऽस्मि।

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति मे मनः।
पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहं यथा।।2–18।।

(विचिन्त्य) सखे, त्वमार्याभिः पुत्र इव गृहीतः। स भवान् इतः प्रतिनिवृत्य तपस्विकार्यव्यग्रताम् अस्माकं निवेद्य, तत्रभवतीनां पुत्रकार्यमनुष्ठातुमर्हति।

एष पुनर्नगराद् देवीनां सकाशात् करभक आगतः। आर्याभिर्मातृभिः। अथ किं बाढम्। एष भर्ता उपसर्पतु भवान्। जयति जयति भर्ता। देव्य आज्ञापयन्ति।

आगामिचतुर्थदिवसे पुत्रपिण्डपालना नामोपवासो भविष्यति। पिण्डपर्युपासन इति शङ्करः पठति। पुत्रपिण्डपालनं पुत्रपुष्टिप्रदं व्रतम्, "पुत्रराज" इति ख्यातम्। पिण्डो बले देहमात्रे निवापे च निगद्यते इति मेदिनी। अत्र दीर्घायुषा त्वयावश्यं वयं सम्भावयितव्या इति।।

विहस्येति।। मधुरस्वनं विहसितमिति भरतः। भोस्त्रिशङ्कुरिवान्तरा मध्ये तिष्ठ। त्रिशङ्कु–कथा प्रसिद्धेव। व्याहरनामा नाट्यालंकारोऽयम्। तदुक्तम्–

साकूतं सावलेपञ्च यद्वाक्यं हास्यलेशतः।
प्रत्यक्षार्थतया रूढं व्याहार इति कीर्तितः।।

कृत्य०। (2–18)। कृत्ययोः कार्ययोः। स्रोतोवहं नदीसम्बन्धिस्रोतः प्रवाहः। उपमा।।

विदूषकः–भो, मा रक्खसभीरुअं मं अवगच्छ। (भोः मा राक्षसभीरुकं मामवगच्छ।)

राजा–(स्मितं कृत्वा) भो महाब्राह्मण, कथमिदं त्वयि सम्भाव्यते।

विदूषकः–तेण हि राआणुणो विअ गन्तुं इच्छामि। (तेन हि राजानुजः इव गन्तुमिच्छामि।)

राजा–ननु तपोवनोपरोधः परिहरणीय इति, सर्वानिवानुयात्रिकांस्त्वयैव सह प्रेषयामि।

विदूषकः–(सगर्वम्) ही ही, जुअरावो म्हि संवुत्तो। (ही ही, युवराजोऽस्मि संवृत्तः।)

राजा–(आत्मगतम्) चपलोऽयं बटुः, कदाचिदिमामस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यो निवेदयेत्। भवत्वेवं तावत्। (विदूषकं हस्ते गृहीत्वा प्रकाशम्) सखे माधव्य, ऋषिगौरवाद् आश्रमपदं गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापसकन्यायामभिलाषो मे। पश्य–

क्व वयं, क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सह वर्धितो जनः।
परिहासविकल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः।। 2–19।।

विदूषकः–एवं णेदं। (एवं नु एतत्।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

।। इति द्वितीयोऽङ्कः।।

भो मा राक्षसभीरुकं मामवगच्छ। तेन हि राजानुज इव गन्तुमिच्छामि। युवराजोऽस्मि संवृत्तः। क्व०। (2-19)। परिहस्येति कौतुककल्पितम्। एवमेतत्।।

।। इति द्वितीयाङ्क-विवरणम्।।

—•—

।। अथ तृतीयोऽङ्कः ।।

(ततः प्रविशति कुशानादाय यजमानशिष्यः।)

शिष्यः–(विचिन्त्य सविस्मयम्) अहो, महाप्रभावो राजा दुःषन्तः। येन प्रविष्टमात्र एवात्रभवति निरुपप्लवानि नः कार्याणि संवृत्तानि।

का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव दूरतः।
हूङ्कारेणेव धनुषः स हि विघ्नान् व्यपोहति।। 3–1।।

यावदिमान् वेदीसंस्तरणार्थं दर्भान् ऋत्विग्भ्य उपहरामि। (परिक्रम्यावलोक्य च आकाशे) प्रियंवदे, कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीदलानि नीयन्ते।

(आकर्ण्य) किं ब्रवीषि ......। आतपलङ्घनाद्बलवदसुस्थशरीरा शकुन्तला। तस्याः शरीरनिर्वापणायेति। प्रियंवदे, यत्नादुपचर्यताम्। सा हि तत्रभवतः कुलपतेरुच्छ्वसितम्। अहमपि वैतानं शान्त्युदकमस्या एव गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि।

(इति निष्क्रान्तः)

(प्रवेशकः)

(ततः प्रविशति मदनावस्थो राजा)

राजा–(सचिन्तं निःश्वस्य)

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम्।
न च निम्नादिव सलिलं निवर्तते मे ततो हृदयम्।। 3–2।।

भगवन्मन्मथ। कुतस्ते कुसुमायुधस्य सतस्तैक्ष्ण्यमेतत्। (स्मृत्वा) आं.... ज्ञातम्।

उपप्लवो विघ्नः। का० (3–1)।। इवोत्प्रेक्षायाम्। व्यपोहति निराकरोति। हूं क्रोधे। ईहार्तिष्विति भरतः। आकाश इति। आकाशभाषित क्वेति ज्ञेयमुत्तरसन्धय इति भरतः। किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते। श्रुत्वैवानुक्तमप्यर्थं तत् स्यादाकाशभाषितमिति च।। उशीरं वीरणमूलम्। आतपेति आतपकृतपरिभवात् निर्वापणं स्वास्थ्यम्। उच्छ्वसितं जीवनम्। वैतानं वितानाख्ययागसम्बन्धि शान्त्युदकम्। नैरुज्यप्रदं जलम्।

प्रवेशक इति। प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्र-प्रयोजितः। अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः, शेषं विष्कम्भको यथा। अङ्कद्वयान्तरिति प्रथमाङ्केऽस्य निषेधः।

मदनेति०।। उद्वेगाख्या पञ्चमी कामावस्थेयम्। तदुक्तम् भरतेन–उद्वेगः पञ्चमे प्रोक्त इति।

जाने०।। (3–2) तपसो वीर्यमित्यनेन दुष्यापहारो निरस्तः। बाला षोडशवर्षीया। अथ च शिशुः पराधीनेति मयैव ज्ञातम्, एतेन "तया मनोरथो मम पूरणीयः" इत्युक्तम्। तर्हि तदभिलाषाद् विरम्यतामित्याह। न चेति निम्नं गभीरमित्यर्थः। बालेति०। "बालेति गीयते नारी यावत् षोडषवत्सरमिति "भरतः। आमिति स्मरणे।

अद्या०।। (3–3) अद्य नूनम् उत्प्रेक्ष्यं त्वयि यत् और्वो वाडवाग्निः। मद्विधानां विरहिणां

अद्यापि नूनं हरकोपवह्निस्त्वयि ज्वलत्यौर्व इवाम्बुराशौ।
त्वमन्यथा मन्मथ मद्विधानां भस्मावशेषः कथमेवमुष्णः।। 3–3।।

अपि च। त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीयाभ्यामभिसन्धीयते कामिसार्थः। कुतः–

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि।। 3–4।।

अथवा–

अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्नभिमतो मे।
यदि मदिरायत-नयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति।। 3–5।।

भगवन्, एवमुपालब्धस्य ते न मां प्रत्यनुक्रोशः।

वृथैव संकल्पशतैरजस्रमनङ्ग नीतोऽसि मयातिवृद्धिम्।
आकृष्य चापं श्रवणोपकण्ठे मय्येव युक्तस्तव बाणमोक्षः।। 3–6।।

क्व नु खलु निरस्तविघ्नैस्तपस्विभिरनुज्ञातः खिन्नमात्मानं विनोदयामि। (निःश्वस्य) न च प्रियादर्शनादृते शरणमन्यत्। (ऊर्ध्वमवलोक्य) इमामुग्रातपां वेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना तत्रभवती गमयति। भवतु, तत्रैव गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) अनया बालपादपवीथ्या सुतनुरचिरं गतेति तर्कयामि। कुतः–

एवम् उपलभ्यमानः। एवं प्रकारेण उत्प्रेक्षेयम्। विश्वसनीयाभ्यामशंकनीयाभ्याम् प्रतिसन्धीयते हिंस्यते[29]। हिंसा स्याद् अभिसन्धानमि-त्यमरः।

तवेहि(ति)०।। (3-4) अयथार्थम् असत्यम्। वज्रसारीकरोषि। वज्रवद् दृढप्रहारा{हा}न् करोषि। हर्षणः प्रहसनश्चैव मोहनो मूर्च्छनस्तथा। विकर्षणश्च कामस्य शराः पञ्च प्रकीर्तिताः।। इति भरतः।

अनि०।। (3-5) अनिशं निरन्तरं रुजं पीडाम् आवहन् कुर्व्वन् दुःखदत्वेपि कथमित्याह। यदि वेवार्थे इति हेतौ तां शकुन्तलामेवोद्दिश्य प्रहरति यद् इत्यर्थः। मदिरेति। मदिरोपममायतं दीर्घञ्च नयनं यस्याः। शोणत्वान्मदिरोपमानं नयनोपमाप्रकरणे कविकल्पलतायाम्। तथा दर्शनात्, यद्वा मदिरा तरुणे मद इति दृष्टिप्रभेदप्रकरणे त्रिलोचनमिश्रादयः। ततश्च मदिरायामायतं दीर्घञ्च नयनं यस्येत्यर्थः।।

मदिरं सुन्दरमिति तु बहिर्दृशः शङ्करादयः। एवञ्च मदिरो मत्त खञ्जन इति। मदिरं सुन्दरेऽपी(पि) स्यादीषद्घूर्णनशील इति च कोष-कल्पनापि मूर्खाणाम्। अनुक्रोशः कृपा।

वृथैव०।।(3-6) सङ्कल्पो ध्यानम्। हे अनङ्ग, कथं व्यर्थत्वमित्याह–कर्णसमीपे चापमानीय मय्येव तव योग्यः शरत्यागो नान्यस्मिन्, यतो मयि बाणं पातयिष्यतो वृथेत्यर्थः। काव्यलिङ्गमलङ्कारः।। शरण्यं रक्षकम्, वलयं समूहः, गमयति। वीथ्या निरावली: पङ्क्तिरित्यमरः।

29. हिंस्यात् इति 4117 इति मातृकायाः पाठः।

संमीलन्ति न तावद्बन्धनकोशास्तयावचितपुष्पाः।
क्षीरस्निग्धाश्चामी दृश्यन्ते किसलयच्छेदाः।। 3–7।।

(स्पर्शं रूपयित्वा) अहो, प्रवातसुभगोऽयं वनोद्देशः।

शक्योऽरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरङ्गाणाम्।
अङ्गैरनङ्गतप्तैर्निर्दयमालिङ्गितुं पवनः।। 3–8।।

(विलोक्य) हन्त, अस्मिन्नेव वेतसलतामण्डपे भवितव्यं शकुन्तलया। तथा हि–

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात्।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा।। 3–9।।

यावद्विटपान्तरेणावलोकयामि। (तथा कृत्वा सहर्षम्) अये, लब्धं नेत्रनिर्वाणम्। एषा मनोरथप्रिया मे कुसुमास्तरणशिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामुपास्यते। भवतु। शृणोमि तावदासां विस्रम्भकथितानि। (इति विलोकयन्नवस्थितः)

(ततः प्रविशति सह सखीभ्यां शकुन्तला)

सख्यौ–(उपवीज्य) हला सउन्तले, अवि सुहाअदि दे णलिणीवत्तवादो। (सखी शकुन्तले, अपि सुखायते ते नलिनीपत्रवातः।)

शकुन्तला–(सखेदम्) किं वीअअन्ति मं पिअसहीओ। (किं वीजयतः मां प्रियसख्यौ।)

(उभे सविषादं परस्परमवलोकयतः।)

राजा–बलवदसुस्थशरीरा तत्रभवती दृश्यते। (सवितर्कम्) तत्किमयमातपदोषः स्याद्, उत यथा मे मनसि वर्तते। (विचिन्त्य) अथवा कृतं सन्देहेन।

बन्ध०।। (3–7) बन्धनकोषा वृन्तगर्भाणि क्षीरस्निग्धागलद् दुग्धा इति यावत्। च्छेदाः खण्डाः चिरत्रोटनेन वृन्तसङ्कोचो जायते अगलद्दुग्धतापि। अत्र विपरीतं दृश्यत इति। आचार गतेति भावः। उन्मीलन्तीति प्राचीनः पाठः। अनुमानालङ्कारः। बलिकर्म्मा[न]र्ह[स्य,] कुसुम-किल(स)स(ल) यानां च्छेदनमतिदुर्ललितम्। शकुन्तलां विना न सम्भवतीत्यर्थः इति शङ्करः। प्रवातः प्रशस्तानिलः।

शक्य०।। (3–8) अरविन्देति कणेति च। सौगन्ध्य-शैत्ये उक्ते गुणत्रययुक्तमिति शङ्करः। उक्तञ्च, शीतो मन्दः सुगन्धिस्त्रिविधो मत इति। निर्दयं दृढं। हन्त हर्षे।

अभ्यु०।। (3–9) अवगाढा निम्ना। एतदपि प्रशस्तलक्षणम्। नान्यस्य इत्यनुमानालङ्कारः। परिसर्प-नामकं प्रतिमुखाङ्कमिदम्। यदुक्तं दष्ट-नष्टानुसरणं परिसर्पश्च कथ्यत इति। निर्वाणं सुखम्। निर्वाणमपवर्गेऽपि। निर्वाणं निर्वृतिं विदुरिति शाश्वतः। मनोरथेन प्रिया, न तु प्रकान्तरेण। अत एव चक्षुष एव सुखमनुभूयत इति भावः। कुसुमेति। विस्तृतकुसुमशयनं शिलापट्टं पाषाणखण्डम्। हला शकुन्तले, अपि सुखायते नलिनीपत्रवातः। किं वीजयतो मां प्रियसख्यौ। सविषादमिति, शकुन्तला-ज्ञानलोपात्। उत पक्षान्तरे। कृतं व्यर्थम्।।

स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिलमृणालैकवलयं
प्रियायाः साबाधं तदपि कमनीयं वपुरिदम्।
समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो-
र्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु।। 3–10।।

प्रियंवदा–(जनान्तिकम्) अणुसूए, तस्स राएसिणो पढमदंसण्णादो आरम्भिअ पज्जुस्सुअमणा सउन्तला। ण क्खु से अण्णणिमित्तो आदङ्को भवे। (अनुसूये, तस्य राजर्षेः प्रथमदर्शनादारभ्य पर्युत्सुकमनाः शकुन्तला। न खल्वस्या अन्यनिमित्त आतङ्कः भवेत्।

अनुसूया–ममावि एरिसी आसङ्का। भोदु। पुच्छस्सं। सहि पुच्छिदव्वा सि किं पि। बलीओ क्खु अङ्गसंतावो। (ममापि ईदृश्याशङ्का। भवतु। प्रक्ष्यामि। सखि, प्रष्टव्यासि किम् अपि। बलीयान् खल्वङ्गसन्तापः।)

राजा–वक्तव्यमेव।

शशिकरविशदान्यस्यास्तथा हि दुःसहनिदाघशंसीनि।
भिन्नानि श्यामिकया मृणालनिर्माणवलयानि।। 3–11।।

शकुन्तला–(पूर्वार्धेन शयनादुत्थाय) हला, भण जं वत्तुकामा सि। (सखि, भण यद्वक्तुकामासि।)

अनुसूया–हला सउन्तले, अणब्भन्तराओ अम्हे मणोगदस्स दे वुत्तन्तस्स। किं तु

उशीरं०।। (3-10) वीरणमूलम्। प्रियायाः शरीरं सपीडमपि मनोहारि। कीदृशं, प्रशिथिलः कोमलो मृणालस्यैव। एकोऽद्वितीयो वलयो यत्र समासार्थो नियमः वलयान्तरोद्वहनासामर्थ्यात्। कामं निश्चितम्। सुभगं रम्यम्। अपराद्धमपराधः। एतादृशरूपता ग्रीष्मस्य न भवतीत्यर्थः। तथा च स्मरस्यैव विलसितमेतदिति भावः।

स्रजो भूषणगन्धांश्च गृहाण्युपवनानि च।
कामाग्निना हि सन्तप्तः शीतलं वस्तु नेच्छती[30]ति भरतः।।

एतस्य राजर्षेः प्रथमदर्शनादारभ्य पर्य्युत्सुकमनाः शकुन्तला। न ह्यन्यनिमित्ता शङ्का भवेत्। ममापि एतादृशी आशङ्का। भवतु प्रक्ष्यामि। सखि, प्रष्टव्यासि किमपि, बलीयान् अङ्गसन्तापः।

शशि०[31]।। (3-11) भिन्नानि मिश्रितानि श्यामिका श्यामत्वं। सखि, भण। यद् वक्तुकामासि। सखि शकुन्तले, अनभ्यन्तरे आवाम् एतस्य मनोगतस्य वृत्तान्तस्य। किन्तु यादृशी इतिहासकथानुबन्धेषु कामयमानानां कामुकानामवस्था श्रूयते। तादृशी तवापीति तर्कयामि। अवस्थाश्च दश भरतेनोक्ताः।

अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचिः।
अरतिः[32] स्यादनालम्बा तन्मयोन्माद-मूर्च्छनाः। पूर्वानुभवजा ज्ञेयाः एताः स्मर दशा दश।।

---

30. शङ्करटीकायां "सेवते" इति पाठः।
31. शङ्करटीकायां श्लोकोऽयं नास्ति।
32. शङ्करटीकायां "आवृतिः" इति पाठः।

जादिसी इदिहासकधाणुबन्धेसुं कामअमाणाणं अवत्था सुणीअदि तादिसी तुह त्ति तक्केमि। ता कधेहि, किं णिमित्तं दे अअं आआसो। विआरं परमत्थदो अआणिअ अणारम्भो किल पडीआरस्स। (सखि शकुन्तले, अनभ्यन्तरे आवां मनोगतस्य ते वृतान्तस्य। किं तु यादृशी इतिहासकथानुबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते। तादृशी तवैति तर्कयामि। तत्कथय किन्निमित्तं ते अयमायासः। विकारं परमार्थतः अज्ञात्वा अनारम्भः किल प्रतीकारस्य।)

राजा–अनुसूययापि मदीयस्तर्कोऽनुगतः।

शकुन्तला–बलीओ क्खु मे आआसो। ण सहसा सक्कणोमि णिवेदिदुं। (बलीयान्खलु मे आयासः। न सहसा शक्नोमि निवेदयितुम्।)

प्रियंवदा–सहि, सुट्ठु क्खु एसा भणादि। किं एदं अत्तणो उवद्दवं णिगूहसि। अणुदिअसं च परिहीअसि अङ्गेसुं। केवलं लावण्णमई छाआ तुमं ण मुञ्चेदि। (सखि, सुष्ठु खल्वेषा भणति। किमेतमात्मनः उपद्रवं निगूहसि। अनुदिवसञ्च परिहीयसे अङ्गेषु। केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति।

राजा–अवितथमाह प्रियंवदा। तथा ह्यस्याः–

क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डरा।
शोच्या च प्रियदर्शना च मदनग्लानेयमालक्ष्यते
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी।। 3–12।।

शकुन्तला–(निःश्वस्य) कस्स वा अण्णस्स कधइस्सं। किं तु आआसइत्तिआ वो भविस्सं। (कस्य वा अन्यस्य कथयिष्यामि। किं तु आयासयित्री वां भविष्यामि।)

उभे–सहि, अदो ज्जेव णो णिव्वन्धो। संविभत्तं खु दुक्खं सज्झवेअणं भोदि। (सखि, अतः एव नौ निर्बन्धः। संविभक्तं खलु दुःखं सह्यवेदनं भवति।)

तत् कथय किन्निमित्तं तेऽयमायास इति। विकारं परमार्थतोऽज्ञात्वानारम्भः किल प्रतीकारस्य। बलीयान् खलु ममायासो, न सहसा शक्नोमि निवेदयितुम्।

सुष्ठु खल्वेषा भणति। किमेतमात्मन उपप्लवं निगूहसि। अनुदिवसञ्च परिहीयसे अङ्गेषु। केवलं लावण्यमयी च्छाया त्वां न मुञ्चति। च्छाया स्याद् आतपाभावे प्रभाप्रतिमयोरपीति शाश्वतः। अवितथं सत्यम्।

क्षाम०।। (3–12) त्यक्तं त्यक्तं शोषणेन व्यपनायकेन। लतामाधवीति संघात(:), विगृहीत–विपर्य्यस्तेत्यभिधानिकाः, तेन "माधवीलता, लता माधवी चे"ति नामानि। कस्य वान्यस्य कथयिष्यामि। किन्तु आयासकारिणी युवयोर्भविष्यामि। सखि, अत एव निर्बन्धः।

संविभक्तं खलु दुःखं सह्यवेदनं भवति।

यदाह–न दुःखं पञ्चभिः [सहेति]।

राजा–

पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला
नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम्।
दृष्टो निवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्णम्
अत्रोत्तरश्रवणकातरतां गतोऽस्मि।। 3–13।।

शकुन्तला–जदो पहुदि सो तवोवणरक्खिदा राएसी मम दंसणपधं गदो। (यतः प्रभृति सः तपोवनरक्षिता राजर्षिः मम दर्शनपथं गतः।) (इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयति।)

उभे–कधेदु पिअसही। (कथयतु प्रियसखी।)

शकुन्तला–तदो पहुदि तग्गदेण अहिलासेण एदावत्थ म्हि संवुत्ता। (ततः प्रभृति तद्गतेनाभिलाषेणेतदवस्थास्मि संवृत्ता।)

उभे–दिट्ठिआ, इदाणिं दे अणुरूवे वरे अहिणिवेसो। अधवा। साअरं उज्झिअ कहिं वा महाणदीए पविसिदव्वं। (दिष्ट्या, इदानीं ते अनुरूपे वरे अभिनिवेशः। अथवा सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्या प्रवेष्टव्यम्।)

राजा–(सहर्षम्) श्रुतं यच्छ्रोतव्यम्।

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः।
दिवस इवाभ्रश्यामस्तपात्यये जीवलोकस्य।। 3–14।।

शकुन्तला–ता जइ वो अणुमदं तदो तधा पअत्तध जधा तस्स राएसिणो अणुकम्पणीआ होमि। अण्णधा सुमरेध मं। (तद्यदि वां अनुमतं ततः तथा प्रयतेथाम् यथा तस्य राजर्षेः अनुकम्पनीया भवामि। अन्यथा स्मरतं माम्।)

राजा–विमर्शच्छेदि वचनम्।

पृष्टा०।। (3-13) समसुखादिना जनेन सखीलोकेनेत्यर्थः। पुंस्याधिर्मानसी व्यथेत्यर्थः। स्निग्धा दृष्टिर्भावसूचिका। यदुक्तम्–लेखप्रस्थापनैः स्निग्धैर्वीक्षितैर्मृदुभाषितैः। दूतीसंप्रेषणैर्नार्य्या भावाभिव्यक्तिरिष्यत इति। कातरतां व्याकुलतां सतृष्णतामित्यन्यः। यद्यपि दुःखहेतोरवश्यकथनादात्मनि तत् स्निग्धावलोकनाच्च। कातरता न युक्ति सहा तथाप्यतिदुर्ललितप्राप्तौ आधिकरणमहमन्यो वेति चित्तप्रत्ययो न जायत इत्यर्थः। यतः प्रभृति स तपोवनरक्षिता राजर्षिर्मम दर्शनपथं गतः। कथयतु प्रियसखी। ततः प्रभृति तद्गतेनाभिलाषेण एतावदवस्थास्मि संवृत्ता। दिष्ट्या आनन्देन, दिष्ट्या भाग्येन वा। इदानीं तेऽनुरूपे वरेऽभिलाषः, अभिनिवेशो वा। अथवा सागरं वर्जयित्वा कुत्र वा महानद्या प्रवेष्टव्यं, प्रसर्तव्यं वा।

स्मर०।। (3-14) निर्वापयिता सुखयिता। तपात्यये ग्रीष्मावसाने मेघसम्बन्धार्थमिदमुक्तम्। अत्र हि मेघोदयेऽपि। हि दिवसोऽधिकं तापयित्वा पश्चाद् वृष्ट्या निर्वापयतीति जातिः। केचित्तु मेघाभावे तापयति तत् सम्बन्ध च निर्वापयतीत्याहुः।

प्रियंवदा–(जनान्तिकम्) अणुसूए, दूरगदमम्मधा अक्खमा खु इअं कालहरणस्स। (अनुसूये, दूरगतमन्मथा अक्षमा खल्वियं कालहरणस्य।)

अनुसूया–पिअंवदे, को उवाओ भवे जेण अविलम्बिदं णिहुदं च सहीए मणोरधं सम्पादेमो। (प्रियंवदे कः उपायः भवेत् येनाविलम्बितं निभृतं च सख्याः मनोरथं सम्पादयावः।)

प्रियंवदा–सहि, णिहुदं ति पअत्तिदव्वं। सिग्धं ति ण दुक्करं। (सखि, निभृतमिति प्रयतितव्यम्। शीघ्रमिति न दुष्करम्।)

अनुसूया–कधं विअ। (कथमिव।)

प्रियंवदा–णं सो वि राएसी इमस्सिं जणे सिणिद्धदिट्ठिसूइदाहिलासो इमेसुं दिअसेसुं पज्जाअरकिसो विअ लक्खीअदी। (ननु सोऽपि राजर्षिः अस्मिन् जने स्निग्धदृष्टि-सूचिताभिलाषः एषु दिवसेषु प्रजागरकृशः इव लक्ष्यते।)

राजा–सत्यमित्थंभूत एवास्मि। तथा हि–

अशिशिरतरैरन्तस्तापैर्विवर्णमणीकृतं
निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रवर्तिभिरश्रुभिः।
अनतिलुलितज्याघाताङ्कान्मुहुर्मणिबन्धनात्
कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते।। 3–15।।

प्रियंवदा–(विचिन्त्य) हला अणुसूए, मअणलेहो दाणिं से करीअदु। तं अहं सुमणोगोविदं कदुअ देवदासेसावदेसेण तस्स रण्णो हत्थं पावइस्सं। (सखि अनुसूये, मदनलेखः इदानीम् अस्याः क्रियताम्। तमहं सुमनोगोपितं कृत्वा देवताशेषापदेशेन तस्य राज्ञः हस्तं प्रापयिष्यामि।)

तद्यदि वोऽनुमतं ततस्तथा प्रयतेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामीति। अन्यथा स्मरत माम्। अन्यथा प्रसीदतं, सिञ्चतं इदानीं मे उदकम्, मामुदकैः सिञ्चतमित्यर्थः इति शङ्करसम्मतः पाठोऽर्थश्च। विमर्षे इयमनुरक्ता न वेति परामर्शः। कामफलं येनेदृगवस्थामारोपिता। यत्नेति प्रयत्नः परमवशिष्यत इत्यर्थः। अनुसूये दूरगतमन्मथा प्ररूढकामा अक्षमा खल्वियं कालहरणस्य विलम्बस्य। प्रियम्वदे, क उपायो भवेत्। येनाविलम्बं निभृतञ्च सख्या मनोरथं सम्पादयावः। निभृतमिति प्रयतितव्यं, शीघ्रमिति न दुष्करं। कथमिव। सोऽपि राजर्षिरेतस्मिन् जने स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाषः। एतेषु दिवसेषु प्रजागरकृश इव लक्ष्यते। "कटाक्षिणी साभिलाषा दृष्टिः स्निग्धाभिधीयते" इति भरतः।

आ(अ)न० / (अशिशिर०) ।। (3-15) कनकवलयं पुनःप्रतिसार्य्यते, उपरि नीयते। कीदृशं, मणिबन्धनात् करमूलात् वारंवारमधःपतितं स्रस्तं, मणिबन्धनात् प्रतिसार्यत इति वा। अतिकार्श्येन नातिमुदितो ज्याघाताङ्को यत्र क्रियाविशेषणम्। शङ्करस्तु अनतिलुलितो नातिविलुप्तो ज्यायाः य आघातः संघर्षः, स एवाङ्कं चिह्नं किणो यत्र। मणिबन्धनविशेषणमित्याह। कीदृशमन्तस्तापैः करणैरत्यन्ततप्तैरश्रुभिर्विवर्णं मलिनीकृतम्। अश्रुसम्बन्धयोग्यतामाह। निशीति।

अनुसूया–सहि, रोअदि मे सुउमारो एसो पओओ। किं वा सउन्तला भणादि। (सखि, रोचते मे सुकुमारः एषः प्रयोगः। किं वा शकुन्तला भणति।)

शकुन्तला–णिओओ वि विअप्पीअदि। (नियोगोऽपि विकल्प्यते।)

प्रियंवदा–तेण हि अत्तणो उवण्णासाणुरूवं चिन्तेहि किं पि ललिदोवणिबन्धणं गीदअं। (तेन हि आत्मनः उपन्यासानुरूपं चिन्तय किमपि ललितोपनिबन्धनं गीतकम्।)

शकुन्तला–चिन्तइस्सं। किं तु अवहीरणाभीरुअं वेवदि मे हिअअं। (चिन्तयिष्यामि। किं तु अवधीरणाभीरुकं वेपते मे हृदयम्।)

राजा–

अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको
विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम्।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं
श्रियो दुरापः कथमीप्सितो भवेत्।। 3–16।।

अपि च–

अयं स यस्मात्प्रणयावधीरणाम्
अशङ्कनीयां करभोरु शङ्कसे।
उपस्थितस्त्वां प्रणयोत्सुको जनो
न रत्नमन्विष्यति, मृग्यते हि तत्।। 3–17।।

सख्यौ–अइ अत्तगुणावमाणिणि। को णाम संतावणिव्वावइत्तिअं सारदीअं जोण्हं आदवत्तेण वारइस्सदि। (अयि आत्मगुणावमानिनि, को नाम संतापनिर्वापयित्रीं शारदीयां ज्योत्स्नाम् आतपत्रेण वारयिष्यति।)

सखि, मदनलेखं इदानीमस्याः क्रियतां। स्मरभावसूचकं लिखनम् अनङ्गलेखः। नृपसविधगमनयोग्यतामाह–तमहं सुमनोगोपितं कृत्वा देवताशेषापदेशेन तस्य राज्ञो हस्तं प्रापयिष्यामि। सुमनः पुष्पाणि, शेषं निर्माल्यम्। सखि, रोचते मे सुकुमार एष प्रयोगः। किम्वा शकुन्तला भणति। नियोगो[33]ऽपि विकल्प्यते। हृदयङ्गम एवायं पक्षो मयेति भावः। तेन हि आत्मन उपन्यासानुरूपं चिन्तय ललितोपनिबन्धं ग(गी)तिः। उपन्यासस्तु वाङ्मुख इत्यमरः। चिन्तयिष्यामि। किन्त्वव-धीरणाभीरुकं नृपकृत-तिरस्कार-त्रस्तं मे हृदयम्।

अयं०।। (3-16) प्रार्थयिता जनः श्रियं लभेत वा न वा। लक्ष्म्या ईप्सितस्तु कथं दुर्लभो भवेत्, अपि तु नेत्यर्थः। दृष्टान्तोऽलंकारः। उक्ति पोषमाह।

अयं०।। (3-17) प्रणयः प्रेमा। अयं स प्रणयाकाङ्क्षी त्वामुपस्थित इत्यन्वयः। रत्नं कर्तृ, अयमपि दृष्टान्तः।।

---

33. वियोगोपि इति 4118 इत्यत्र पाठः।

शकुन्तला–(सस्मितम्) णिओइद म्हि। (नियोजितास्मि।) (इति चिन्तयति।)

राजा–स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि। तथा हि–

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः।
पुलकाचितेन कथयति मय्यनुरागं कपोलेन।। 3–18।।

शकुन्तला–हला, चिन्तिदा मए गीदिया। असंणिहिदाइं उण लेहसाहणाइं। (सखि, चिन्तिता मया गीतिका। असन्निहितानि पुनः लेखसाधनानि।)

प्रियंवदा–णं इमस्सिं सुओदरसिणिद्धे णलिणीवत्ते पत्तच्छेदभत्तीए णहेहिं आलिहीअदु। (नन्वस्मिन् शुकोदरस्निग्धे नलिनीपत्रे पत्रच्छेदभक्त्या नखैः आलिख्यताम्।)

शकुन्तला–सुणध दाव णं संगदत्था ण व त्ति। (शृणुतं तावत् सङ्गतार्था न वा इति)

उभे–अवहिदाओ म्ह। (अवहिते स्वः।)

शकुन्तला–(पठति)

तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण मअणो दिवा अ रत्तिं च।
णिक्किव दावइ वलिअं तुह हुत्तमणोरहाइ अङ्गाइं।। 3–19।।
(तव न जाने हृदयं मम पुनः मदनः दिवा च रात्रिञ्च।
निष्कृप तापयति बलीयः तव अभिमुखमनोरथायाः अङ्गानि)।। 3–19।।

राजा–(सहसोपसृत्य)

अयि०।। आत्मगुणावमानिनि, को नाम सन्तापनिर्वाणकारिणीं शारदीयां ज्योत्स्नाम् आतप{मा}पत्रेण वारयिष्यति। नियोजितास्मि। स्थाने युक्तार्थेऽव्ययम्।

उन्नमि०।। (3-18) उन्नमितेति चिन्तनौपयिकं रूपमुक्तम्। अनेन सात्त्विको भावः उन्नीयते। तदुक्तम् सङ्गमे स्मरणे चैव प्रियस्यालोकने तथा। हेतुत्रयं समासाद्य सात्त्विकः संप्रवर्तते।। ते च स्तम्भः स्वेद[34] इत्यादयः। क्रमनामकं काव्याङ्गमिदम्। तदुक्तम्–भावना लब्धोपलब्धिस्तु[35], क्रमोऽयं परिकीर्तित इति। सखि, चिन्तिता मया गीतिका असन्निहितानि पुनर्लेख-साधनानि। ननु एतस्मिन् शुकोदरस्निग्धे नलिनीपत्रे पत्रच्छेदभक्त्या वचनया नखेनालिख्यताम्। शृणुतं तावत् सङ्गतार्था न वेति। अवहि[ते] स्वः।

तुज्झ०।। (3-19) तव न जाने हृदयं मम पुनर्म्मदनो दिवा च रात्रिञ्च। निष्कृप तापयति बलीयस्त्वदभिमुख-मनोरथाया अङ्गानि।। हे निष्कृप,। हुत्तशब्दः प्राकृतेऽभिमुखे वर्तते। उत्तरोत्तराख्यमिदं लास्यम्। तदुक्तं भरतेन यदङ्गा तया स्वस्थे प्रिये सोल्लुण्ठभाषितम्। प्रयुज्यते नायिकया तद् भवेदुत्तरोत्तरम्।।

---

34. शङ्करटीकायाम्– "स्वेदः स्तम्भोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यश्रुविलयो इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः" इति।।

35. भावतत्त्वोपलब्धिस्तु इति 4118 इत्यत्र।

तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः।। 3–20।।

सख्यौ–(विलोक्य सहर्षमुत्थाय) साअदं जधासमीहिदफलस्स अविलम्विणो मणोरधस्स। (स्वागतं यथासमीहितफलस्याविलम्बिनः मनोरथस्य।)

(शकुन्तला उत्थातुमिच्छति)

राजा–सुन्दरि, अलमलमायासेन।

संदष्टकुसुमशयनान्याशुविमर्दितमृणालवलयानि।
गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति।। 3–21।।

शकुन्तला–(ससाध्वसमात्मगतम्) हिअअ। तधा उत्तम्मिअ इदाणिं ण किं पि पडिवज्जसि। (हृदय, तथा उत्तम्य इदानीं न किमपि प्रतिपद्यसे।)

अनुसूया–इदो सिलादलेक्कदेसं अणुगेण्हदु महाराओ। (इतः शिलातलैकदेशमनुगृह्णातु महाराजः।)

(शकुन्तला किंचिद् अपसरति।)

राजा–(उपविश्य) प्रियंवदे, कच्चित् सखीं वो नातिबाधते शरीरतापः।

प्रियंवदा–(सस्मितम्) लद्धोसदो संपदं उवसमं गमिस्सदि। महाराअ, दोण्णं पि वो अण्णोण्णाणुराओ पच्चक्खो। सहीसिणेहो उण पुणरुत्तवाइणिं करेदि मं। (लब्धौषधः साम्प्रतमुपशमनं गमिष्यति। महाराज, द्वयोरपि वाम् अन्योऽन्यानुरागः प्रत्यक्षः। सखीस्नेहः पुनः पुनरुक्तवादिनीं करोति माम्।)

राजा–भद्रे, न तत्परिहार्यं यतो विवक्षितमनुक्तमनुतापं जनयति।

प्रियंवदा–तेण हि सुणादुं अज्जो। (तेन हि शृणोत्वार्यः।)

राजा–अवहितोऽस्मि।

तपति०।। (3–20) हे कृशगात्रि, दहति भस्मसात् करोति। अनिशमित्युभयत्र प्रजिवस्यु-पमालङ्कारः। अर्थान्तरन्यास इति शङ्करः। विलोक्येति, पृष्ठतो दर्शनं यत्तल्लोकनमुदाहृतमिति भरत इति शङ्करः। स्वागतं कुशलं यथा सखी हितफलस्याविलम्बिनो मनोरथस्य भरत इत्यर्थः। मनोरथरूपो भवानेवेत्यर्थः।

सन्दष्ट०।। (3–21) सन्दष्टमाश्लिष्टं विवर्णितं म्लानीभूतं, विमर्दितञ्च पाठः। उपचारं सेवा। हृदय तथा उत्तम्य(मा?) इदानीं न किमपि प्रतिपद्यसे। इतः शिलातलैकदेशमलङ्करोतु, अनुगृह्णातु वा महाराजः। इत इत द्वितीयार्थे तसिः। कच्चित् कामप्रवेदन इत्यमरः। अक्षरं संघातनामकं लक्षणमिदम्। तदुक्तं वर्णनाक्षरसंघात–श्चित्रार्थैरक्षरैर्मितैरिति। लब्धौषध इदानीमुपशमं गमिष्यति।। महाभाग द्वयोरप्य-न्योन्यानुरागः प्रत्यक्षः। सखीस्नेहः पुनर्म्मां पुनरुक्तवादिनीं करोति। तेन हि शृणोतु महाभागः। आश्रम-वासिनो जनस्य राज्ञार्तिहरेण भवितव्यमिति। नन्वेष धर्म्मः। तेन हि इयं नः सखी त्वामुद्दिश्य भगवता मदनेनेदमवस्थानं प्रापिता।

प्रियंवदा–अस्समवासिणो जणस्स रण्णा अत्तिहरेण होदव्वं ति णं एसो धम्मो। (आश्रमवासिनः जनस्य राज्ञा आर्तिहरेण भवितव्यम् इति नन्वैषः धर्मः।)

राजा–अस्मात्परं किं तत्।

प्रियंवदा–तेण हि इअं णो पिअसही तुमं उद्दिसिअ भअवदा मअणेण इमं अवत्थन्तरं पाविदा। ता अरिहसि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलम्बिदुं। (तेन हि इयं नौ प्रियसखी त्वामुद्दिश्य भगवता मदनेनेदं अवस्थान्तरं प्रापिता। तदर्हसि अभ्युपपत्त्या जीवितम् अस्याः अवलम्बितुम्।)

राजा–भद्रे, साधारण एष प्रणयः। सर्वथानुगृहीतोऽस्मि।

शकुन्तला–(सप्रणयकोपस्मितम्) हला, अलं वो अन्तेउरविरहपज्जुस्सुएण राएसिणा उवरुद्धेण। (सखि, अलं वाम् अन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरुद्धेन।)

राजा–

इदमनन्यपरायणमन्यथा हृदयसन्निहिते हृदयं मम।
यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः।। 3–22।।

अनुसूया–महाराअ, बहुवल्लहा खु राआणो सुणीअन्ति। ता जधा इअं णो पिअसही बन्धुअणसोअणीआ ण भोदि तधा करिस्ससि।

(महाराज, बहुवल्लभाः खलु राजानः श्रूयन्ते। तद्यथा इयं नौ प्रियसखी बन्धुजन-शोचनीया न भवति तथा करिष्यसि।)

राजा–भद्रे, किं बहुना।

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्।। 3–23।।

उभे–णिव्वुदाओ म्ह। (निर्वृते स्वः।)

(शकुन्तला हर्षं सूचयति)

तदर्हस्याभ्युपपत्या जीवितमस्या अवलम्बितुम्। सखि, अलं युवयोरन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन राजर्षिणावरुद्धेन। विधृताख्यं प्रतिमुखार्द्द(ङ्ग)मिदम्। तदुक्तम्–कृतस्यान्नयनस्यादौ विधृतं तदुपरिग्रह इति।

इदमिति०।। (3-22) हे हृदयसन्निहिते चित्तारूढे! इदं मम चित्तं नान्याश्रितम्, यद्यन्य-थान्यपरायणं समर्थयसेऽवगच्छसि तदा मदनशरहतोऽपि पुनर्हतोऽस्मि। ततोऽप्यधिकदुःखादिति। संप्रत्यपि कामः प्रहरिष्यतीति भाव इत्यन्यः। महाभाग, बहुवल्लभाः खलु राजानः श्रूयन्ते। तद्यथेयं नः प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति, तथा करिष्यसि।

परि०।। (3-23) परिग्रहा दाराः, प्रतिष्ठा उत्कर्षहेतुः। समुद्रेति रसना मेखला सागरावच्छिन्ना सम्पूर्णेत्यर्थः। परिग्रहः कलत्रे चेति शाश्वतः।

प्रियंवदा–(जनान्तिकम्) अणुसूए, पेक्ख पेक्ख, मेहवादाहदं विअ गिम्हे मोरिं खणे खणे पच्चाअदजीविदं पिअसहिं। (अनुसूये, प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व मेघवाताहतामिव ग्रीष्मे मयूरीं क्षणे क्षणे प्रत्यागतजीवितां प्रियसखीम्।)

शकुन्तला–हला, मरिसावेध लोअवालं जं अम्हेहिं बीसद्धपलाविणीहिं उवआरादिक्कमेण भणिदं। (सख्यौ, मर्षयतं लोकपालं यदस्माभिः विस्रब्धप्रलापिनीभिः उपचारातिक्रमेण भणितम्।)

सख्यौ–(सस्मितम्) जेण तं मन्तिदं सो ज्जेव मरिसावेदु। अणस्स को अच्चओ। (येन तत् मन्त्रितं सः एव मर्षयतु। अन्यस्य कः अत्ययः।)

शकुन्तला–अरिहदि क्खु महाराओ इमं पच्चक्खवअणं विसोढुं। परोक्खं वा किं ण मन्तीअदि। (अर्हति खलु महाराजः इदं प्रत्यक्षवचनं विषोढुं परोक्षं वा किं न मन्त्र्यते।)

राजा–(सस्मितम्)

अपराधमिमं ततः सहिष्ये यदि रम्भोरु तवाङ्गसङ्गसृष्टे।
कुसुमास्तरणे क्लमापहं मे सुजनत्वादनुमन्यसेऽवकाशम्।। 3–24।।

प्रियंवदा–ण एत्तिकेण उण तुट्ठी भविस्सदि। (नैतावता तुष्टिः भविष्यति।)

शकुन्तला–(सरोषमिव) विरम दुल्ललिदे। एदावत्थं गदाए वि मए कीळसि। (विरम दुर्ललिते। एतदवस्थां गतयापि मया क्रीडसि।)

अनुसूया–(बहिर्विलोक्य) पिअंवदे, एसो तवस्सिमिअपोदओ इदो तदो दिण्णदिट्ठी णूणं मादरं पब्भट्ठं अणुसरेदि। ता संजोएमि दाव णं। (प्रियंवदे, एषः तपस्विमृगपोतकः इतोस्ततो दत्तदृष्टिः नूनं मातरं प्रभ्रष्यामनुसरति। तत्संयोजयामि तावदेनम्।)

कुव्याख्या तूपेक्षिता[36]। अनुनयोऽलङ्कारः। वचसा कर्मणा प्रीतिर्यस्मिन्ननुनयो हि स इति शङ्करः। निर्वृते स्वः। अनुसूये, प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व मेघवाताहतामिव ग्रीष्मे मयूरीं क्षणे क्षणे प्रत्यागत-जीवितां प्रियसखीम्। सखि, मर्षयतं लोकपालं यद् अस्माभिर्विश्रब्धप्रलापिनीभिरुपचारातिक्रमेण भणितम्। अतिक्रमो भणितो वा। येन तन्मन्त्रितं, स एव मर्षयतु। अन्यस्य कोऽत्ययो भयम्। अर्हति खलु महाराज इदं प्रत्यक्षं वचनं विषोढुम्। परोक्षवचनमिति शङ्करः। परोक्षं वा न मन्त्र्यते।

अपरा०।। (3-24) कुसुमेति पुष्पशय्यायां स्वजनत्वादात्मीयत्वादवकाशं स्थानम्। नैतावन्मात्रेण तुष्टि-र्भविष्यति। एतेनैव तुष्टो भविष्यतीति वा पाठः।।

विरम दुर्ललिते एतावदवस्थां गतयापि मया क्रीडसि। विदिताभिप्राया च। अथ च परिहाससमयोऽयं न भवति। यथा जीवामि तथैव कर्तुमुचितमिति भावः।।

विजनत्वं चिकीर्षुरनुसूया सव्याजमाह।

---

36. शङ्करेण स्वटीकायां समुद्ररशना इति शब्दस्य या व्याख्या विहिता सा नोचिता, न च ग्राह्येति चन्द्रशेखरस्याभिमतम्।

प्रियंवदा–हला चवलो क्खु एसो। णं णिवारिदुं एआइणी ण पारेसि। ता अहं पि सहाअत्तणं करइस्सं। (सखि, चपलः खल्वेषः। एनं निवारयितुमेकाकिनी न पारयसि। तदहमपि सहायत्वं करिष्यामि।) (इत्युभे प्रस्थिते)

शकुन्तला–इदो अण्णदो ण वो गन्तुं अणुमण्णे जदो असहाइणि म्हि। (इतः अन्यतः न वां गन्तुमनुमन्ये यतः असहायिन्यस्मि।)

उभे–(सस्मितम्) तुमं दाव असहाइणी जाए पुढवीणाधो समीवे वट्टदि। (त्वं तावत् असहायिनी यस्याः पृथिवीनाथः समीपे वर्तते।)

(इति निष्क्रान्ते)

शकुन्तला–कधं गदाओ पिअसहीओ। (कथं गते प्रिसख्यौ।)

राजा–(दिशोऽवलोक्य) सुन्दरि अलमावेगेन। नन्वयमाराधयिता जनस्ते सखीभूमौ वर्तते। तदुच्यताम्।

किं शीकरैः क्लमविमर्दिभिरार्द्रवातं
संचालयामि नलिनीदलतालवृन्तम्।
अङ्के निधाय चरणावुत पद्मताम्रौ
संवाहयामि करभोरु यथासुखं ते।। 3–25।।

प्रियम्वदे[37], एष तपस्वी मृगपोतक इतस्ततो दत्तदृष्टिर्नूनं मातरं प्रभ्रष्टाम्[38] अनुसरति, तत् संयोजयाम्येनम्। तपस्वी तापसे दीन इति कोषः। सखि, चपलः खल्वेष नूनं, निवारयितुमेकाकिनी न पारयि{ष}ष्यसि, तदहमपि सहायत्वं करिष्यामि, तवेत्यर्थः। इतोऽन्यतो युवयोर्गमनं नानुमन्ये, त(य)तोऽसहायिन्यस्मि। त्वम् इदानीमस्यसहायिनी?, यस्याः समीपे पृथिवीनाथो वर्तते। कथं गते प्रियसख्यौ। आवेगः सखीजनोत्कण्ठा।

किं शी०।। (3–25) शीकरोऽम्बुकणाः सृता इत्यमरः। सञ्चारयामि करोमीत्यर्थः। नलिनीदलमेव तालवृन्तं व्यजनम्। उत अथवा, पद्मेति पद्मवल्लोहितौ। एतेन पद्मिनी[त्व]मस्याः [ध्वनितम्]। तदुक्तं–

मुखहस्तौ च पादौ च पद्मतुल्यं बिभर्ति या।
सर्वतः पद्मगन्धाढ्या पद्मिनी सा प्रकीर्तितेति।।

संवाहयामि पीडयामि। हे करभोरु, करभः प्राण्यङ्गं, तदिव ऊरुर्यस्याः शुभलक्षणमिदम्। तदुक्तम्-हस्तिहस्त-निभै-र्वृत्तैरच्छाभैः करभोपमैः। प्राप्नुवन्त्युरुभिः शश्वत् स्त्रियः सुखम् अनङ्गजमिति।। व्यजनं तालवृन्तक-मित्यमरः। मालाख्यं लक्षणमिदम्। तदुक्तम् माला स्यान्यदभीष्टार्थं नानार्थप्रतिपादनमिति। न माननीये-ष्वात्मानमपराधयिष्यामि। अपरीति अनपगततीव्रातपः निर्वाण-मस्तङ्गमनेन निर्वृतो गजमज्जने इति मेदिनी।

---

37. प्रियमुदे इति 4117 इत्यत्र पाठः।
38. प्रदृष्टाम् इति 4117 इत्यत्र पाठः।

शकुन्तला–ण माणणीएसुं अत्ताणअं अवराहइस्सं।

(न माननीयेषु आत्मानमपराधयिष्यामि।) (अवस्थासदृशमुत्थाय प्रस्थिता)

राजा–(अवष्टभ्य) सुन्दरि, अपरिनिर्वाणो दिवसः। इयं च ते शरीरावस्था।

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणा।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधाकोमलैरङ्गैः।। 3–26।।

(इति धारयति)

शकुन्तला–मुञ्च मुञ्च। ण क्खु अत्तणो पहवामि। अधवा सहीमेत्तसरणा किं दाणिं एत्थ करइस्सं। (मुञ्च मुञ्च न खल्वात्मनः प्रभवामि। अथवा सखीमात्रशरणा किमिदानीमत्र करिष्यामि।)

राजा–धिक्। व्रीडितोऽस्मि।

शकुन्तला–ण क्खु अहं महाराअं भणामि। देव्वं उवालहामि। (न खल्वहं महाराजं भणामि। दैवमुपालभे।)

राजा–अनुकूलकारि दैवं किमुपालभ्यते।

शकुन्तला–कधं दाणिं ण उवालहिस्सं जं मं अत्तणो अणीसं परगुणेहिं लोहावेदी। (कथं इदानीं न उपालप्स्ये यत् मामात्मनः अनीशां परगुणैः लोभयति।)

राजा–(स्वगतम्)

अप्यौत्सुक्ये महति दयितप्रार्थनासु प्रतीपाः
काङ्क्षन्त्योऽपि व्यतिकरसुखं कातराः स्वाङ्गदाने।
आबाध्यन्ते न खलु मदनेनैव लब्धान्तरत्वाद्
आबाधन्ते मनसिजमपि क्षिप्तकालाः कुमार्यः।। 3–27।।

(शकुन्तला गच्छत्येव)

राजा–कथमात्मनः प्रियं न करिष्ये। (उपसृत्य पटान्तरमवलम्बते)

(3-26) इयं ग्रीष्मातपासहिष्णुः। परिबाधायां कोमलैर्दुःखासहैरित्यर्थः। अङ्गैर्विशिष्य।। मुञ्च मुञ्च, न खल्वात्मनः प्रभवामि। येन त्वन्मनोरथपूरणं क्रियते(क्रियेत) इति भावः। अथवा सखीमात्रशरणा किमिदानीम् अत्र करिष्यामीति। अतो यातुं देहीति बाह्यतः हृदयन्त्वभ्युपगम(तः?) एव। राज्ञः शैथिल्यशङ्कां निराचिकीर्षुराह–न खल्वहं महाभागं भणामि, दैवं प्राक्तनकर्म्म उपालभे निन्दामि। कथमिदानीं नोप(पा)लप्से, यदात्मनोऽनीशां मां परगुणैर्लोभयति।

अपि०।। (3-27) व्यतिकरः सम्पर्कः। मनसिजबाधे हेतुरयम्। अन्तरमवकाशः। अयं तु कुमारीबाधे हेतुः क्षिण्डे(प्ते)ति। अतिक्रान्तसुरतसमयाः। अन्योन्यं बाध्यबाधकतेत्यर्थः। काव्यलिङ्गमलंकारः।।

शकुन्तला–पोरव, रक्ख विणअं। इदो तदो इसीओ सञ्चरन्ति। (पौरव, रक्ष विनयम्। इतस्ततः ऋषयः सञ्चरन्ति।)

राजा–सुन्दरि, अलं गुरुजनाद्भयेन। न ते विदितधर्मा तत्रभवान् कण्वः खेदमुपयास्यति।

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्योऽथ मुनिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चानुमोदिताः।। 3–28।।

(दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि।

(शकुन्तलां हित्वा पुनस्तैरेव पदैः प्रतिनिवर्तते)

शकुन्तला–(पदान्तरे प्रतिनिवृत्य साङ्गभङ्गम्) पोरव, अणिच्छापूरओ वि संभासणमेत्तएण परिचिदो अअं जणो ण विसुमरिदव्वो।

(पौरव, अनिच्छापूरकोऽपि संभाषणमात्रकेण परिचितोऽयं जनः न विस्मर्तव्यः।)

राजा–सुन्दरि,

त्वं दूरमपि गच्छन्ती हृदयं न जहासि मे।
दिनावसानच्छायेव पुरोमूलं वनस्पतेः।। 3–29।।

शकुन्तला–(स्तोकमन्तरं गत्वा आत्मगतम्) हद्धी हद्धी। इमं सुणिअ ण मे चलणा पुरोमुहा पसरन्ति। भोदु। इमेहिं पज्जन्तकुरुवएहिं ओवारिदसरीरा पेक्खिस्सं दाव से भावाणुबन्धं। (हा धिक् हा धिक्। इदं श्रुत्वा न मे चरणौ पुरोमुखौ प्रसरतः। भवतु एभिः पर्यन्तकुरबकैः अपवारितशरीरा प्रेक्षिष्ये तावदस्य भावानुबन्धनम्।)

(तथा कृत्वा स्थिता)

राजा–कथमेवं प्रिये अनुरागैकरसं मामुत्सृज्य निरपेक्षैव गतासि।

अनिर्दयोपभोग्यस्य रूपस्य मृदुनः कथम्।
कठिनं खलु ते चेतः शिरीषस्येव बन्धनम्।। 3–30।।

शकुन्तला–एदं सुणिअ णत्थि मे विहवो गच्छिदुं। (एतत् श्रुत्वा नास्ति मे विभवः गन्तुम्।)

पौरव, रक्ष विनयम्। इतस्तत ऋषयः सञ्चरन्ति। अत्रभवान् पूज्यः। गान्ध०।। (3–28) इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च। गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः।। इति मनुः। आख्याननामा नाट्यालङ्कारोऽयम्। तदुक्तम्–आख्यानं यत्र दृष्टान्तात् पुरावृत्तस्य कीर्तनमिति। प्रकाशं प्रकटं यथा स्यात्। प्रकाशश्चत्वरं, प्रकाशश्चत्वरे भासीति नानार्थ इति शङ्करः। पौरव, अनिच्छापूर्व(र)कोऽपि सम्भाषणमात्रेण परिचितोऽयं जनो न विस्मर्तव्यः। त्वं दूरमिति०।। (3–29) पुरोमूलं पूर्ववदिक्सम्बन्धिमूलं। पश्चिमदिक्सम्बन्धिमूलस्य च्छायं च्छायया परित्यागात्। वृक्षमात्रे वनस्पतिरिति कोषः। हा धिक् एतच्छ्रुत्वा न मे चरणौ पुरोमुखौ प्रसरतः। भवत(तु) एतैः पर्यन्तकुरबकैर्निकटबाणकुसुमैरम्लान–पुष्पैर्वापवारितशरीरा प्रेक्षिष्ये तावदस्य भावानुबन्धम्। अनि०।।

राजा–सम्प्रति प्रियाशून्ये किमस्मिन्करोमि। (अग्रतोऽवलोक्य) हन्त, व्याहतं गमनम्।

मणिबन्धनगलितमिदं संक्रान्तोशीरपरिमलं तस्याः।
हृदयस्य निगडमिव मे मृणालवलयं स्थितं पुरतः।। 3–31।।

(सबहुमानमादत्ते)

शकुन्तला–(हस्तं विलोक्य) अम्भो, दोव्वल्लसिढिलदाए परिब्भट्ठं पि मुणालवलअं मए ण परिण्णादं। (अम्भो, दौर्बल्यशिथिलतया परिभ्रष्टमपि मृणालवलयं मया न परिज्ञातम्।)

राजा–(मृणालवलयमुरसि निक्षिप्य) अहो स्पर्शः।

अनेन लीलाभरणेन ते प्रिये
विहाय कान्तं भुजमत्र तिष्ठता।
जनः समाश्वासित एष दुःखभाग्
अचेतनेनापि सता न तु त्वया।। 3–32।।

शकुन्तला–अदो वरं असमत्थ म्हि विलम्बिदुं। भोदु। एदेण ज्जेव अवदेसेण अत्ताणअं दंसइस्सं। (अतः परमसमर्थास्मि विलम्बितुम्। भवतु। एतेन तव अपदेशेन आत्मानं दर्शयिष्यामि।) (इत्युपसर्पति)

राजा–(दृष्ट्वा सहर्षम्) अये, जीवितेश्वरी मे प्राप्ता। परिदेवितानन्तरं प्रसादेनोपकर्तव्योऽस्मि खलु दैवस्य।

पिपासाक्षामकण्ठेन याचितं चाम्बु पक्षिणा।
नवमेघोज्झिता चास्य धारा निपतिता मुखे।। 3–33।।

(3-30) रूपस्य शरीरस्य बन्धनं वृन्तम्। रूपं स्वभावे सौन्दर्य्ये नालके पशुशब्दयोः। ग्रन्थावृत्तौ नाटकादावाकारश्लोकयोरपीति मेदिनी। इदं श्रुत्वा नास्ति मे विभवः सामर्थ्यं गन्तुम्। मणि०।। (3-31) मणिबन्धनं करमूलम्। उषीरं वीरणमूलम्। निगडमिव बन्धशृङ्खलमिव। अम्मो विस्मये। दौर्बल्यशिथिलतया भ्रष्टमपि मृणाल-वलयं न मया परिज्ञातम्।

अनेन०।। (3-32) कान्तमपि भुजं त्यक्त्वात्रोरसि। अतः परमसमर्थौस्मि विलम्बितुम्। भवत्वनेनैवापदेशेन व्याजेनात्मानं दर्शयिष्यामि।

पिपा०।। (3-33) क्षामं क्षीणं पक्षिणां चातकेनार्थात्। आर्य, अर्द्धपथे स्मृत्वा शतस्य हस्तभ्रंशिनो[39] मृणालवलयस्य कृते निमित्तमागतास्मि। आख्यातमिव मे हृदयेन त्वया गृहीतमिति, तस्मान्निक्षिपैतत्। अदाने दोषमाह-मा[म् आ] त्मानञ्च मुनिजनेषु प्रकाशयिष्यसि। वलयशून्यं मदीयं करं विलोक्य मुनिजनानां वितर्को भावीति प्रकाशसम्भावनेति शङ्करः, तद्विचार्य्यम्। अभिसन्धिनाभिप्रायेण प्रत्यर्पयामि। केन पुनः। का गतिरुपायः भवत्वेवन्तावत्।

---

39. हस्तध्वंसिनो इति 4117 इत्यत्र पाठः।

शकुन्तला–(राज्ञः प्रमुखे स्थिता) अज्ज, अद्धपधे सुमरिअ एदस्स हत्थब्भंसिणो मुणालवलअस्स किदे पडिणिउत्त म्हि। आचक्खिदं विअ मे हिअएण तए गहिदं ति। ता णिक्खिव एदं, मा मं अत्ताणअं च मुणिअणेसुं पआसइस्ससि। (आर्य, अर्धपथे स्मृत्वा एतस्य हस्तभ्रंशिनः मृणालवलयस्य कृते प्रतिनिवृत्तास्मि। आख्यातमिव मे हृदयेन त्वया गृहीतमिति। तत् निक्षिप एतत्, मा मामात्मानं च मुनिजनेषु प्रकाशयिष्यसि।)

राजा–एकेनाभिसन्धिना प्रत्यर्पयामि।

शकुन्तला–केण उण। (केन पुनः।)

राजा–यदिदमहमेव यथास्थानं निवेशयामि।

शकुन्तला–(आत्मगतम्) का गदी। (का गतिः।) (इत्युपसर्पति)

राजा–इतः शिलापट्टकमेव संश्रयाव। (इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ)

राजा–(शकुन्तलाया हस्तमादाय) अहो स्पर्शः।

हरकोपाग्निदग्धस्य, दैवेनामृतवर्षिणा।
प्ररोहः संभृतो भूयः, किं स्वित्कामतरोरयम्।। 3-34।।

शकुन्तला–(स्पर्शं रूपयित्वा) तुवरदु तुवरदु अज्जउत्तो। (त्वरतां त्वरतामार्यपुत्रः।)

राजा–(सहर्षमात्मगतम्) इदानीमस्मि विश्वस्तः। भर्तुराभाषणपदमेतत्। (प्रकाशम्) सुन्दरि, नातिश्लिष्टः सन्धिरस्य मृणालवलयस्य। यदि तेऽभिप्रेतम् अन्यथा घटयिष्यामि।

शकुन्तला–(स्मितं कृत्वा) जधा दे रोअदि। (यथा ते रोचते।)

राजा–(सव्याजं विलम्ब्य प्रतिमुच्य) सुन्दरि। दृश्यताम्।

अयं स ते श्यामलतामनोहरं
विशेषशोभार्थमिवोज्झिताम्बरः ।
मृणालरूपेण नवो निशाकरः
करं समेत्योभयकोटिमाश्रितः।। 3-35।।

हर०।। (3-34) दैवेनादृष्टेन प्ररोहोऽङ्कुरः। स्विच्छब्दो वितर्के। काम एव भवति। त्वरताम् त्वरतो(ता)म् [आ]र्य्यपुत्रः। यथा ते रोचते। प्रतिमुच्य परिधाप्य। आयुक्तः प्रतिमुक्तश्च पिनद्धश्चापि नद्धवत् इत्यमरः।

अयं०।। (3-35) श्यामलता लताभेदः। विशेषेति एतेनाकाशचन्द्रमसोऽप्यस्या हस्तमृणालस्य सौन्दर्यमुक्तम्। करं ममैत्य प्राप्य उभयकोटिमाश्रितः। उभयात्र भागेन मिलित्वा मण्डलतां यात इत्यर्थः। नभसि कोटिद्वय-मिलनशोभा कदाचित्की, इह तु सार्व्वत्रिकी स्यादि(दिति) भावः।

न तु तावदुत्प्रेक्ष्ये। पवनोत्कम्पिना कर्णोत्पलरेणुना कलुषीकृता मे दृष्टिः। ततोऽनुकम्पिता भवेयम्। किं पुनस्तेन विश्वसिमि। तत् कुर्व्वंश्चेद् अन्यदेव किमपि कुर्य्यास्तदा किं करोमीति भावः।

शकुन्तला–ण दाव णं पेक्खामि। पवणुक्कम्पिणा कण्णुप्पलरेणुणा कलुसीकिदा मे दिट्ठी। (न तावदेनं प्रेक्षे। पवनोत्कम्पिना कर्णोत्पलरेणुना कलुषीकृता मे दृष्टिः।)

राजा–(सस्मितम्) यदि मन्यसे अहमेनां वदनमारुतेन विशदां करिष्ये।

शकुन्तला–तदो अणुकम्पिदा भवे। किं उण ण दे वीससामि। (ततः अनुकम्पिता भवेयम्। किं पुनः न ते विश्वसिमि।)

राजा–मा मैवम्। नवो हि परिजनः सेव्यानामादेशात्परं न वर्तते।

शकुन्तला–अअं जेव अच्चुवआरो अविस्सासजणओ। (अयमेव अत्युपचारः अविश्वासजनकः।)

राजा–(स्वगतम्) नाहमेतं रमणीयं सेवावकाशमात्मनः शिथिलयिष्ये। (इति मुखम् उन्नमयितुं प्रवृत्तः। शकुन्तला प्रतिषेधं रूपयन्ती विरमति।)

राजा–अयि मदिरेक्षणे, अलमस्मदविनयाशङ्कया। (शकुन्तला किंचिद् दृष्ट्वावनतमुखी तिष्ठति)

राजा–(अङ्गुलीभ्यां मुखमुन्नमय्यात्मगतम्)

चारुणा स्फुरितेनायमपरिक्षतकोमलः।
पिपासतो ममानुज्ञां ददातीव प्रियाधरः।। 3–36।।

शकुन्तला–पडिण्णादमन्थरो विअ अज्जउत्तो। (प्रतिज्ञामन्थरः इव आर्यपुत्रः।)

राजा–सुन्दरि, कर्णोत्पलसन्निकर्षाद् ईक्षणसादृश्यमूढोऽस्मि।

(इति मुखमारुतेन चक्षुः सेवते।)

शकुन्तला–भोदु। पइदित्थदंसण म्हि संवुत्ता। लज्जामि उण अणुवआरिणी पिअआरिणो अज्जउत्तस्स। (भवतु, प्रकृतिस्थदर्शनास्मि संवृत्ता। लज्जे पुनः अनुपकारिणी प्रियकारिणः आर्यपुत्रस्य।)

अयमेवात्यादरोऽविश्वासजनकः। प्रतिषेधं ना-ने-त्यादि। अवनतेति लज्जितेयं दृष्टिः। यदाह भरतः–किञ्चित् कुञ्चितपक्ष्माग्रापतितोर्ध्वपुटक्रिया। त्रपाधोमुखभावा च लज्जिता दृष्टिरिष्यते इति।। चारुणेति०।। (3-36) स्फुरितं कम्पः। अधरस्फुरणं वल्लभसम्भोग चिह्नमिति केचित्। आकाङ्क्षा नाट्यालंकारोऽयम्। तदुक्तम्–आकाङ्क्षा रमणीयत्वाद्वस्तुनो या मा स्पृशतु सेति। प्रतिज्ञामन्थर इवार्य्यपुत्रः। मुखमारुतेन दृष्टिरेव विशदीकार्य्या। तत् कथमधरे मुखनिवेशावष्टम्भ इति भावः। कौ(कै)शिकी भेदोऽयं नर्म्मस्फुटः। यदाह–नायिकायाश्च नेतुश्च यदेकान्ते परस्परम्। सम्भोगानुमतं वाक्यं नर्म्मस्फोटः स कथ्यते।। इति शङ्करः। भवतु प्रकृतिस्थदर्शनास्मि संवृत्ता। लज्जे पुनरनुपकारिणी उपकारिणः प्रियकारिणो वा आर्य्यपुत्रस्य।

इदं०।। (3-37) ननु निश्चये, न त्विति शङ्करः। तेनालिङ्गनमपि देहीति भाव इति व्याचष्टे

राजा–सुन्दरि, किमन्यत्।

इदमप्युपकृतिपक्षे सुरभि मुखं ते मया यदाघ्रातम्।
ननु कमलस्य मधुकरः सन्तुष्यति गन्धमात्रेण।। 3–37।।

शकुन्तला–असंतोसे उण किं करेदि। (असंतोषे पुनः किं करोति।)

राजा–इदमिदम्। (इति व्यवसितो, वक्त्रं ढौकते।)

(नेपथ्ये)

चक्कवाअवहु। आमन्तेहि सहअरं। उवत्थिदा रअणी।

(चक्रवाकवधु, आमन्त्रय सहचरम्, उपस्थिता रजनी।)

शकुन्तला–(कर्णं दत्त्वा ससंभ्रमम्) अज्जउत्त। एसा खु तादकण्णस्स धम्मबहिणी कणीअसि अज्जा गोदमी मम वुत्तन्तोवलम्भणणिमित्तं आअदा। ता विडवन्तरिदो होहि। (आर्यपुत्र, एषा खलु मम वृत्तान्तोपलम्भननिमित्तम् आर्या गौतमी आगता। तत्विटपान्तरितः भव।)

राजा–तथा। (इत्येकान्ते स्थितः)

प्रविश्य पात्रहस्ता **गौतमी**–जाद, इदं सन्तिउदअं। (दृष्ट्वा समुत्थाप्य) असुत्था इध देवदासहाइणी चिट्ठसि। (जात, इदं शान्त्युदकम्। अस्वस्था इह देवतासहायिनी तिष्ठसि।)

शकुन्तला–इदाणिं जेव पिअंवदाअणुसूआओ मालिणिं ओदिण्णाओ। (इदानीं एव प्रियंवदानुसूये मालिनीमवतीर्णे।)

दृष्टान्तः। शकुन्तलापि सम्भोगाय सव्याजमाह। असन्तोषे पुनः किं करोति। मधुकर इत्यर्थात्। इदमित्यधरपानाद्यभिनयं कुर्वन्। शकुन्तला वक्त्रं ढौकते गूहति। कौ(कै)शिकीवृत्तङ्ग नर्म्मभेदोऽयं शृङ्गारहास्यविहितः। तदुक्तम्–वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म्म इष्टजनावर्तनं कृत्तच्च त्रिविधं मतम्। विदूषा हास्येन केवलेन तु विहित शृङ्गारभीतियुक्तेन। शङ्करस्तु "इदम्" इति व्यवसितो यत्नं कर्तुमुद्यत इत्यर्थः। शकुन्तला कर्त्री वक्त्रं ढौकते, पिधत्त इत्यर्थः। न तु चुम्बतीत्यर्थः। आ न मे "कथमभ्युन्नमितं न चुम्बितं तदि"ति विरोधात्। एवञ्च भरते साक्षाच्चुम्बननिषेधाच्च। तदुक्तम् न कार्यं शयनं रङ्गे नाट्ययोगमपेक्षता। केनचिद्व्यपदेशेन तद्विच्छेदञ्च कारयेत्।। यदि स्वपेद् अर्थवशात् पुरुषः सहितः स्त्रिया। न तत्र चुम्बनं कुर्य्यान्निर्व्याजालिङ्गनं न चेति।। नेपथ्य इति। चूलिकाख्यो[र्थो]पक्षेपकभेदः। चक्रवाकवधूरामन्त्रयति सहचरं "उपस्थिता रजनी"। अथ च प्रकृतविघ्नकारित्वाद् रजनीव रजनी गौतमी। तत्प्रवेश(शः) सख्यौ सूचितवत्यौ।। ससंभ्रममिति संभ्रमं त्रयम् इच्छन्ति, भयमुद्वेगमादरमिति कोषः। गौतमीजाने(ज्ञाने)[40] भयं, वल्लभा[ला]पो दुर्लभ इत्युद्वेगः।

उपजीव्यागमनमित्यादरः। आर्य्यपुत्र, एषा खलु तातकण्वस्य धर्म्मभगिनी क{र}णीयसीवार्य्या गौतमी मम प्रवृत्तान्तोपलम्भननिमित्तमागता, तद्विटपान्तरितो भव। जाते पुत्रि, जातशब्देनापत्यमात्रमुच्यते।

---

40. गौतमीजाने इति 4118 इत्यत्र।

गौतमी–(शान्त्युदकेन शकुन्तलामभ्युक्ष्य) जाद, णिराबाधा मे चिरं जीव। अवि लहुसंतावाइं दे अङ्गाइं। (जात, निराबाधा मे चिरंजीव। अपि लघुसन्तापानि ते अङ्गानि।) (इति स्पृशति)

शकुन्तला–अज्जे, अत्थि विसेसो। (आर्ये, अस्ति विशेषः।)

गौतमी–परिणदो दिअसो। ता एहि। उडअं जेव गच्छम्ह। (परिणतः दिवसः। तदेहि। उटजमेव गच्छावः।)

शकुन्तला–(कथं चिदुत्थायात्मगतम्) हिअअ, पढमं जेव सुहोवणदे मणोरधे कालहरणं करेसि। संपदं अणुभव दाव दे किदं। (पदान्तरे प्रतिनिवृत्य, प्रकाशम्) लदाहरअ संतावहारअ। आमन्तेमि तुमं पुणो वि परिभोअत्थं। (हृदय, प्रथममेव सुखोपनते मनोरथे कालहरणं करोषि। साम्प्रतमनुभव तावत्ते कृतम्। लतागृहक, सन्तापहरक। आमन्त्रयामि त्वां पुनः अपि परिभोगार्थम्।)

(इति निष्क्रान्ते)

राजा–(पूर्वस्थानमुपेत्य सनिःश्वासम्) अहो, विघ्नवत्यः प्रार्थितसिद्धयः।

मुहुरङ्गुलिसंवृत्ताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं, न चुम्बितं तत्।। 3-38।।

क्व नु खलु सम्प्रति गच्छामि। अथवा इहैव प्रियापरिभुक्ते लतामण्डपे मुहूर्तं तिष्ठामि।

जाते इति शङ्करः। इदं शान्त्युदकम्, शान्तिर्भद्रं, तदर्थमुदकम्। असुस्थात्र देवतासहायिनी एकाकिनी तिष्ठसि। इदानीमेव प्रियमु(यंव)दानुसूये मालिनीमवतीर्णे।

"एवस्य जे{ज}व"ति[41] प्राकृतसूत्रादन्तस्त्वावदीय पिण्ड इत्यवधेयम्। निराधारा, त्वं चिरं जीव। अपि लघु सन्तापानि तेऽङ्गानि। अपि प्रश्ने। आर्य्य अस्ति विशेषः। परिणतो दिवसस्तदेहि उटजं गच्छावः। हृदय प्रथमं सुखोपनते मनोरथे कालहरणं करोषि। कृतवदसि साम्प्रतमनुभव तावत्ते कृतं, स्वयं कृतमनुभूयतामित्यर्थः।

मुहुः०।। (3-38) प्रतिषेधाक्षरं प्रतिषेधमक्षरं, "न ममाधरम् उन्नमये"त्यादि वर्णस्तेन यद्वैक्लव्यम्। तेनाभिरामं[42], बालास्वभावात् प्रतिषेधाक्षरं प्रमदास्वभावाच्च तदभिधाने क्लेशात् ब्रूम इत्यन्ये। अंसविवर्ति तिर्यक्कृतं प्रशस्तपक्ष्मयुक्तम् अक्षि यस्याः तदपि निर्वचनीयम्।

दर्पणकारस्तु "न चुम्बितं त्वि"ति पठित्वा, "तु" इति निपातस्यानुतापव्यञ्जकत्वमित्याह। पक्ष्मलत्वञ्च चक्षुषः शुभावहम्। तदुक्तं भविष्ये–नीलोत्पलदलप्रख्यै–राताम्रैश्चारु पक्ष्मभिः। वनितानयनैरेभि–र्भाग्यसौभाग्यभागिनीति।

तस्याः०।। (3-39) शरीरेति देह संघुष्टा बिसाभरणं मृणालवलयमित्यनेन प्रकारेणासक्ती भवदीक्षणं यस्य। वह०।। मम मूढं कर्तु व्याकर्तव्यज्ञानशून्यं चित्तम् इति गणयति चिन्तयति यदा

41. सूत्रमिदं वररुचिप्रणीते प्राकृतप्रकाशे 12-13 क्रमांके दृश्यते।
42. तेनाभिभवायं इति 4117 इत्यत्र।

(सर्वतो विलोक्य)

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
कान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः।
हस्ताद्भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहादीशोऽस्मि शून्यादपि।। 3–39।।

(विचिन्त्य) अहो धिक्, असम्यक् चेष्टितं प्रियां समासाद्य कालहरणं कुर्वता मया। तदिदानीं–

रहः प्रत्यासत्तिं यदि सुवदना यास्यति पुनः-
र्न कालं हास्यामि प्रकृतिदुरवापा हि विधयः।
इति क्लिष्टं विघ्नैर्गणयति च मे मूढहृदयं
प्रियायाः प्रत्यक्षं किमपि च तथा कातरमिव।। 3–40।।

(नेपथ्ये) भो भो राजन्।

सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते
वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रकीर्णाः।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः
सन्ध्याभ्रकूटकपिशाः पिशिताशनानाम्।। 3–41।।

राजा–(आकर्ण्य सावष्टम्भम्) भो भोस्तपस्विनः। मा भैष्ट। अयमहमागतोऽस्मि।

(इति निष्क्रान्तः)

।। इति तृतीयोऽङ्कः।।

विघ्नैर्व्याकुलं सत् प्रियायाः शकुन्तलायाः प्रत्यक्षं संमुखे किमप्यनिर्वाच्यं तथावृत्तं परिभोगानुभवप्रकारेण कातरमिव[43]। चिन्तामेवाह। यदि०।। (3–40) सा मुखी रहो निर्जने, पुनः प्रत्यासत्तिं सान्निध्यं यास्यति, तदा न कालं हास्यामि, न विलम्बं करिष्यामीत्यर्थः। शङ्करस्तु कालं सम्भोगसमयं न त्यक्ष्यामीत्याह। हि यस्मात् विषयाः स्रक्–चन्दन–वनितादयः स्वभावदुर्लभा भवन्ति। किमिव हि पाठे इवशब्दो वाक्यालङ्कारे। प्रियाप्रत्यक्षं। पश्चात्तापनामा नाट्यालङ्कारोऽयम्। तदुक्तं–पश्चात्तापोऽनुतापश्च कृत्वा वाक्यान्तरं भवेदिति।

सायं०।। (3–41) सायन्तने सन्ध्याकालीने सवनकर्मणि यज्ञक्रियायां संप्रवृत्ते कर्तुमारब्धे, आदिकर्मणि क्तः"। वेदीं० परितः वेद्याः सर्वत्रेत्यर्थः। अभितः परितः इत्यादिना षष्ठ्यर्थे द्वितीया। बहुधानेकप्रकारेण चरन्ति भ्रमन्ति सन्ध्याकाल–मेघसमूह पिङ्गलानां च्छायाः। सवनं त्वध्वरे स्नाने इति मेदिनी। अनेन–पराद्भाव(?)भावः।। ।।

।। इति तृतीयोऽङ्कः।।

—•—

---

43. 4117 इत्यत्र शतरमिव इति पठ्यते।

।। चतुर्थोऽङ्कः ।।

(ततः प्रविशतः कुसुमावचयनमभिनयन्त्यौ सख्यौ)

अनुसूया–पिअंवदे, जइ वि गन्धव्वेण विवाहेण णिव्वुत्तकल्लाणा पिअसही सउन्तला अणुरूवभत्तुभाइणी संवुत्ता तधा वि ण मे णिव्वुदं हिअअं। (प्रियंवदे, यद्यपि गान्धर्वेण विवाहेन निर्वृत्तकल्याणा प्रियसखी शकुन्तला अनुरूपभर्तृभागिनी संवृत्ता, तथापि न मे निर्वृतं हृदयम्।)

प्रियंवदा–कधं विअ। (कथमिव।)

अनुसूया–अज्ज सो राएसी इट्ठिपरिसमत्तीए इसीहिं पेसिदो अत्तणो णअरं पविसिअ अन्तेउरिआसदसमागदो इमं जणं सुमरेदि ण व त्ति। (अद्य सः राजर्षिः इष्टिसमाप्तौ ऋषिभिः प्रेषितः आत्मनः नगरं प्रविश्यान्तःपुरिकाशतसमागतः इमं जनं स्मरति न वा इति।)

प्रियंवदा–एत्थ दाव वीसत्था होहि। ण हि तादिसा आकिदिविसेसा गुणविरोहिणो होन्ति। एत्तिकं उण चिन्तणीअं। तादो तित्थजत्तादो पडिणिउत्तो इमं वुत्तन्तं सुणिअ ण आणे किं पडिवज्जिस्सदि त्ति। (अत्र तावत् विश्वस्ता भव। न हि तादृशाः आकृतिविशेषाः गुणविरोधिनः भवन्ति। एतावत् पुनः चिन्तनीयम्। तातः तीर्थयात्रातः प्रतिनिवृत्तः इमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यते इति।)

अनुसूया–जधा मं पुच्छसि तधा अहिमदं तादस्स। (यथा मां पृच्छसि तथा अभिमतं तातस्य।)

प्रियंवदा–कधं विअ। (कथं इव।)

अनुसूया–किं अण्णं। वरस्स अणुरुवस्स कण्णआ पडिवादणीअअ त्ति अअं दाव पढमो संकप्पो। तं जइ देव्वं जेव सम्पादेदि णं कदत्थो गुरुअणो। (किमन्यत्। वरस्य अनुरूपस्य कन्यका प्रतिपादनीया इति अयं तावत् प्रथमः सङ्कल्पः। तं यदि दैवमेव सम्पादयति, ननु कृतार्थः गुरुजनः।)

।। चतुर्थोऽङ्कः ।।

प्रियंवदे[44], यद्यपि गान्धर्वेण विवाहेन निवृत्तकल्याणा प्रियसखी शकुन्तलानुरूप-भर्तृभगिनी संवृत्ता, तथापि न निर्वृतं मे हृदयम्। कथमिव किमिति वा। अद्य सा राजर्षिरिष्टिपरिसमाप्तौ ऋषिभिः प्रेषितमात्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरिकाशतसमागमादिमं जनं स्मरति न वेति। अन्तःपुरशब्देन कलत्रमुच्यते।

अत्र तावद् विश्रब्धा। निःशङ्का भव। न हि तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति। एतावत् पुनश्चिन्तनीयं तातस्तीर्थयात्रातः प्रतिनिवृत्तः, इमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यते इति। यदि मां पृच्छसि तदानुमतमिदं तातस्य भविष्यति। कथमिव। किमन्यद् अनुरूपाय कन्या प्रतिपादनीयेति अयं तातसङ्कल्पः। तं यदि दैवमेव सम्पादयति, ननु कृतार्थो गुरुजनः।

---

44. मातृका 4117 इत्यत्र प्रियमुदे इति पठ्यते।

प्रियंवदा–एवं णेदं। (पुष्पभाजनं विलोक्य) सहि, अवचिदाइं बलिकम्मपज्जत्ताइं खु कुसुमाइं। (एवं नु एतत्। सखि, अवचितानि बलिकर्मपर्याप्तानि खलु कुसुमानि।)

अनुसूया–णं सउन्तलाए वि सोहग्गदेवदाओ अच्चिदव्वाओ। ता अवराइं पि अवचिणम्ह। (ननु शकुन्तलया अपि सौभाग्यदेवताः अर्चितव्याः। तत् अपराण्यपि अवचिनवाव।)

प्रियंवदा–जुज्जदि। (युज्यते।) (उभे तदेव कर्माभिनयतः।)

(नेपथ्ये) अहमहं भोः .....।

अनुसूया–(कर्णं दत्त्वा) सहि, अदिधिणा विअ णिवेदिदं। (सखि, अतिथिना इव निवेदितम्।)

प्रियंवदा–णं उडए संणिहिदा सउन्तला। (विचिन्त्य) आं अज्ज उण असंणिहिदा हिअएण। तेण हि भोदु एत्तिकेहिं कुसुमेहिं पओअणं। (ननु उटजे सन्निहिता शकुन्तला। आमद्य पुनः असन्निहिता हृदयेन। तेन हि भवतु एतावद्भिः कुसुमैः प्रयोजनम्।) (इति प्रस्थिते)

(पुनर्नेपथ्ये) आः .... कथमतिथिं मां परिभवसि।

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोनिधिं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।। 4-1।।

(उभे श्रुत्वा विषण्णे)

प्रियंवदा–हद्धी हद्धी। तं जेव संवुत्तं। कस्सिं पि पूआरिहे अवरद्धा सुण्णहिअआ पिअसही। (हा धिक् हा धिक्, तदेव संवृत्तम्। कस्मिन्नपि पूजार्हे अपराद्धा शून्यहृदया प्रियसखी।)

अनुसूया–(पुरोऽवलोक्य) सहि, ण क्खु जस्सिं कस्सिं वा। एसो दुव्वासा सुलहकोवो महेसी। तधा अअं विरलपादुद्धाराए गदीए पडिणिउत्तो।

एवमेतत् सखि, अवचितानि[45] बलिकर्म[46] पर्याप्तानि कुसुमानि[47]। इदानीं गन्तुम् अर्हसीति भावः। ननु शकुन्तलया सौभाग्यदेवता अर्चनीया, तदपरान्यवचिन्ववः। युज्यते। अतिथिनेव निवेदितम्। ननूटजे सन्निहिता शकुन्तला। आं स्मृतौ। अद्य पुनरसन्निहिता हृदयेन, तेन हि भवत्वेतैः कुसुमैः प्रयोजनम्।।

विचि०।। (4-1) यत् स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा। विरुद्धं तत् परित्याज्यम्

---

45. मातृका 4118 इत्यत्र अन्वचितानि इति पठ्यते।
46. मातृका 4117 इत्यत्र वणिककर्म० इति पठ्यते।
47. मातृका 4117 इत्यत्र दस्वमानि इति पठ्यते।

(सखि, न खलु यस्मिन् कस्मिन्वा। एषः दुर्वासा सुलभकोपो महर्षिः। तथा अयं विरलपादोद्धारया गत्या प्रतिनिवृत्तः।)

प्रियंवदा–को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहवदि। ता गच्छ। पादेसुं पडिअ णिअत्तावेहि जाव से अहं पि अग्धोदअं उवकप्पेमि। (कोऽन्यः हुतवहाद् दग्धुम् प्रभवति। तद्गच्छ। पादयोः पतित्वा निवर्तय यावद् अस्याहमप्यर्घोदकं उपकल्पयामि।)

अनुसूया–तधा। (तथा।) (इति निष्क्रान्ता)

प्रियंवदा–(पदान्तरे स्खलितं रूपयन्ती) अम्मो, आवेअक्खलिदाए पब्भट्ठं मे अग्गहत्थादो पुप्फभाअणं। (अम्मो, आवेगस्खलितायाः प्रभ्रष्टं मे अग्रहस्तात् पुष्पभाजनम्।)

(नाट्येन पुष्पावचयं विधत्ते।)

अनुसूया–(प्रविश्य) सहि, सरीरी विअ कोवो कस्स सो अणुणअं गेण्हदि। किं चि उण साणुकम्पो किदो। (सखि, शरीरी इव कोपः, कस्य सः अनुनयं गृह्णाति। किंचित् पुनः सानुकम्पः कृतः।)

प्रियंवदा–एदं जेव तस्सिं बहुदरं। ता कधेहि। (एतदेव तस्मिन् बहुतरम्। तत्कथय।)

अनुसूया–जदो णिअत्तिदुं णेच्छदि तदो पादेसुं पणमिअ विण्णाविदो मए। भअवं। पढमभत्तिं अवेक्खिअ अज्ज तुह अविण्णादपहावपरमत्थस्स दुहिदाजणस्स भअवदा अअं अवराहो मरिसिदव्वो त्ति। (यतः निवर्तितुं नेच्छति ततः पादयोः प्रणम्य विज्ञापितः मया। भगवन्, प्रथमभक्तिमवेक्ष्य अद्य तव अविज्ञातप्रभावपरमार्थस्य दुहितृजनस्य भगवता अयमपराधः मर्षितव्यः इति।)

अन्यथा वा प्रकल्पयेदिति भरतनियमस्तेनात्र दुःस्व(ष)न्तस्य शकुन्तलाविस्मरणं कृत्रिममप्यनुचितं इत्यन्यथाकृतम्। शङ्करस्तु संविधान-नामाख्य-नाट्यालंकारोऽयम्। तदुक्तम्-

रसभावानुकूलाय कथासूत्रं यदन्यथा क्रियते। तदिह प्रोक्तं मुनिभिः संविधानकम्।।

इत्याह। हा धिक्, हा धिक् तदेव संवृत्तं, कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा।

शून्यहृदया प्रियसखी। सखि, न खलु यस्मिन् तस्मिन् वा। एष खलु सुलभकोपो दुर्वासा महर्षिः। तथा पूर्वानुभूत-प्रकारेण अयं अविरला निरवकाशा त्वरिता च ईदृश्या गत्या प्रतिनिवृत्तः। विरल पादपधारया गत्येति च पाठः। कोऽन्यो हूतवहा[द्]दग्धुं प्रभवति। तद् गच्छ, पादयोः पतित्वा निवर्त्तय। अर्थादेनं यावदहमस्यार्घोदकमुपकल्पयामि।

अम्मो, काष्ठ विस्मये वा। आवेगस्खलितायाः प्रभ्रष्ठमग्रहस्तान्मे कुसुमभाजनम्[48]। शरीरीव कोपः, कस्य सोऽनुनयं गृह्णाति। किञ्चित् पुनः सानुकम्पः कृतः। एतदेव तस्मिन् बहुतरं, तत् कथय कथं प्रसादित इत्यर्थः।

सखि, स यदि कथमपि निर्वर्तितुं नेच्छति, तदा पादयोः प्रणिपत्य विज्ञापितो मया, "भगवन् प्रथमभक्तिम् अवेक्ष्य, अद्य तवाविज्ञात-प्रभाव-परमार्थस्य दुहितृजनस्य भगवता अयं प्रथमापराधो मर्षितव्य" इति।

48. मातृका 4117 इत्यत्र दस्वभाजनम् इति पठ्यते।

प्रियंवदा–तदो तदो। (ततस्ततः।)

अनुसूया–तदो सो ण मे वअणं अण्णधा भविदुं अरिहदि। किं तु अहिण्णाणाहरणदंसणादो से सावो णिअत्तिस्सदि त्ति मन्तअन्तो ज्जेव अन्तरिदो। (ततः सः न मे वचनमन्यथा भवितुमर्हति। किं तु अभिज्ञानाभरणदर्शनादस्याः शापः निवर्तिष्यते इति मन्त्रयन् एवान्तरितः।)

प्रियंवदा–सक्कं दाणिं अस्ससिदुं। अत्थि तेण राएसिणा संपत्थिदेण अत्तणो णामाङ्किदं अङ्गुलीअअं सुमरावणीअं ति सउन्तलाहत्थे सअं जेव पिणद्धाविदं। एसो ज्जेव तस्सिं साहीणो उवाओ भविस्सदि। (शक्यमिदानीमाश्वासितुम्। अस्ति तेन राजर्षिणा सम्प्रस्थितेनात्मनः नामाङ्कितमङ्गुरीयकं स्मरणीयमिति शकुन्तलाहस्ते स्वयमेव पिनद्धम्। तदेषः एव तस्मिन्स्वाधीनः उपायः भविष्यति।)

अनुसूया–एहि। देवकज्जं दाव से णिव्वत्तम्ह। (एहि, देवकार्यं तावदस्याः निवर्तयाव।) (इति परिक्रामतः)

प्रियंवदा–(विलोक्य) अनुसूये, पेक्ख दाव वामहत्थविणिहिदवअणा आलिहिदा विअ पिअसही तग्गदाए चिन्ताए अत्ताणअं पि ण विभावेदि। किं उण अदिधिविसेसं। (अनुसूये, प्रेक्षस्व तावत् वामहस्तविनिहितवदना आलिखिता इव प्रियसखी तद्गतया चिन्तया आत्मानमपि न विभावयति। किं पुनः अतिथिविशेषम्।)

अनुसूया–पिअंवदे, दोण्णं जेव णो हिअए एसो वुत्तन्तो चिट्ठदु। रक्खणीआ खु पइदिपेलवा पिअसही। (प्रियंवदे, द्वयोः एव नौ हृदये एषः वृत्तान्तः तिष्ठतु। रक्षणीया खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी।)

प्रियंवदा–को दाव उण्होदएण णोमालिअं सिञ्चदि।(को तावदुष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति)

(इत्युभे निष्क्रान्ते)

(प्रवेशकः)

ततस्तत इति कथक प्रोत्साहनार्थः। ततः स "न मे वचनमन्यथा भवितुमर्हति। किन्त्वाभरणाभिज्ञानदर्शनाद् अस्याः शापो निवर्तिष्यत" इति मन्त्रयन्नेवान्तर्हितः।

शक्यमिदानीमाश्वसितुं अस्ति, तेन राजर्षिणा संप्रस्थितेनात्मनो नामाङ्कितम् अङ्गुरीयकं स्मरणीय[मि]ति शकुन्तलाया हस्ते स्वयमेव पिनद्धम्। तदेष एव तस्मिन् स्वाधीन उपायो भविष्यति। एहि, अस्या देवकार्यं तावन्निवर्तयावः। अनुसूये, प्रेक्षस्व तावत् वामहस्तविनिहितवदनालिखितेव प्रियसखी तद्गतया चिन्तया आत्मानमपि न विभावयति, किं पुनरतिथिविशेषम्। प्रियम्वदे[49], द्वयोरेवावयोर्हृदय एष शापवृत्तान्तस्तिष्ठतु, रक्षणीया खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी[50]। कस्तावदुष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति। अत्र प्रवेशक इति शङ्करः।।

49. मातृका 4117 प्रियमुदेति पठ्यते।

50. मातृका 4117 इत्यत्र नास्ति।

(ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः कण्वशिष्यः)

शिष्यः–वेलोपलक्षणायादिष्टोऽस्मि प्रभासात्प्रतिनिवृत्तेन तत्रभवता कण्वेन। तत्प्रकाशं निर्गत्यावलोकयामि किमवशिष्टं रजन्या इति।

(परिक्रम्यावलोक्य च)

हन्त प्रभातम् ....। तथा हि–

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवैव दशान्तरेषु।। 4-2।।

अपि च–

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनेन
दुःखानि नूनमतिमात्रदुरुद्धानि।। 4–3।।

अपि च–

कर्कन्धूनामुपरि तुहिनं रञ्जयत्यग्रसन्ध्या
दार्भं मुञ्चत्युटजपटलं वीतनिद्रो मयूरः।
वेदिप्रान्तात्खुरविलिखितादुत्थितश्चैष सद्यः
पश्चादुच्चैर्भवति हरिणः स्वाङ्गमायच्छमानः।। 4-4।।

अपि च–

पादन्यासं क्षितिधरगुरोर्मूर्ध्नि कृत्वा सुमेरोः
क्रान्तं येन क्षयिततमसा मध्यमं धाम विष्णोः।

या० (4-2) आविष्कृतेत्युदय उक्तः। तेजोद्वयस्य सूर्यचन्द्ररूपोभयतेजसः एककालं विपदुपचयाभ्यां दशावकाशेषु लोकः स्थिरीक्रियत इव, व्यसनोदयाभ्यामिति।

अनुधर्मादिपाठाद् विकल्पेन पूर्वनिपातः। विपत्तावशुभे पापो मानस्त्रिमृगयादिषु। दैवानिष्ट-कलासक्तौ व्यसनं कवयो विदुरिति शाश्वतः। एतेन शकुन्तलाया अपि व्यसनोदयौ भविष्यत इति सूचितमिति शङ्करः।

अन्तर्हि०।। (4-3) इष्टो वल्लभस्तस्य प्रवासो भिन्नदेशत्वम्। नूनं निश्चये। अतिमात्रमतिशयः। अर्थान्तरन्यासः। दृष्टान्त इति शङ्करः। अनेन चापदेशेन शकुन्तलाविरहदुःखममिह सूचितमिति शङ्करः।

कर्कन्धु०।। (4-4) कर्कन्धुर्बदरी, तुहिनं हिमं, अग्रसन्ध्या प्रातःसन्ध्या, उटजः पर्णशाला, पटलं च्छदिः समूह इत्यर्थः। वेदिः परिष्कृता भूमिः। स्वाङ्गमायच्छमानं दीर्घीकुर्वन् आकर्षन्नित्यर्थः।

सोऽयं चन्द्रः पतति गगनादल्पशेषैर्मयूखै-
रत्यारूढिर्भवति महतामप्यपभ्रंशनिष्ठा।।4–5।।

प्रविश्यापटीक्षेपेण **अनुसूया**–(स्वगतम्) एवं पि णाम विसअपरंमुहस्स जणस्स एदं णिवडिदं जधा तेण रण्णा सउन्तलाए अणज्जं आचरिदं ति। (एवमपि नाम विषयपराङ्-मुखस्य जनस्य एतत् निपतितं यथा तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितमिति।)

शिष्यः–यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि। (इति निष्क्रान्तः)

अनुसूया–णं पहादा रअणी। ता लहुं पडिबुद्ध म्हि। अधवा पडिबुद्धा वि किं करइस्सं ण मे उइदेसुं पि पहादकरणीएसुं हत्था पसरन्ति। सकामो दाणिं कामो भोदु जेण सुद्धहिअआ पिअसही असच्चसन्धे जणे पदं कारिदा। अधवा ण तस्स राएसिणो अवराहो। दुव्वासासावो क्खु एसो पहवदि। अण्णधा कधं दाणिं सो राएसी तादिसाइं मन्तिअ एत्तिकस्स कालस्स वाआमेत्तकं पि ण विसज्जेदि। (विचिन्त्य) ता इदो अहिण्णाणङ्गुलीअअं से विसज्जामो त्ति। अधवा णिद्दुक्खसीदले तवस्सिअणे को णाम अब्भत्थीअदु। ण अ सहीगामी दोसो त्ति कदुअ ववसिदाओ वि पारेमो तादकण्णस्स दुस्सन्तपरिणीदं आवण्णसत्तं सउन्तलं णिवेदिदुं। ता एत्थ दाणिं किं णु क्खु अम्हेहिं करणीअं। (ननु प्रभाता रजनी। तत् लघु प्रतिबुद्धास्मि।

पाद०।। (4–5) पादो रश्मिश्चरणश्च मूर्द्ध्नि उपरि शिरसि च तमो, तमोऽन्धकारोऽज्ञानञ्च मध्यमं स्थानमाकाशमत्यारूढ[51]श्च गुरुशिरसि पादन्यासो विष्णुस्थानातिक्रमणञ्च। अपभ्रंशेति अधःपातः। अर्थान्तरन्यासः। अथ च शकुन्तलाया दुर्वासस्यानवधानाद् भ्रंशो भविष्यतीति सूचनमिति शङ्करः।

अपटीक्षेपेणाकस्मादित्यर्थः। पटीक्षेपो न कर्तव्य आर्त–राजप्रवासयो–रिति भरतः। एवमपि नाम विषय–पराङ्मुखस्य जनस्य एवं इदम्द्धा[52] (न विदितं) निपातितम्। यथा तथाविधेन राजर्षिणा शकुन्तलाया अनार्य्यम् आचरितमिति। अनार्य्यमनुचितं शकुन्तला–विस्मरणरूपम्।।

ननु प्रभातवेला! तन्निद्रां त्यजामि। तत् प्रतिबु(द्ध)न(?)। अथवा प्रतिबुद्धापि किमिदानीं करिष्यामि। न मे उचितेष्वपि प्रभातकरणीयेषु हस्तौ प्रसरतः। तत् सकाम इदानीं कामो भवतु, येन शून्यहृदया प्रियसखी असत्यसन्धे मिथ्याप्रतिज्ञे तस्मिन् जने पदं स्थानं व्यवसायं वा कारिता। पदं व्यवसित (स्थानमिति?), त्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्त्वित्यमरः।।

अथवा दुर्वाससः शापः खल्वेष भवति। अन्यथा कथं राजर्षिस्तादृशं "नगरगमन एव भवन्नयनार्थं मानुषः प्रहेय" इत्यादिना मन्त्रयित्वा एतावतः कालस्य वार्तामात्रमपि अस्तु तावद्, गूढद्रव्यादि न विसर्जयति।

---

51. मत्यारूढिश्च इति 4118 इत्यत्र पठ्यते।
52. 4118 इत्यत्र इदसा।

अथवा प्रतिबुद्धापि किं करिष्यामि। न मे उचितेष्वपि प्रभातकरणीयेषु हस्तौ प्रसरतः। सकामः इदानीं कामः भवतु येन शुद्धहृदया प्रियसख्यसत्यसंधे जने पदं कारिता। अथवा न तस्य राजर्षेः अपराधः। दुर्वाससः शापः खल्वेषः प्रभवति। अन्यथा कथमिदानीं सः राजर्षिः तादृशानि मन्त्रयित्वा एतावतः कालस्य वाङ्मात्रकमपि न विसर्जयति। तत् इतः अभिज्ञानाङ्गुरीयकमस्य विसर्जयामः इति। अथवा निर्दुःखशीतले तपस्विजने को नाम अभ्यर्थ्यताम्। न च सखीगामी दोषः इति कृत्वा व्यवसिताः अपि पारयामः तातकण्वस्य दुःषन्तपरिणीताम् आपन्नसत्त्वां शकुन्तलां निवेदयितुम्। तदत्र इदानीं किं नु खल्वस्माभिः करणीयम्।)

प्रियंवदा–(प्रविश्य) अणुसूए, तुवर तुवर। सउन्तलाए पत्थाणकोदूहलाइं करीअन्ति। (अनुसूये, त्वरस्व त्वरस्व। शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतूहलानि क्रियन्ते।)

अनुसूया–(सविस्मयम्) सहि, कधं विअ। (सखि, कथं इव।)

प्रियंवदा–सुणाहि। इदाणिं जेव सुहसुत्तिआपुच्छणणिमित्तं सउन्तलाए समीवं गद म्हि। (शृणु, इदानीमेव सुखसुप्तिकाप्रश्ननिमित्तं शकुन्तलायाः समीपं गतास्मि।)

अनुसूया–तदो तदो। (ततस्ततः।)

प्रियंवदा–तदो जाव णं लज्जावणदमुहिं परिस्सइअ तादकण्णो एवं अहिणन्देदि। वच्छे, दिट्ठिआ धूमोवरुद्धदिट्ठिणो वि जजमाणस्स पावअस्स मुहे ज्जेव णिवदिदा आहुदी। सुसिस्सपरिग्गहिदा विअ विज्जा असोअणीआ सि मे संवुत्ता। ता अज्ज ज्जेव तुमं इसिपरिग्गहिदं कदुअ भत्तुणो सकासं विसज्जेमि त्ति। (ततः यावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकण्वः एवमभिनन्दति। वत्से, दिष्ट्या धूमोपरुद्धदृष्टेः अपि यजमानस्य पावकस्य मुख एव निपतिता आहुतिः। सुशिष्यपरिगृहीतेव विद्या अशोचनीया असि मे संवृत्ता। तत् अद्यैव त्वाम् ऋषिपरिगृहीतां कृत्वा भर्तुः सकाशं विसर्जयामीति।)

इदानीम् इतस्तस्मिन्नभिज्ञानाङ्गुरीयकं विसर्जयामि। निर्दुःखशीतले तपस्विजने को नामाभ्यर्थ्यताम्। अथवा निर्दुःखेति शङ्करः पठति। न च(ननु) सखीगामी दोष इति, व्यवसा(सि)तुमपि [न] पारयामः, तातकण्वस्य वा दुस्म[दुःष]न्तस्य राज्ञः परिणीतामापन्नसत्वां गर्भिणीं शकुन्तलां निवेदयितुम्। तदत्रेदानीं किं नु खल्वस्माभिः करणीयम्।।

त्वरय त्वरय शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतूहलानि क्रियन्तां {क्रियन्तां वा}। सखि, कथमिव। सखि, शृण्विदानीमेव सुखसुप्तिकप्रश्न-निमित्तं शकुन्तलायाः समीपं गतास्मि। ततस्ततः। ततो यावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकण्व एवमभिनन्दति। यावद् वाक्यालंकारे। वत्से, दिष्ट्या धूमोपरुद्धे(द्धेः) दृष्टेरपि यजमानस्य पावकमुखनिपातिता व्याहुतिः। स्वशिष्यपरिगृहीता विद्येवाशोचनीयामि (सि) मे संवृत्ता[53]। तदद्यैव त्वामृषिभिः परिगृहीतां कृत्वा, भर्तुः सकाशं विसर्जयामीति।।

---

53. विद्ययेवाशोचनीयामि मे संप्रवृत्ता इति 4117 इत्यत्र पठ्यते।

अनुसूया–सहि, केण उण आचक्खिदो तादकण्णस्स अअं वुत्तन्तो। (सखि, केन पुनः आख्यातः तातकण्वस्यायं वृत्तान्तः।)

प्रियंवदा–अग्गिसरणं पविट्ठस्स किल सरीरं विणा छन्दोवदीए वाआए। (अग्निशरणं प्रविष्टस्य किल शरीरं विना छन्दोवत्या वाचा।)

अनुसूया–(सविस्मयम्) कधं विअ। (कथं इव।)

प्रियंवदा–सुण। (शृणु।) (संस्कृतमाश्रित्य)

दुःषन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव।।4–6।।

अनुसूया–(प्रियंवदामाश्लिष्य) सहि, पिअं मे पिअं। किं तु अज्ज ज्जेव सउन्तला णीअदि त्ति उक्कण्ठासाहारणं दाणिं परिदोसं अणुभवामि। (सखि, प्रियं मे प्रियम्। किंतु अद्यैव शकुन्तला नीयतेति उत्कण्ठासाधारणमिदानीं परितोषमनुभवामि।)

प्रियंवदा–अम्हे कधं पि उक्कण्ठं विणोदइस्सामो। सा दाणिं तवस्सिणी णिव्वुदा भोदु। (आवां कथमपि उत्कण्ठां विनोदयिष्यावः। सा इदानीं तपस्विनी निवृता भवतु।)

अनुसूया–तेण हि एदस्सिं चूदसाहावलम्बिदे णारिएलसमुग्गए एदंणिमित्तं जेव मए कालहरणक्खमा केसरगुण्डा णिक्खित्ता चिट्ठन्ति। ते तुमं णलिणीवत्तसंगदे करेहि जाव से अहं पि गोरोअणं तित्थमट्टिअं दुव्वाकिसलआइं च मङ्गलसमालहणत्थं विरअआमि। (तेन हि एतस्मिन् चूतशाखावलम्बिते नारिकेलसमुद्गके एतन्निमित्तमेव मया कालहरणक्षमाः केसरगुण्डाः निक्षिप्ताः तिष्ठन्ति। तान् त्वं नलिनीपत्रसङ्गतान् कुरु, यावदस्याः अहमपि गोरोचनां तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिसलयानि च मङ्गलसमालम्भनार्थं विरचयामि।) (प्रियंवदा तथा करोति। अनुसूया निष्क्रान्ता)

सखि, केन पुनराख्यातस्तातकण्वस्यायं वृत्तान्तः। अग्निशरणमग्न्यागारं प्रविष्टस्य किल तस्य च्छन्दोवत्या वाचा। आख्यात इत्यनुषङ्गः। च्छन्दोवत्या स्वच्छन्दयाकाशवाण्येत्यर्थः। कथमिव शृणु।

संस्कृतमिति०।। (4–6) अनुवादेत्यौचित्यम्। विदग्ध्यार्थ[54] प्रयोक्तव्यं संस्कृतञ्चान्तरान्तरेति नियमात्। सिद्धान्तयत्यन्यस्तनु भद्रं।। पुष्प (दुःषन्तेन)०।। (4–6) आहितमर्पितं तेजः शुक्रम्।

सखि, प्रियं मे प्रियं। किन्त्वद्यैव शकुन्तला नीयत इति इत्युत्कण्ठासाधारणं परितोषमनुभवामि। वयन्तावत् कथमप्युत्कण्ठां विनोदयिष्यामः। सा तावन्तपस्विनी निर्वृता भवतु। तेन हि एतस्मिन् चूतशाखावलम्बिते नारिकेलसमुद(द्ग)के एतन्निमित्तमेव मया निक्षिप्ताः कालहरणक्षमाः केशरगुणा बकुलमालाः सन्ति, तांस्त्वं नलिनीपत्रसङ्गतान् कुरु। अहमपि यावदस्या गौरोचनां तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिसलयानि च मङ्गलसमालम्भनार्थं विरचयामि। समालम्भनं वर्द्धनमित्यर्थः।

---

54. वैदग्धार्थ इति 4117 इति पठ्यते।

(नेपथ्ये)

गौतमि, आदिश्यतां शार्ङ्गरव-शारद्वतमिश्राः, वत्सां शकुन्तलां नेतुं सज्जीभवतेति।

प्रियंवदा-(कर्णं दत्त्वा) अनुसूये, तुवर तुवर। एदे क्खु हत्थिणाउरगामिणो इसीओ सद्दावीअन्ति। (अनुसूये, त्वरस्व त्वरस्व। एते खलु हस्तिनापुरगामिनः ऋषयः शब्दायन्ते।)

प्रविश्य समालभनहस्ता अनुसूया-सहि, एहि गच्छम्ह। (सखि, एहि गच्छावः।)

(इति परिक्रामतः)

प्रियंवदा-(विलोक्य) एसा सुज्जोदए ज्जेव किदमज्जणा पडिच्छिदणीवारवाअणाहिं तावसीहिं अहिणन्दीअमाणा सउन्तला चिट्ठदि। ता उवसप्पम्ह णं। (एषा सूर्योदये एव कृतमज्जना प्रतीष्टनीवारवाचनाभिः तापसीभिः अभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति तदुपसर्पावः।) (इति तथा कुरुतः)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टपरिवारा शकुन्तला गौतमी च)

शकुन्तला-भअवदीओ वन्दामि। (भगवति वन्दे।)

गौतमी-जाद, भत्तुणो बहुमाणसुहइत्तअं देवीसद्दं अधिगच्छ। (जात, भर्तुः बहुमानसुखयितारं देवीशब्दमधिगच्छ।)

तापस्यः-वच्छे, वीरप्पसविणी होहि। (वत्से, वीरप्रसविनी भव।)

(इति गौतमीवर्जं निष्क्रान्ताः)

सख्यौ-(उपगम्य) सहि, सुमज्जणं दे भूदं। (सखि, सुमज्जनं ते भूतम्।)

शकुन्तला-साअदं पिअसहीणं। इदो णिसीदध।(स्वागतं प्रियसखीभ्याम्। इतः निषीदतम्।)

सख्यौ-(उपविश्य) हला, उज्जुआ दाव होहि जाव दे मङ्गलसमालहणं करेमो। (सखि, ऋज्वी तावद्भव यावद् ते मङ्गलसमालभनं कुर्वः।)

शार्ङ्गेति। शाङ्गरव-शारद्वत[55]-प्रधाना इत्यर्थः। शार्ङ्गेति त्रयः शिष्या इति शङ्करः। त्वरय त्वरय एते खलु हस्तिनापुरगामिनो मुनयः शब्दाय्यन्ते आह्वयन्ते।

सखि, एहि गच्छावः, एषा सूर्योदय एव कृतमज्जना प्रती[ष्ट]नीवार-वाचनाभिर्वाचनं भोज्यम्। प्रहेलकं वाचनकमिति त्रिकाण्डशेषः। भोजनाभि[56]रिति शङ्करधृतः पाठो मन्दः।

तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति। तदेनामुपसर्पावः। हे भगवत्यो वन्दामि। जाते भर्तुर्बहुमानयुक्तं देवीशब्दमभिगच्छ। वीरप्रसविणी(नी) भव। सखि, सुमज्जनं ते भूतम्।

---

55. सावद्धत इति 4117 इत्यत्र पठ्यते।

56. मिथिलातः प्रकाशितायां शङ्करटीकायां-प्रतीष्टनीवारभाजनाभिः इति पाठो दृश्यते।

शकुन्तला–उइदं पि एदं अज्ज बहुमण्णिदव्वं। जदो दुल्लहं दाव पुणो मे सहीमण्डणं भविस्सदि। (उचितम् अपि एतद् अद्य बहुमन्तव्यम्, यतः दुर्लभं तावत् पुनः मे सखीमण्डनं भविष्यति।) (इति बाष्पं विसृजति।)

सख्यौ–सहि, ण जुत्तं मङ्गलआले रोदिदुं। (सखि, न युक्तं मङ्गलकाले रोदितुम्।)

(अश्रूणि परिमृज्य नाट्येन प्रसाधयतः)

प्रियंवदा–अहो, आहरणारिहं दे रूवं अस्समसुलहेहिं पसाहणेणिं विप्पआरीअदि। (अहो, आभरणार्हं ते रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैः विप्रकार्यते।)

प्रविश्य आभरणहस्तो **मुनिकुमारकः**–इदमलङ्कारजातम् अलङ्क्रियतामायुष्मती।

(सर्वा विलोक्य विस्मिताः)

गौतमी–वच्छ हारीद, कुदो एदं। (वत्स हारीत, कुतः एतत्।)

हारीतः–तातकण्वप्रभावात्।

गौतमी–किं माणसी सिद्धी। (किं मानसी सिद्धिः।)

हारीतः–न खलु। श्रूयताम्। तत्रभवता कण्वेन वयमाज्ञापिताः शकुन्तलाहेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमान्याहरतेति। ततः–

क्षौमं केन चिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि नः किसलयच्छायाप्रतिस्पर्धिभिः।। 4-7।।

प्रियंवदा–(शकुन्तलां विलोक्य) कोडरसंभवा वि महुअरी पोक्खरमहुं जेव अहिलसदि। (कोटरसम्भवापि मधुकरी पुष्करमध्वेवाभिलषति।)

स्वागतं प्रियसखीभ्यामितो निषीदतम्। सखि, ऋज्वी तावद्भव, यावत्ते मङ्गलसमालभनं कुर्व्वः। उचितम् अप्येतदद्य बहुमन्तव्यं यतो दुर्लभं तावत् पुनर्मे सखीमण्डनं भविष्यति। सखि न युक्तं मङ्गलकाले रोदितुम्। हद्धी खेदे। अहो इति शङ्करः। कष्टमिति व्याचष्टे च।

आभरणान्तेऽस्य वा रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रक्रियते पीड्यते। विप्रलभ्यत इति शङ्करः पठति। जातं समूहः वत्स हारीत, कुत इदम्? किं मानसीसिद्धिः?।

क्षौमं०।। (4-7) क्षौमं वाल्कलवस्त्रभेदः पट इति ख्यातः। सोमवन्मनपत्यषे[57] (?)। क्षु-धातोः क्षौमेति साधुः। स्वार्थिकेऽणि क्षौममिति। निष्कृत उद्गीर्णः प्रकाशित इत्यर्थः। चरणानुरागसदृश-श्चरणरञ्जनयोग्यः, चरणोपभोगसुलभ इति वा पाठः। लाक्षेत्यलक्तकद्रवः। आपर्वेति, पर्वभागपर्यन्तम् उद्गतैर्नोऽस्मभ्यम्। सखि, कोटर-सम्भवापि मधुकरी पुष्परसं मध्वेवाभिलषति।

---

57. सोमवन्मनद्यये इति 4118 इत्यत्र पठ्यते।

गौतमी–इमाए अब्भुववत्तीए सूइदा भत्तुणो गेहे अणुभविदव्वा राअलच्छी। (अनयाभ्युपपत्या सूचिता भर्तुः गेहे अनुभवितव्या राजलक्ष्मीः।)

(शकुन्तला लज्जां नाटयति)

हारीतः–यावदिमां वनस्पतिसेवामभिषेकार्थं मालिनीतीरमवतीर्णाय भगवते कण्वाय निवेदयामि। (इति निष्क्रान्तः)

अनुसूया–सहि, अणणुभूदभूसणो अअं जणो कधं तुमं अलंकरेदु। (चिन्तयित्वा विलोक्य च) चित्तपरिचएण दाणिं दे अङ्गेसुं आहरणविणिओअं करेम्ह। (सखि, अननुभूत-भूषणः अयं जनः कथं त्वामलङ्करोतु। चित्रपरिचयेन इदानीं ते अङ्गेषु आभरणविनियोगं कुर्वहे।)

शकुन्तला–जाणामि वो णिउणत्तणं। (जानामि वां निपुणत्वम्।)

(सख्यौ नाट्येनालङ्कारमायुञ्जाते।)

(ततः प्रविशति स्नानोत्तीर्णः कण्वः)

कण्वः–

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं स्पृष्टं समुत्कण्ठया
अन्तर्बाष्पभरोपरोधि गदितं चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः।। 4-8।।

(इति परिक्रामति)

सख्यौ–हला सउन्तले, अवसिदमण्डणा दाणिं सि तुमं। संपदं परिधेहि एदं विचित्तं खोमजुअलं। (सखि शकुन्तले, अवसितमण्डना इदानीमसि त्वम्। साम्प्रतं परिधेहि एतद् विचित्रं क्षौमयुगलम्।) (शकुन्तला उत्थाय नाट्येन परिधत्ते)

गौतमी–जाद, एसो दे आणन्दबाहपरिवाहिणा लोअणेण परिस्सअन्तो विअ गुरू उवत्थिदो। ता समुदाआरं पडिवज्जसु।

अनयाप्यु(भ्यु)पपत्या वृक्षानुग्रहेण सूचिता भर्तुर्गेहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीः। सखि, अननुभूत भूषणोऽयं जनः, कथं त्वामलंकरोतु। चित्रकर्मपरिचयेन, चित्रे यथा द्रष्टव्यं तथेत्यर्थः। इदानीं भवाङ्गेष्वाभरणविनियोगं कुर्व्वः। चित्तेति शङ्करः पठति, मनोविकल्पमयेत्यर्थ इति व्याचष्टे च। जानामि युवयोर्निपुणत्वम्।।

यास्य०।। (4-8) अन्तर्वती यो बाष्पोऽश्रु तस्यातिशयेनापरुद्धम्। दर्शनं ज्ञानं चिन्तया कर्तुर्व्यापविच्छेदकम्। यद्वा दर्शनं नयनं चिन्तया [जडं] विषयाग्राहकम्। तावद् वाक्यालंकारे। नु प्रश्ने। सखि शकुन्तले, अवसितमण्डना निष्पन्नभूषणा इदानीं त्वमसि। साम्प्रतं परिधेहि एतद्विचित्रं क्षौमयुगलम्। जाते, एष ते आनन्दपरिवाहिना लोचनेन परिष्वजमान इव गुरुरुपस्थितः। तत् समुदाचारमभ्युत्थानादिकं प्रतिपद्यस्व।।

(जात, एषः ते आनन्दबाष्पपरिवाहिणा लोचनेन परिष्वजमानः इव गुरुः उपस्थितः। तत् समुदाचारं प्रतिपद्यस्व।) (शकुन्तला सव्रीडा वन्दनां करोति।)

कण्वः–वत्से,

ययातिरेव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता भव।
पुत्रं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि।।4–9।।

गौतमी–जाद, वरो क्खु एसो, ण उण आसिसा। (जात, वरः खल्वेषः, न पुनः आशीः।)

कण्वः–वत्से, इतः सद्यो हुताग्नीन् प्रदक्षिणीकुरुष्व। (सर्वे परिक्रामन्ति)

कण्वः–वत्से,

अमी वेदीं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः
समिद्वन्तः प्रान्तविस्तीर्णदर्भाः।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धै-
र्वैतानास्त्वां वह्नयः पालयन्तु।।4–10।।

(शकुन्तला प्रदक्षिणं करोति)

कण्वः–वत्से, प्रतिष्ठस्वेदानीम्। (सदृष्टिविक्षेपम्) क्व नु ते शार्ङ्गरव–शारद्वतमिश्राः।

शिष्यौ–(प्रविश्य) भगवन् इमौ स्वः।

कण्वः–वत्स शार्ङ्गरव, भगिन्याः पन्थानमादेशय।

शिष्यः–इत इतो भवती। (सर्वे परिक्रामन्ति)

कण्वः–भो भोः सन्निहितवनदेवतास्तपोवनतरवः।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वसिक्तेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।

ययातेः०।। (4–9) येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राडित्यमरः। आशीरलङ्कारः। हे जात, वरः खल्वेष, नाशीः। सन्तुष्टदेवादीनामवश्यंभाविवचनं वरः। आशीस्तु कदाचित् फलदायिनी वाक्।

अमी०।। (4–10) वेदीं परितः वेद्याः समीपे षष्ठ्यर्थे द्वितीया। धिष्ण्यं स्थानं, हव्यं हवनीयं, वैताना यज्ञसम्बन्धिनः। वितानो यज्ञ उल्लोच इति मेदिनी। भगवन्निति।

देवाश्च मुनयश्चैव लिङ्गिनः साधकाश्च ये।
भगवन्निति ते वाच्याः सर्व्वैः स्त्रीपुंनपुंसकैः।। इति भरतः[58]।

---

58. नाट्यशास्त्रम् (21–4), सं. बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, वि.सं. 2037 इत्यत्र किंचिद्भिन्नं पठ्यते।

आद्ये वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।। 4–11।।

शार्ङ्गरवः–(कोकिलशब्दं सूचयित्वा) भगवन्,

अनुमतगमना शकुन्तला सा तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतविरुतं कलं यदासीत्प्रतिवचनीकृतमेभिरात्मनः।। 4–12।।

(नेपथ्ये)

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमरीचितापः ।
भूयात् कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः।। 4–13।।

(सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति)

गौतमी–जाद, णादिकुलसिणिद्धं अब्भणुण्णादा सि तवोवणदेवदाहिं। ता पणम भअवदीणं। (जात, ज्ञातिकुलस्निग्धमभ्यनुज्ञातासि तपोवनदेवताभिः। तत्प्रणम भगवतीभ्यः।)

शकुन्तला–(सप्रणामं परिक्रम्य, जनान्तिकम्) पिअंवदे, अज्जउत्तदंसणुस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअन्तीए दुक्खदुक्खेण चलणा मे पुरोमुहा णिवडन्ति। (प्रियंवदे, आर्यपुत्र-दर्शनोत्सुकायाः अपि आश्रमपदं परित्यजन्त्याः दुःखदुःखेन चरणौ मे पुरोमुखौ निपततः।)

प्रियंवदा–ण केवलं तुमं जेव तवोवणविरहकादरा। तए उवत्थिदविओअस्स तवोवणस्स वि अवत्थं पेक्ख दाव। (न केवलं त्वमेव तपोवनविरहकातरा। त्वया उपस्थित-वियोगस्य तपोवनस्याप्यवस्थां प्रेक्षस्व तावत्।)

पातुं०।। (4-11) पल्लवं किसलयं, कोकिलं पिकध्वनिम्।

अनु०।। (4-12) इयं शकुन्तला तरुभिः स्वीकृतप्रस्तावा यद्यत इदानीं यात्रायां कोकिलध्वनिः शुभाय।।

रम्या०।। (4-13) रम्येति पद्मिनी हरिद्वर्णैः[58] सरोभिर्मनोज्ञमध्यच्छायाद्रुमैश्छायया लक्षितैर्द्रुमैः, शाकपार्थिवादिः, वृक्षभेदैर्वा। पूर्वाह्णे चापराह्णे च तलं यस्य न मुञ्चति। अमन्द-शीतलाच्छाया, स च्छायातरुरुच्यते।। इति। नियमितमपनीतं कुशेशयं पद्मं शान्तः पाटच्चरादिशून्यः शिवः सुखदः। जात, नातिकुलस्निग्धं यथा स्यान्नाभिर्ज्ञातिः, प्रत्यनुज्ञातासि तपोवनदेवताभिस्तत् प्रणम भगवतीभ्यः। प्राकृते चतुर्थ्यां षष्ठी। जनान्तिक-लक्षणमुक्तमेव।। प्रियम्वदे, आर्यपुत्र-दर्शनोत्सुकाया अपि तपोवनं परित्यजन्त्या दुःखदुःखेन मम चरणौ पुरोमुखौ निपतत इति च पाठः। न केवलं त्वमेव तपोवनविरहकातरा, त्वया उपस्थितवियोगस्य तपोवनस्याप्यवस्थां प्रेक्षस्व तावत्।

---

59. हरिद्वन्तैः इति 4118 इत्यत्र पठ्यते।

उल्ललइ दब्भकवलं मई परिच्चत्तणच्चणा मोरी।
ओसरिअपण्डुवत्ता मुअन्ति अङ्गाइ व लआओ।। 4–14।।
(उद्गलति दर्भकवलं मृगी, परित्यक्तनर्तना मयूरी।
अपसृतपाण्डुपत्राः मुञ्चन्त्यङ्गानि इव लताः)।। 4–14।।

शकुन्तला–(स्मृत्वा) ताद, लदावहिणिअं दाव माहविं आमन्तइस्सं। (तात, लताभगिनीं तावत् माधवीमामन्त्रयिष्यामि।)

कण्वः–वत्से, अवैमि ते तस्यां सौहार्दम्। इयं सा दक्षिणे। पश्य।

शकुन्तला–(उपेत्य लतामालिङ्ग्य) लदावहिणिए। पच्चालिङ्ग मं साहामईहिं बाहाहिं। अज्ज पहुदि दूरवत्तिणी खु दे भविस्सं। ताद, अहं विअ इअं तए चिन्तणीआ। (लताभगिनि, प्रत्यालिङ्ग मां शाखामयैः बाहुभिः। अद्यप्रभृति दूरवर्तिनी खलु ते भविष्यामि। तात, अहमिव इयं त्वया चिन्तनीया।)

कण्वः–वत्से,

सङ्कल्पितं प्रथममेव मया त्वदर्थे
भर्तारमात्मसदृशं स्वगुणैर्गतासि।
अस्यास्तु सम्प्रति वरं त्वयि वीतचिन्तः
कान्तं समीपसहकारमिमं करिष्ये।। 4-15।।

तदितः पन्थानं प्रतिपद्यस्व।

शकुन्तला–(सख्यावुपेत्य) हला, एसा दोण्णं पि वो हत्थे णिक्खेवो। (सखि, एषा द्वयोः अपि वां हस्ते निक्षेपः।)

सख्यौ–अअं जणो कस्सिं दाणिं समप्पिदो। (अयं जनः कस्मिन्निदानीं समर्पितः।)

(इति बाष्पं विसृजतः)

उल्ल०।। (4-14) उल्ललति(उद्गलति) दर्भकवलं मृगीनां, परित्यक्तनृत्या मयूराः। अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्ति अङ्गानीव लताः। शङ्करस्तु उद्गीर्ण दर्भकवला मृगी, परित्यक्तनर्तना मयूरा इति पूर्वार्द्धं पठति।।

तात, लताभगिनीं तावन्माधवीमामन्त्रयिष्ये। लताभगिनी(नि), प्रत्यालिङ्ग मां शाखामयैर्बाहुभिरद्य प्रभृति दूरवर्तिनी खलु ते भविष्यामि। तात[60], अहम् इवेयं त्वया चिन्तनीया।।

सङ्क०।। (4-15) सङ्कल्पितं चिन्तितं कान्तं कमनीयं निकटस्थसहकारं अस्या वरं जामातारं करिष्ये। वरो जामातरि श्रेष्ठ इति शाश्वतः। सखि, एषा द्वयोरपि युवयोर्हस्ते निक्षेपः। अयमस्मद्रूपो जनः कस्मिन् समर्थि(र्पि)तः। तात[61], एषा उटजपर्यन्तचारिणी गर्भभारमन्थरा मृगवधूर्यदा सुखप्रसवा

---

60. लिपिकारद्वयेनात्र ताताहमिव इति सन्धिकृतः पाठः प्रदत्तः।

61. लिपिकारद्वयेनात्र तातैषा इति सन्धिकृतः पाठः प्रदत्तः।

कण्वः–अनुसूये प्रियंवदे, अलं रुदितेन। ननु भवतीभ्यामेव शकुन्तला स्थिरीकर्तव्या।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

शकुन्तला–ताद, एसा उडअपज्जन्तआरिणी गब्भहारमन्थरा मिअवहू जदा सुहप्पसवा भवे तदा मे कं पि पिअणिवेअणइत्तअं विसज्जइस्सध। मा एदं विसुमरिस्सध। (तात, एषा उटजपर्यन्तचारिणी गर्भभारमन्थरा मृगवधूः यदा सुखप्रसवा भवेत् तदा मे किमपि प्रियनिवेदयितारं विसर्जयिष्यथ। मा एतद् विस्मरिष्यथ।)

कण्वः–वत्से, नेदं विस्मरिष्यामि।

शकुन्तला–(गतिभेदं रूपयित्वा) अम्भो, को णु क्खु एसो पदक्कन्तो विअ मे पुणो पुणो वसणन्ते सज्जदि। (अम्भो, कोऽनु खल्वेषः पदाक्रान्तः इव मे पुनः पुनः वसनान्ते सज्जति।

(परिवृत्यावलोकयति)

कण्वः–

यस्य त्वया व्रणविरोहणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते।। 4–16।।

शकुन्तला–वच्छ, किं मं सहवासपरिच्चाइणिं अणुबन्धसि। णं अचिरप्पमृदोवरदाए जणणीए विणा जधा मए वड्डिदो सि तधा इदाणिं पि मए विरहिदं तादो तुमं चिन्तइस्सदि। ता णिअत्तसु, वच्छ णिअत्तसु।

(वत्स, किं मां सहवासपरित्यागिनीमनुबध्नासि। ननु अचिरप्रसूतोपरतया जनन्या विना यथा मया वर्धितोऽसि तथा इदानीमपि मया विरहितं तातः त्वां चिन्तयिष्यति। तत् निवर्तस्व, वत्स निवर्तस्व।)

(इति रुदती प्रस्थिता)

भवति, तदा (त्म)त्वम् कमपि प्रियनिवेदकं विसर्जयिष्यथ। मा एतद्विस्मरिष्यथ। गतीति अवरुद्ध{गमं}गमनमभिनीय। अम्मो विस्मये कष्टे वा। को नु खल्वेष पदाक्रान्त इव पुनः पुनर्मे वसनान्ते सज्जति वसनान्तं गृह्णाति वा।

यस्य०।। (4–16) व्रणविरोहणं क्षतप्ररोहकं परिवर्द्धितकोऽतिशयेन पोषितः पुत्रकृतकः कृत्रिमपुत्रः। वत्स, किं मां सहवासपरित्यागिनीम् अनुबध्नासि। ननु चिरप्रसृतोपरतया प्रसवाव्यवहितकालमृतया जनन्या विना यथा मया वर्द्धितोऽसि, तथेदानीमपि मया विरहितं तातस्त्वमनुचिन्तयिष्यति, तन्निवर्तस्व[62]।।

62. तन्निवर्तस्व वत्स, निवर्तस्व इत्यधिकं 4118 इत्यत्र पठ्यते।

कण्वः–वत्से, अलं रुदितेन। स्थिरा भव। इतः पन्थानमवलोकय।

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं
बाष्पं कुरु स्थिरतया शिथिलानुबन्धम्।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति।। 4–17।।

शारङ्गरव–भगवन्, उदकान्तं स्निग्धोऽनुगम्यत इति स्मर्यताम्। तदिदं सरसीतीरम्। अत्र नः सन्दिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि।

कण्वः–तेन हीमां क्षीरवृक्षच्छायामाश्रयामः। (सर्वे तथा नाटयन्ति)

कण्वः–किं नु खलु तत्रभवतो दुःषन्तस्य युक्तरूपं सन्देष्टुम्। (इति चिन्तयति।)

अनुसूया–सहि, ण णो अस्समपदे अत्थि को वि चित्तवन्तो जो तए विरहीअन्तो अज्ज ण ऊसुओ किदो। पेक्ख–

पुडइणिवत्तन्तरिअं वाहरिओ णाणुवाहरेइ पिअं।
मुहउव्वुढमुणालो तइ दिट्ठिं देइ चक्काओ।। 4–18।।

(सखि, न नः आश्रमपदे अस्ति कोऽपि चित्तवान् यः त्वया विरह्यमाणः अद्य न उत्सुकः कृतः। प्रेक्षस्व–

(पुटकिनीपत्रान्तरितां व्याहृतः नानुव्याहरति प्रियाम्।
मुखोद्व्यूढमृणालः त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः)।। 4–18।।

कण्वः–वत्स शार्ङ्गरव, इति त्वया मद्वचनात्स राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्याभिधातव्यः।

अस्मान्साधु विचिन्त्य संयमधनान् उच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्।

उत्पन्न०।। (4–17) उपरुद्धेति प्रतिरुद्धव्यापारं स्थिरतया धैर्येण खलु यस्माद्विषमीभवन्ति, स्खलितानि स्युः। उदकान्तमिति यदाह आ उदकात् प्रियं पान्थमनुव्रजेदिति। प्रतिगन्तुं निवृत्य गन्तुम्। सखि, नास्माकम् आश्रमपदेऽस्ति कोऽपि चित्तवान् यस्त्वया विरहय्यमनो न उत्सुको भवति। न ताम्यतीति च पाठः। प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व।। पुट0।। (4–18) "पुटकिनीपत्रान्तरितां व्याकृतां नानुव्याहरति प्रियां। प्रियोद्दृढमृणालस्त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः।।" पुटकिनी पद्मिनी। मृणालिनी पुटकिनीति हारावली। तयोद्व्यूढेति। तथा पूर्वप्रणयानुरूपप्रकारेणेति शङ्करः। अ{ल्प}व्याहारे हेतुस्त्वयीति। चक्का तु चक्रवाके स्यादिति देशी।।

अस्मा०।। (4–19) साधु यथा स्यात् संयमेति राज्ञस्त्रासजननाय। अन्ये तु अन्यद्धनादिकमस्माकं नास्तीति जामातुरम्बरदूरीकरणायेत्याहुः। उच्चैः कुलेति कुलीनस्य हि निजवधूषु विप्रियव्यवहारोऽधर्म्महेतुरिति भावः।

सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
दैवाधीनमतः परं न खलु तत्स्त्रीबन्धुभिर्याच्यते।।4–19।।

शिष्यः–भगवन् गृहीतोऽयं सन्देशः।

कण्वः–(शकुन्तलां विलोक्य) वत्से त्वमिदानीमनुशासनीया। वनौकसोऽपि वयं लोकज्ञा एव।

शिष्यः–भगवन्, न खलु कश्चिद् अविषयो नाम धीमताम्।

कण्वः–वत्से, सा त्वमितः पतिगृहं प्राप्य,–

शुश्रूषस्व गुरुन्कुरु प्रियसखीवृत्तं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।।4–20।।

कथं वा गौतमी मन्यते।

गौतमी–एत्तिकं खु बहूणं उवदेसो। (शकुन्तलां प्रति) जाद, मा विसुमरिस्ससि। (एतावत्खलु वधूनामुपदेशः। जाते, मा विस्मरिष्यसि।)

कण्वः–एहि वत्से, परिष्वजस्व मां सखीजनं च।

शकुन्तला–ताद, इदो ज्जेव पिअसहीओ विणिअत्तिसन्ति। (तात, इतः एव प्रियसख्यौ विनिवर्तिष्येते।)

कण्वः–वत्से, इमे अपि प्रदेये। तन्न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्। त्वया सह गौतमी गमिष्यति।

शकुन्तला–(पितुरङ्कमाश्लिष्य) कधं दाणिं तादस्स अङ्गदो परिब्भट्ठा मलअपव्वदुम्मूलिदा विअ चन्दणलदा देसन्तरे जीविदं धारइस्सं। (कथमिदानीं तातस्य अङ्कात् परिभ्रष्टा मलयपर्वतोन्मूलितेव चन्दनलता देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि।)

(इति रोदिति)

कथमपि दुर्ग्रहेणेत्यर्थः। स्नेहप्रवृत्तिं प्रेमचेष्टां, भावप्रवृत्तिमिति शङ्करः। सामान्येति साधारण गौरवपुरःसरं प्रतिपत्तिः। पदप्राप्तौ प्रवृत्तौ गौरवे चेति विश्वः। दैवं प्राक्तनकर्म्म। अनुशासनीया उपदेश्या।।

शुश्रू०।। (4–20) गुरून् श्वशुरादीन् शुश्रूषस्वाराधय। चरित्रं च्छन्दसो वृत्तमिति शाश्वतः। विप्रकृतापि पीडितापि रोषणतया भर्तुः प्रतीपं प्रातिकूल्यं मा गमः। प्रतीपं कोऽपि नीत्वमिति कश्चित्। भूयिष्ठमतिशयेन सस्नेहा भव। सुखेषु नात्युत्सुका च। पदं व्यवसायं प्रतिष्ठां वा। पदं स्थाने प्रतिष्ठायामिति कोषः। वामा। एतद्विरुद्धा आधिर्मानसी व्यथा, दक्षिणश्चातिस्नेह इति विश्वः। उपदिष्टनाट्यलक्षणमिदम्। तदुक्तम्–उपदिष्टं मनोहारिवाक्यं शास्त्रानुसारतः। एतावानेव वधूजनानामुपदेशः, जात! मा विस्मरिष्यसि। तात, इत एव प्रियसख्यौ निवर्तयिष्येते। प्रदेये प्रतिपाद्ये। कथं तातस्याङ्कात् परिभ्रष्टा मलयपर्वतोन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि।।

कण्वः–वत्से, किमेव कातरासि।

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैरस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि।। 4-21।।

शकुन्तला–(पादयोः पतित्वा) ताद, वन्दामि। (तात, वन्दे।)

कण्वः–वत्से, यदहमीहे तदस्तु ते।

शकुन्तला–(सख्यावुपेत्य) सहीओ, एध दुवे वि मं समं जेव परिस्सअध। (सख्यौ, एते द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम्।)

सख्यौ–(तथा कृत्वा) सहि, जइ कदा वि सो राएसी पच्चहिण्णाणमन्थरो भवे तदो से अत्तणो णामधेअङ्किदं अङ्गुलीअअं दंसइस्ससि। (सखि, यदि कदा अपि सः राजर्षिः प्रत्यभिज्ञानमन्थरः भवेत् ततः अस्मै आत्मनः नामधेयाङ्कितम् अङ्गुरीयकं दर्शयिष्यसि।

शकुन्तला–इमिणा सन्देहेण वो कम्पिदं मे हिअअं। (अनेन सन्देहेन वां कम्पितं मे हृदयम्।)

सख्यौ–सहि, मा भाआहि। सिणेहो पावं आसङ्कदि। (सखि, मा बिभीहि। स्नेहः पापम् आशङ्कते।)

शारङ्गरवः–(विलोक्य) भगवन्, युगान्तरमधिरूढः सविता। तत्त्वरतां भवती।

शकुन्तला–(भूयः पितुरङ्कमाश्लिष्य) ताद, कदा णु क्खु भूओ तवोवणं पेक्खिस्सं। (तात, कदा नु खलु भूयः तपोवनं प्रेक्षिष्ये।)

कण्वः–वत्से,

भूत्वा चिराय सदिगन्तमहीसपत्नी
दौःषन्तिमप्रतिरथं तनयं प्रसूय।

अभि०।। (4-21) अभिजनवतः [कु]लीनस्य। कूलेस्य(त्य)भिजन इत्यमरः। तात वन्दे। सख्यौ एतमागच्छतम्। द्वे अपि युवां सममेकदैव मां परिष्वजेथाः। सखि, यदि कदाचित् स राजर्षिः प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत् तदास्मै आत्मनो नामाङ्कितमङ्गुरीयकं दर्शयिष्यसि। अमुना सन्देहेन युवयोः कम्पितं मे हृदयम्। सखि, मा भैषीः। स्नेहः पापम् आशङ्कते। युगान्तरेति। युगं प्रहर इति केचित्। हस्तचतुष्ट्यं युगमित्यन्यः। युगं कृतादिषु, युग्मे हस्तचतुष्ट्ये स्यादिति मेदिनी। तात, कदा नु खलु तपोवनं प्रेक्षिष्ये।

भूत्वा०।। (4-22) चिरकालं व्याप्य सदिगन्ताया मह्याः सपत्नी भूत्वा स्वान्तं दुःष्वन्तस्यापत्यम्। अप्रतिरथो नास्ति प्रतिरथः, परिपन्थी योधो यस्य, तत् सन्निवेशितेति तस्मिन् पुत्रे निवेशिता धूर्भारो येन। शान्त्यै मोक्षार्थं पदमवस्थानम्।।

तत्सन्निवेशितधुरेण सहैव भर्त्रा
शान्त्यै करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्।। 4–22।।

गौतमी–जाद, परिहीअदि दे गमणवेला। ता णिअत्तावेहि पिदरं, अधवा चिरेण वि एसा ण णिअत्तइस्सदि। ता णिअत्तदु भवं। (जात, परिहीयते ते गमनवेला। तत् निवर्तय पितरं। अथवा चिरेणापि एषा न निवर्तयिष्यति। तत् निवर्ततां भवान्।)

कण्वः–वत्से, उपरुध्यते मे तपोवनानुष्ठानम्।

शकुन्तला–तवोवणवावारेण णिरुक्कण्ठो तादो। अहं उण उक्कण्ठाभाइणी संवुत्ता। (तपोवनव्यापारेण निरुत्कण्ठः तातः। अहं पुनः उत्कण्ठाभागिनी संवृत्ता।)

कण्वः–अयि, किं मामेवं जडीकरोषि। (निःश्वस्य)

अपयास्यति मे शोकः कथं नु वत्से त्वयावचितपूर्वम्।
उटजद्वारि विरुढं नीवारबलिं विलोकयतः।। 4–23।।

गच्छ। शिवास्ते सन्तु पन्थानः।

(इति निष्क्रान्ताः शकुन्तलया सह गौतमी-शारङ्गरव-शारद्वतमिश्राः।)

सख्यौ–(चिरं विलोक्य सकरुणम्) हद्धी हद्धी, अन्तरिदा सउन्तला वणराईहिं। (हा धिक्, हा धिक्। अन्तरिता शकुन्तला नवराजिभिः।)

कण्वः–अनुसूये प्रियंवदे, गता वां सहचरी। निगृह्य शोकावेषं मामनुगच्छतम्।

(सर्वे प्रस्थिताः)

उभे–ताद, सउन्तलाविरहिदं सुण्णं विअ तवोवणं पविसामो। (तात, शकुन्तलाविरहितं शून्यमिव तपोवनं, प्रविशावः।)

कण्वः–स्नेहवृत्तिरेवंदर्शिनी।

(सविमर्शं परिक्रम्य)

हन्त भोः। शकुन्तलां विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्। कुतः–

जात, परिहीयते ते गमनवेला, तन्निवर्तय पितरम्। अथवा चिरेणापि नैषा निवर्तयिष्यति, अर्थात्त्वं तन्निवर्ततां भवान्। तपोवनव्यापारेण निरुत्कण्ठस्तातो भविष्यति। अहं पुनरुत्कण्ठा-भागिनी संवृत्ता।

अप0।। (4-23) शोकोऽर्थात्त्वद्विरहजः। नु प्रश्ने। बलिमुपहारम्। बलिः पूजोपहारयोरिति कोषः। हा धिक् अन्तरिता शकुन्तला वनराजिभिः। तात शकुन्तलाविरहितं शून्यमिव तपोवनं प्रविशामः। विसृज्य प्रस्थाप्य।

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामेव संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातोऽस्मि सद्यो विशदान्तरात्मा
चिरस्य निक्षेपमिवार्पयित्वा।। 4–24।।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

।। इति चतुर्थोऽङ्कः।।

अर्थः० ।। (4–24) कन्यारूपोऽर्थः संप्रेष्य प्रस्थाप्य परिगृहीतुः परिणेतुः कृते। विशदो ह्यन्तरात्मा प्रसन्नमयः। चिरस्य चिरकालं धृतं, यद्वा चिरात्।।

।। इति चतुर्थोऽङ्कः।।

—•—

।। पञ्चमोऽङ्कः ।।

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी–(निःश्वस्य) अहो बत कीदृशीं वयोऽवस्थामापन्नोऽस्मि।

आचार इत्यधिकृतेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता
प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनाय ।।5–1।।

यावदभ्यन्तरगताय देवाय स्वमनुष्ठेयमकालक्षेपार्हं निवेदयामि। (स्तोकमन्तरं गत्वा) किं पुनस्तत्। (विचिन्त्य) आम् ज्ञातम् कण्वशिष्यास्तपस्विनो देवं द्रष्टुमिच्छन्ति। भोश्चित्रमेतत्।

क्षणात्प्रबोधमायाति लङ्घ्यते तमसा पुनः।
निर्वास्यतः प्रदीपस्य शिखेव जरतो मतिः।।5–2।।

(परिक्रम्य दृष्ट्वा) एष देवः

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा
निषेवते शान्तमना विविक्तम्।
यूथानि सञ्चार्य रविप्रतप्तः
शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः।।5–3।।

कञ्चुकी। अन्तःपुरचारी वृद्धद्विजः। यदाह–अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते।। जरा वैक्लव्यमुखेन(युक्तेन)[63] विशेद्गात्रेण कञ्चुकी।। इति भरतः। यो न त्वरावह स्त्रीणामिति तृतीय–चरणमन्ये पठन्ति। आचा०।। (5–1) आचारः अधिकारः मर्यादेत्यन्ये अवरोधेत्यन्तःपुरगृहेषु। अवरोधः स्त्री वा। बहुतिथे बहुकाले, "बहु पूग[ग]णे०" (पा.सू. 5–2–52) त्यादिना तिथुक्। प्रस्थानं प्रस्थानोद्यम इति शङ्करः। सञ्चार इत्यन्यः। क्षणात्०।। (5–2) प्रबोधमायात्यर्थम् निश्चिनोति, पक्षे छन्ना[64] भवति। तमसाऽन्धकारेण[65] च निर्वास्यतो निर्वाणं गच्छतः।

प्रजा०।।(5–3) प्रजा स्यात् सन्ततौ जने इत्यमरः। तन्त्रयित्वा पालयित्वा, विविक्तं विजनदेशम्। शीतं शीतलम्। दिवा दिवसे। उपमा।

यत् सत्यं सत्यमेव। अथवाऽऽक्षेपे। भानुः०।। (5–4) देव(एक)वारम्। रात्रिन्दिवमिति। अचतुरादि–निपातनात् शेषोऽन्तः सदैव सततमेव षष्ठ्यांशवृत्ते राज्ञः धर्म्मः समुचितव्यापारः।

---

63. प्रकाशितमैथिलपुस्तके वैक्लव्ययुक्तेन इति पठ्यते।
64. दीप्ता इति 4117 इत्यत्र पठ्यते।
65. तमसाञ्जनेनान्धकारेण चेति 4118 इत्यत्र पठ्यते।

यत्सत्यं शङ्कित इवास्मीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय देवाय कण्वशिष्यागमनं निवेदयितुम्। अथवा कुतो वा विश्रामो लोकपालानाम्। तथा हि–

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव
रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः।। 5–4।।

(इति परिक्रामति)

(ततः प्रविशति राजा विदूषको विभवतश्च परिवारः।)

राजा–(अधिकारखेदं निरूप्य) सर्वः प्रार्थितमधिगम्य सुखी सम्पद्यते, राज्ञां तु चरितार्थतापि दुःखोत्तरैव। कुतः–

औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्।। 5–5।।

(नेपथ्ये)

वैतालिकौ–जयति जयति देवः।

एकः–

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः, प्रतिदिनमथ वा ते सृष्टिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं, शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्।। 5–6।।

दर्पणकारेण तु नवीकृते[ति] पाठान्तरेण पद्यमिदमुदाहृतम्। यथा भानुः सदा युक्ततुरङ्ग एव रात्रिन्दिवेति तुल्यम्। बिभर्ति।। शेषः सततं धरित्रीमित्यन्यतुल्यम्। विभवतो वैभवानुरूपं, परिवारः परिजनः। प्रत्येकं चामरादिवाहिनां कथने गौरवं स्यादिति तत् समाधानमिदम्। चरितार्थता कृतार्थता। दुःखोत्तरा दुःखप्रधाना।

औत्सुक्य०।।(5-5) औत्सुक्यम् उत्कण्ठा, कदा राजा भविष्यामीत्यादि, तामेव दुःखदायिनीं प्रतिष्ठाम् अवसादयति। लब्धपालनवृत्तिस्तु पीडयत्येव अर्थान्नृपम्। एव-शब्दो भिन्नक्रमे। एवमित्यनुभूयमान-प्रकारेणेति शङ्कर-दुर्बोधः। राज्यं कर्तृ उत्कण्ठामात्रं नाशयति प्रतिष्ठां प्रागवस्थितां ख्यातिं क्लिश्नातीत्यन्ये। राज्यमुत्कण्ठामात्रं ख्यातिं नाशयतीति तु शङ्करस्य तु कुव्याख्यानम्।। वैतालिका लक्षणया बन्दिनः।।

जाने तत्रभवती हंसवती दुःस्व(ष)न्तभार्या, वर्णपरिचयं करोति। गीतिषु चत्वारो वर्णा भवन्ति। यदाह भरतः–

स्थायी तथैव सञ्चारी, तथारोहावरोहिणौ। वर्णाश्चत्वार एवैते कथिताः सर्वगीतिषु।।
तेषां परिचयमभ्यासं वर्णनिश्चयम्। सुरजातिनिश्चयमित्यन्यः पठति।।

द्वितीयः–

नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं जनानाम्।। 7।।

राजा–(आकर्ण्य) आश्चर्यम्। एतेन कार्यानुशासनपरिश्रान्ताः पुनर्नवीकृताः स्मः।

विदूषकः–भो, गोविन्दारओ त्ति भणिदस्स रिसभस्स परिस्समो णस्सदि। (भोः, गोवृन्दारकः इति भणितस्य ऋषभस्य परिश्रमः नश्यति।)

राजा–(सस्मितम्) ननु क्रियतामासनपरिग्रहः।

(उभावुपविष्टौ परिजनश्च यथास्थानं स्थितः।)

(नेपथ्ये वीणाशब्दः)

विदूषकः–(कर्णं दत्त्वा) भो वअस्स, संगीदसालन्तरे कण्णं देहि। लअसुद्धाए वीणाए सरसंजोओ सुणीअदि। जाणे तत्थभोदी हंसवदी वण्णपरिचअं करेदि त्ति। (भोः वयस्य, सङ्गीतशालान्तरे कर्णं देहि। लयशुद्धायाः वीणायाः स्वरसंयोगः श्रूयते। जाने तत्रभवती हंसवती वर्णपरिचयं करोतीति।)

राजा–तूष्णीं भव यावदाकर्णयामि।

कञ्चुकी–(विलोक्य) अये, अन्यासक्तचित्तो देवः। तदवसरं प्रतिपालयामि।

(इत्येकान्ते स्थितः)

(नेपथ्ये गीयते।)

अहिणवमहुलोहभाविओ तह परिचुम्बिअ चूअमञ्जरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुओ महुअर वीसरिओ सि णं कइं।। 5–8।।
(अभिनवमधुलोभभावितः तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतः मधुकर विस्मृतः असि एनां कथम्)।। 5–8।।

राजा–अहो रागपरिवाहिणी गीतिः।

अहि०।। (5-8) अभिनवमधुलोभभावितः तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरि(री)म्। कमलवसतिमात्र-निर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम्।। भावितामिति शङ्करः। विस्मृत इति कर्तरि क्तः। शकुन्तलोक्तिरियम्। गौतमी पठिता गीतिरियमित्यन्यः। प्रच्छेदकाख्यं[66] लास्याङ्गमिदम्। तदुक्तम्[67]–"अन्यासक्तम् पतिं मत्वा, प्रेमविच्छेदमन्युना। वीणापुरःसरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः"।। इति। रागोऽनुरागः, स्वर इत्यन्यः।

66. मातृका 4117 इत्यत्र कार्यम् इति पठ्यते।

67. कविकण्ठहारे इति शङ्करः (पृ. 254)।

विदूषकः–भो वअस्स। किं दाव से गीदिआए गहिदो भवदा अक्खरत्थो। (भोः वयस्य, किं तावदस्याः गीतिकायाः गृहीतः भवताक्षरार्थः।)

राजा–(सस्मितम्) सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तदहं देवीं हंसवतीमन्तरेणोपालम्भम् आगतोऽस्मि। सखे माधव्य, मद्वचनादुच्यतां देवी हंसवती सम्यगुपालब्धोऽस्मीति।

विदूषकः–जं भवं आणवेदि। (उत्थाय) भो वअस्स। गहिदो तए परकेरएहिं हत्थेहिं सिहण्डए अच्छभल्लो। ता अवीदराअस्स विअ समणस्स णत्थि दाणिं मे मोक्खो। (यद्भवान् आज्ञापयति। भोः वयस्य, गृहीतः तया परकीयैः हस्तैः शिखण्डके अच्छभल्लः। तत् अवीतरागस्येव श्रमणस्य नास्ति इदानीं मे मोक्षः।)

राजा–गच्छ, नागरकवृत्त्या शान्तयैनाम्।

विदूषकः–का गदी। (का गतिः) (इति निष्क्रान्तः)

राजा–(स्वगतम्) किं नु खलु गीतमेवंविधमाकर्ण्येष्टजनविराहाद् ऋतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि। अथवा–

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनम् अबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।। 5–9।।

(अस्मृतिनिमित्तम् उन्मनस्कत्वं रूपयति)

कञ्चुकी–(उपसृत्य) जयति जयति देवः। एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः कण्वसन्देशमादाय सस्त्रीकास्तपस्विनः प्राप्ताः, इति श्रुत्वा देवः प्रमाणम्।

राजा–(सविस्मयम्) किं कण्वसन्देशहारिणः सस्त्रीकास्तपस्विनः।

कञ्चुकी–अथ किम्।

भो वयस्य, किं तावदस्या गीतिकाया गृहीतो भवतौक्षरार्थः। अन्तरेण वेदीं(देवीं) परिहायेत्यर्थः। यद्वान्तरेण तन्निमित्तमुपालम्भो दुर्वादः। हंसवतीति महादेवी नाम। यद् भवानाज्ञापयति। भो वयस्य गृहीतस्त्वया(स्तया) परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके, लक्षणया पुच्छैः। अच्छभल्लो भल्लुकः। केरकशब्द प्राकृते आत्मीये वर्तते। तस्मादवीतरागस्येव श्रमणकस्य परिव्राजकस्य नास्ति मे मोक्षः। मोचनमपवर्गश्च। नागरको विदग्धः। का गतिः, कः प्रकारः।

रम्या०।। (5–9) रम्याणि कृत्य(वीक्ष्य) द्रव्याणि। नूनं निश्चये सम्भावनायां वा। अज्ञानपूर्वं स्मरति। परिभावयति भावेति।

हृदयदृढाणि प्रमाणमिति प्रवेशाप्रवेशयोरित्यर्थः। प्रमाणं हेतुमर्य्यादा शास्त्रेयत्ता प्रमातृष्वित्यमरः। "अथ किम्" स्वीकारे।

राजा–तेन हि विज्ञाप्यतां मद्वचनादुपाध्यायः सोमरातः। अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हसीति। अहमप्येतांस्तपस्विदर्शनोचिते देशे प्रतिपालयामि।

कञ्चुकी–यथाज्ञापयसि। (इति निष्क्रान्तः।)

राजा–(उत्थाय) वेत्रवति, अग्निशरणमार्गमादेशय।

प्रतीहारी–इदो इदो एदु देवो। (परिक्रम्य) भट्टा, एसो अहिणवसंमज्जणरमणीओ संणिहिदहोमधेणू अग्गिसरणालिन्दओ। ता आरोहदु देवो।

(इतो इतो एतु देवः। भर्तः, एषः अभिनवसम्मार्जनरमणीयः सन्निहितहोमधेनुः अग्निशरणालिन्दकः, तदारोहतु देवः।)

राजा–(साभिनयमारुह्य परिजनांसावलम्बी तिष्ठन्) वेत्रवति, किमुद्दिश्य तत्रभवता कण्वेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः।

किं तावद् व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम्।
आहोस्वित्प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः।। 5–10।।

प्रतीहारी–देवस्य भुअसद्दणिव्वुदे अस्समे कुदो एदं। किं तु सुचरिदाहिणन्दिणो इसीओ देवं सभाजइदुं आगद त्ति तक्केमि।

(देवस्य भुजशब्दनिर्वृत्ते आश्रमे कुतः एतत्। किं तु सुचरिताभिनन्दिनः ऋषयः देवं समाजयितुमागताः इति तर्कयामि।)

(ततः प्रविशतो गौतमीसहितौ शकुन्तलामादाय,
कण्वशिष्यौ पुरतश्चैषां पुरोहित–कञ्चुकिनौ)

कञ्चुकी–इतो इतो भवन्तः।

पालयामि प्रतीक्षे। इत इत एतु देवः भट्टारकः। एषोऽभिनव सम्मार्जन-रमणीयः सन्निहित-होमधेनु-रग्निशरणालिन्दकस्तदारोहतु देवः। प्रघाण-प्रघणालिन्दा बहिर्द्वार प्रकोष्ठक इत्यमरः। अलिन्दो गृहलग्नगृहमिति शङ्करः।

किन्ता०।। (5–10) उत पक्षान्तरे। असत् होत्रादिकं, आहोस्विद्वितर्के विष्टम्भितः प्रतिरुद्धः। वीरुधां लतानां प्रतर्के ऊहः। देवस्य भुजशब्द[68] निर्वृत्ते आश्रमपदे। कुत इदं शब्दः ख्यातिर्दत्तेति शङ्करः[69]। किन्तु सुचरिताभिनन्दिन ऋषयो देवं सभाजयितुम् अभिनन्दयितुमागता इति तर्कयामि।

---

68. देस्य स्तुजशब्द इति 4117 इत्यत्र पठ्यते।
69. शाङ्करपाठः इति 4118 अत्यत्र पठ्यते।

शार्ङ्गरवः–सखे शारद्वत,

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव।। 5–11।।

शारद्वतः–शार्ङ्गरव, स्थाने खलु पुरप्रवेशात् तवेदृशः संवेगः। अहमपि,

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमवशः सङ्गिनमवैमि।। 5–12।।

पुरोधाः–अत एव भवद्विधा महान्तः।

शकुन्तला–(दुर्निमित्तमभिनीय) अम्मो, किं ति वामेदरं णअणं मे विप्फुरदि।

(अम्मो, किमिति वामेतरं नयनं मे विस्फुरति।)

गौतमी–जाद, पडिहदं अमङ्गलं। सुहाइं दे होन्तु। (जात, प्रतिहतममङ्गलम्। शुभानि ते भवन्तु।) (इति परिक्रामन्ति)

पुरोधाः–(राजानं निर्दिश्य) भोस्तपस्विनः, असावत्र वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनः प्रतिपालयति वः। पश्यतैनम्।

शार्ङ्गरव–काममेतदभिनन्दनीयम्। तथापि वयमत्र मध्यस्थाः। कुतः–

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-
र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।। 5-13।।

महा०।। (5-11) भगो[70] भाग्यं, स्थितिर्मर्यादा वर्णानां मध्येऽपथं विरुद्धधर्मः अपकृष्टः शूद्रः। इदं राजकुलं परिचितं विविक्तं निर्जनदेशो, यस्य परिचयेन विविक्तेन विजनेन स्थिरेणेति शङ्करदुर्बोधः। इदं जनाकीर्णं लग्नाग्निं गृहमिव मन्ये, स्थाने युक्तम्।

अभ्यक्तं 0।। (5-12) अवशोऽहं सङ्गिनं जनमेवंभूतमवैमि। स्नातः पुरुषोऽभ्यक्तं कृताभ्यङ्गं यथा वेति। एवमुत्तरत्र।। अम्मो, विस्मये कष्टे वा। किमिति वामेतरं नयनं मे स्फुरति। जात, प्रतिहतममङ्गलं, शुभानि ते भवन्तु। अभिनन्दनीयं श्लाघनीयम्, अत्र प्रमेये उदासीना न तु सम्बन्धिनः। राज्ञ एव सम्बन्धात् तथाप्यस्मद्विषयगौरवमीदृशं श्लाघ्यमेवेति भावः।

भव०।। (5-13) तरूणां घनानाञ्च उपमानविधेयोपन्यासः, तेन च दीपकालङ्कारः। स चार्थान्तरन्यासेन सह सङ्कीर्णः।

---

70. भागो इति 4118 अत्यत्र पठ्यते।

प्रतीहारी–देव, पसण्णमुहा सुत्थकप्पा विअ इसीओ दीसन्ति। (देव, प्रसन्नमुखाः स्वस्थकल्पाः इव ऋषयः दृश्यन्ते।)

राजा–(शकुन्तलां निर्वर्ण्य) अये–

केयमवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्।। 5-14।।

प्रतीहारी–भट्टा, दंसणीआकिदी खु लक्खीअदि। (भर्तः, दर्शनीयाकृतिः खलु लक्ष्यते।)

राजा–भवतु, अनिर्वर्ण्यं खलु परकलत्रम्।

शकुन्तला–(उरसि हस्तं दत्त्वा, आत्मगतम्) हिअअ, किं एवं वेवसि। अज्जउत्तस्स भावाणुबन्धं सुमरिअ धीरत्तणं दाव अवलम्बसु। (हृदय, किमेवं वेपसे। आर्यपुत्रस्य भावानुबन्धं स्मृत्वा धीरत्वं तावदवलम्बस्व।)

पुरोधाः–(पुरो गत्वा) स्वस्ति देवाय। देव, एते खलु विधिवदर्चितास्तपस्विनः। कश्चिद् एतेषूपाध्यायसन्देशः। तं देवः श्रोतुमर्हति।

राजा–(सादरम्) अवहितोऽस्मि।

शिष्यौ–(हस्तमुद्यम्य) भो राजन्, विजयतां भवान्।

राजा–(सप्रणामम्) सर्वानभिवादये वः।

शिष्यौ–स्वस्ति भवते।

राजा–अपि निर्विघ्नं तपः।

शिष्यौ–

कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि।
तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति।। 5–15।।

प्रसन्नमुखाः सुस्थकल्पा ऋषयो दृश्यन्ते। निर्वर्ण्य दृष्ट्वा।।

केयम्०।। (5-14)। तपोधनमध्ये केयमस्तीति शेषः। अवगुण्ठनं मस्तकाच्छादनवस्त्रम्। अत एव नातीति पाण्डुपत्राणामर्थात्। भर्ता महाराज। दर्शनीयाकृतिः खलु लक्ष्यति[71]। हृदय, किमेवं वेपसे, आर्यपुत्रस्य भावानुबन्धं स्मृत्वा धीरमवलम्बस्व। देवायेति, स्वस्ति योगे चतुर्थी (पा.सू. 2-3-16)। स्वस्त्याशीः क्षेमपुण्यादावित्यमरः। उद्यम्य उतोल्य, अपि प्रश्ने।

कुतः०।। (5-15) दृष्टान्तालङ्कारः। अनामयेति क्षत्रियाणां तथा प्रश्नस्यैवौचित्यात्। तथा च मनुः–ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्, क्षत(त्र)बन्धुम(न्धोर)नामयम्।।

---

71. लक्ष्यति इत्यस्य स्थाने लक्ष्यते इति भवितुमर्हति। किन्तु प्राकृतभाषायाम् आत्मनेपदस्याभावादित्थमनुद्यते।

राजा–(आत्मगतम्) सर्वथार्थवान्खलु मे राजशब्दः। (प्रकाशम्) अथ भगवान्कुशली कण्वः।

शार्ङ्गरवः–राजन्, स्वाधीनकुशलाः खलु सिद्धिमन्तः। स भवन्तम् अनामयप्रश्नपूर्वकम् इदमाह।

राजा–किमाज्ञापयति।

शार्ङ्गरवः–यन्मिथः समवायादिमां मदीयां दुहितरं भवानुपयेमे तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम्। कुतः–

त्वमर्हतां प्राग्रहरः स्मृतोऽसि नः
शकुन्तला मूर्तिमतीव सत्क्रिया।
समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः।। 5–16।।

तदिदानीमापन्नसत्त्वेयं गृह्यतां सहधर्मचरणायेति।

गौतमी–भद्दमुह, वत्तुकाम म्हि। ण मे वअणावकासो त्थि कधिदु ति। (भद्रमुख, वक्तुकामास्मि। न मे वचनावकाशोऽस्ति कथयितुमिति।)

राजा–आर्ये, कथ्यताम्।

गौतमी–

णावेक्खिओ गुरुअणो इमीअ ण तुमे वि पुच्छिआ बन्धू।
एक्कक्कमेण वरिए किं भणणउ एक्कमेक्कस्स।। 5-17।।

(नापेक्षितः गुरुजनः अनया न त्वया अपि पृष्टाः बन्धवः।
एकक्रमेण वृते किं भण्यताम् एकम् एकस्य)।। 5-17।।

त्वमर्ह०।। (5-16) अर्हतां मान्यानां मध्ये त्वं प्राग्रहरः श्रेष्ठः। नोऽस्माकं स्मृतोऽसि। समानयन् एकीकुर्वन् संयोजयन्नित्यर्थः। वधूवरमिति द्वन्द्वे विभाषयैकवद्भावः। वाच्यं वाच्यतां चिरस्येत्यव्ययम्।। सहेति पत्न्या सहधर्माचरणमेव वैदिकम्। यदाह–यत् कर्तव्यं तदनया सहेति। भद्रमुख वक्तुकामास्मि, न च मे वचनावकाशोऽस्ति कथयितुमिति।

नापे[72]०।। (5–17) नापेक्षितो गुरुजनोऽनया त्वयापि न पृष्टो बन्धुः। अन्योऽन्येन वृत्ते किं भणित्वाऽन्योन्यस्य[73]।। एक्कक्कमेणेति अन्योन्यम् इत्यर्थे "एक्क क्कस्ये" त्यप्यन्योऽन्यार्थे।। शङ्करस्तु एकैकस्य चरिते किं भणतु। एकैकस्मिन्निति पठित्वा एकैकस्य एक एकस्मिन् चरिते। अन्योन्यस्य चरिते द्वयोः परस्परविषयकप्रणयकरणे एकोऽस्मद्रूपो जनः किं भणतु। अपि तु वचनावसर एव नास्तीत्याह।।

---

72. नावो इति 4118 इत्यत्र पठ्यते।

73. शङ्करेण "एकैकस्य चरिते किं भणतु एक एकस्मिन्" इति पठितम्।

शकुन्तला–किं णु क्खु अज्जउत्तो भणिस्सदि। (किं नु खलु आर्यपुत्रः भणिष्यति।)

राजा–(साशङ्कमाकुलमाकर्ण्य) अये, किमिदमुपन्यस्तम्।

शकुन्तला–(स्वगतम्) हुं सावलेवो से वअणावक्खेवो। (हं, सावलेपः अस्य वचनावक्षेपः।)

शार्ङ्गरवः–किं नाम किमिदमुपन्यस्तमिति। ननु भवानेव सुतरां लोकवृत्तान्तनिष्णातः।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां
जनोऽन्यथा भर्तुमतीं विशङ्कते।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते
प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः।। 5–18।।

राजा–किमत्रभवती मया परिणीतपूर्वा।

शकुन्तला–(आत्मगतम् सविषादम्) हिअअ, संवुत्ता दे आसङ्का। (हृदय, संवृत्ता ते आशङ्का।)

शार्ङ्गरवः–राजन्, **किं कृतकार्यद्वेषाद्धर्मं प्रति विमुखतोचिता राज्ञः**।

राजा–कुतोऽयम् असत्कल्पनाप्रसङ्गः।

शार्ङ्गरवः–(सक्रोधम्) **मूर्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तानाम्।। 5–19।।**

राजा–विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि।

गौतमी–(शकुन्तलां प्रति) जाद, मा लज्ज। अवणइस्सं दाव दे अवगुण्ठणं। तदो भट्टा तुमं अहिजाणिस्सदि।)

(जात, मा लज्जस्व, अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम्। ततः भर्ता त्वाम् अभिज्ञास्यति।) (इति तथा करोति)

किं नु खल्वार्यपुत्रो भणिष्यति। हूं रोषसूचने। सावले[ति] सावलोपोऽस्य वचनावक्षेपः। किन्नामेति अन्न(र्थ)विशेषणं नाम नाट्यालङ्कारः।। तदुक्तम्–

उक्तस्यार्थस्य यत्तु स्यादुत्कीर्तनम् अनेकधा।
उपालम्भस्वरूपेण तत् स्यादर्थविशेषणम्।।

इति, निष्णातोऽभिज्ञः।। सती०।। (5–18) अन्यथा व्यभिचारिणीम्। परिणेतुर्वल्लभस्य। अत्रभवती श्लाघ्या। हृदय, संवृत्ता ते आशङ्का[74]।

(5–19)।। मूर्च्छन्त्वमी विकाराः कृतानङ्गीकाररूपाः।। जाते, मा लज्जस्व, अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम्। ततो भर्ता त्वामभिज्ञास्यति।।

---

74. प्रकाशितमैथिलपुस्तके खल्वाशङ्का इति पठ्यते।

राजा–(शकुन्तलां निर्वर्ण्य) (आत्मगतम्)

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यध्यवस्यन्।
भ्रमर इव निशान्ते कुन्दमन्तस्तुषारं
न खलु सपदि भोक्तुं नापि शक्नोमि मोक्तुम्।। 5–20।।

प्रतिहारी–(स्वगतम्) अहो, धम्मावेक्खिदा भट्टिणो। ईदिसं णाम सुहोवणदं इत्थीरदणं पेक्खिअ को अण्णो विआरेदि। (अहो, धर्मापेक्षिता भर्तुः, ईदृशं नाम सुखोपनतं स्त्रीरत्नं प्रेक्ष्य कः अन्यः विचारयति।)

शार्ङ्गरवः–भो राजन्, किमिदं जोषमास्यते।

राजा–भोस्तपस्विन्, चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि। तत्कथमिमाम् अभिव्यक्तसत्त्वलक्षणामात्मानं क्षेत्रियमिव मन्यमानः प्रतिपत्स्ये।

शकुन्तला–(स्वगतम्) हद्धी हद्धी कधं परिणए ज्जेव सन्देहो। भग्गा दाणिं मे दूरारोहिणी आसालदा। (हा धिक् हा धिक, कथं परिणये एव सन्देहः। भग्नेदानीं मे दूरारोहिणी आशालता।)

शार्ङ्गरवः–मा तावत्–

कृतावमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः।
दुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन।। 5–21।।

इदम्०।। (5-20) एवमुपनतमेभिः स्तुयमानयोपस्थापितं रूपमवयवसौष्ठवं समुदायशोभेति शङ्करः। कान्तिर्यौवनजन्या शोभा प्रत्यवयवशोभेति शङ्करः। अन्ये त्वेवं रूपं स्त्रीरत्नमिति व्याचक्षते। अध्यवस्यन् चिन्तयन्।। अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः। अत्र हेतुमाह–ईदृशं नाम सुखोपनतं स्त्रीरत्नं प्रेक्ष्य कोऽन्यो विचारयति। हद्धी शब्दः स्त्रियां देशी। किमितीति०। तूष्णीमर्थे मुखे[75] जोषम् इत्यमरः।। स्वीकरणं विवाहः। अभिव्यक्तेति। प्रौढगर्भा हा धिक् कथं परिणय एव सन्देहः। भग्नेदानीं मे दूरारोहिणी आशालता।

कृता०।। (5-21) त्वया तावन्मुनिः कण्वो मा विमान्यः अनादरणीयः। किं कृत्वा कृतावमर्षां स्वयं कृतपरिणयां अर्थात् त्वया सुतां अवमान्य अनादृत्य। हे मान्य। प्राचीन-विदेशीय-पुस्तकेऽयमेव पाठः। अनुमान्यमान इति पाठस्तु विचार्य्यः। येन मुनिना त्वं पात्रीकृतोऽसि पुरस्कृतोऽसि स्वकीयमर्थं प्रतिग्राहयता। त्वं कीदृक् दुष्टः कापटिकः दुष्टमिति केचित्। दस्युश्चोरः।।

इदमवस्थान्तरं गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन। अथवा आत्मा इदानीं मे मया शोधनीयः।

---

75. प्रकाशितमैथिलपुस्तके सुखे जोषम् इति पठ्यते।

शारद्वतः–शार्ङ्गरव, विरम त्वमिदानीम्। शकुन्तले, वक्तव्यमुक्तमस्माभिः। सोऽयमत्रभवान् एवमाह। दीयतामस्मै प्रतिवचनम्।

शकुन्तला–(स्वगतम्) इमं अवत्थन्तरं गदे तादिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण। अधवा अप्पा दाणिं मे सोधणीओ। भोदु। ववसिस्सं। (प्रकाशम्) अज्जउत्त ......। (इत्यर्धोक्ते) अधवा संसइदो दाणिं एसो समुदाआरो। पोरव, जुत्तं णाम तुह पुरा अस्समपदे सब्भावुत्ताणहिअअं इमं जणं तधा समअपुव्वं सम्भाविअ सम्पदं ईदिसेहिं अक्खरेहिं पच्चाचक्खिदुं। (इदं अवस्थान्तरं गते तादृशे अनुरागे किं वा स्मारितेन। अथवा आत्मेदानीं मे शोधनीयः। भवतु। व्यवसिष्यामि। आर्यपुत्र ....., अथवा संशयितः इदानीमेषः समुदाचारः। पौरव, युक्तं नाम तव पुराश्रमपदे सद्भावोत्तानहृदयमिमं जनं तथा समयपूर्वं सम्भाव्य साम्प्रतमीदृशैः अक्षरैः प्रत्याख्यातुम्।)

राजा–(कर्णौ पिधाय) शान्तं शान्तम्।

व्यपदेशमाविलयितुं समीहसे मां च नाम पातयितुम्।
कूलङ्कषेव सिन्धुः प्रसन्नमोघं तटतरुं च।। 5–22।।

शकुन्तला–भोदु, परमत्थदो जइ परपरिग्गहसङ्किणा तए एदं पउत्तं ता अहिण्णाणेण केणावि तुह सन्देहं अवणइस्सं। (भवतु, परमार्थतः यदि परपरिग्रहशङ्किना त्वया इदं प्रत्युक्तं, तद् अभिज्ञानेन केनापि तव सन्देहम् अपनेष्यामि।)

राजा–प्रथमः कल्पः।

शकुन्तला–(मुद्रास्थानं परामृश्य) हद्धी हद्धी। अङ्गुलीअअसुण्णा मे अङ्गुली। (हा धिक् हा धिक्। अङ्गुरीयकशून्या मे अङ्गुली।)

(इति सविषादं गौतमीमीक्षते)

गौतमी–जाद, णं दे सक्कावदारे सचीतित्थे उदअं वन्दमाणाए पब्भट्ठं अङ्गुलीअअं। (जात, ननु ते शक्रावतारे शचीतीर्थे उदकं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमङ्गुरीयकम्।)

शङ्करस्तु शोचनीय इति पठित्वा, सदसि तादृशं रहस्यप्रकाशनात् त्रपया शोचनीया भविष्यसीति भावः इत्याह। भवतु व्यवस्यामि रहस्यं वक्तुमिति शेषः। वदिष्यामीति शाङ्करः पाठः।

आर्यपुत्र, प्रथमं संशयित, इदानीमेष समुदाचारः। कलत्रभावस्य सन्दिग्धत्वादित्यर्थः। पौरव, युक्तं नाम तव पुरा आश्रमपदे सद्भावोत्तान हृदयमिमं जनं तथा समयपूर्वं सम्भाव्य सांप्रतमीदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम्। वारणे शान्तमव्ययमिति कोषः। ईदृश व्याहारो निवार्य्यतामित्यर्थः।

व्यप० ।। (5–22) व्यपदेशः कुलं नाम वा। आविलयितुम् दूषयितुम्, कूत(ल)ङ्कषा तटवारणी सिन्धुर्नदी, ओघं प्रवाहम्। भवतु, परमार्थतो यदि परपरिग्रहशङ्किना त्वया इदं प्रयुक्तम्, तदभिज्ञानं केनापि तव सन्देहम् अपनेष्यामि। कल्पः पक्षः, प्रकारो वा। मुद्राङ्गुरीयम्। हा धिक् अङ्गुरीयशून्यं मेऽङ्गुलम्।

राजा–इदं तत्प्रत्युत्पन्नमतित्वं स्त्रीणाम्।

शकुन्तला–एत्थ दाव विहिणा दंसिदं पहुत्तणं। अवरं दे कधइस्सं। (अत्र तावद्विधिना दर्शितं प्रभुत्वम्। अपरं ते कथयिष्यामि।)

राजा–श्रोतव्यमिदानीं संवृत्तम्।

शकुन्तला–णं एक्कदिअसं वेदसलदामण्डवे णलिणीवत्तभाअणगदं उदअं तुह हत्थे संणिहिदं आसि। (नन्वेकदिवसं वेतसलतामण्डपे नलिनीपत्रभाजनगतमुदकं तव हस्ते सन्निहितम् आसीत्।)

राजा–शृणुमस्तावत्।

शकुन्तला–तक्खणं सो मम पुत्तकिदओ मिअसावओ उवत्थिदो। तदो तए अअं दाव पढमं पिवदु त्ति अणुकम्पिणा उवच्छन्दिदो। ण उण दे अवरिचिदस्स हत्थादो उदअं उवगदो पादुं। पच्छा तस्सिं जेव उदए मए गहिदे किदो तेण पणओ। एत्थन्तरे विहसिअ भणिदं तए। सच्चं सव्वो सगन्धे वीससदि जदो दुवे वि तुम्हे आरण्णकाओ त्ति। (तत्क्षणं सः मम पुत्रकृतकः मृगशावकः उपस्थितः। ततः त्वया अयं तावत् प्रथमं पिबतु इति अनुकम्पिना उपच्छन्दितः। न पुनः ते अपरिचितस्य हस्ताद् उदकमुपगतः पातुम्। पश्चात्तस्मिन्नेव उदके मया गृहीते कृतः तेन प्रणयः। अत्रान्तरे विहस्य भणितं त्वया–सत्यं, सर्वः सगन्धे विश्वसिति, यतः द्वावपि युवामारण्यकौ इति।)

राजा–आभिस्ताभिरात्मकार्यनिर्वर्त्तिनीभिर्मधुराभिरनृतवाग्भिराकृष्यन्ते विषयिणः।

गौतमी–महाराअ, णारिहसि एवं मन्तिदुं। तवोवणसंवड्ढिदो क्खु अअं जणो अणहिण्णो केदवस्स।

(महाराज, नार्हसि एवं मन्त्रयितुम्। तपोवनसंवर्धितः खल्वयं जनः अनभिज्ञः कैतवस्य।)

जाते, न खलु शक्रावतारे शचीतीर्थोदकं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमङ्गुरीयकम्। नः काकौ। अत्र तावद्विधिना दर्शितं प्रभुत्वम्। अपरं कथयिष्यामि।

नन्वेकदिवसे वेतसलतामण्डपे नलिनीपत्रभाजनगतम् उदकं तव हस्ते सन्नि[हि]तमासीत्। तत् क्षणं स मम कृतकपुत्रो मृगशावक उपस्थितः, ततस्त्वया“ ऽयन्तावत् प्रथमं पिबत्वि”ति अनुकम्पिना उपच्छन्दितः प्रलोभितः। [न] पुनस्तेऽपचि(रिचि)तस्य हस्तादुदकमुपगतः पातुं। पश्चात् तस्मिन्नेवोदके मया गृहीते कृतस्तेन प्रणयो विश्वासः।

अत्रान्तरे विहस्य त्वया भणितं “सत्यं, कु(स)र्व्वः सगन्धे सदृशे सन्निहिते वाश्वसिते”। गन्धो लेशे तथामोदे गन्धः सम्बन्धमात्रक इति कोषः। यतो द्वावपि युवामारण्यकाविति। महाभाग, नार्हसि एवं मन्त्रयितुं तपोवनसम्वर्द्धितः खल्वयं जनः अनभिज्ञः कैतवस्य।।

स्त्रीणां०।। (5-23) अमानुषीणां ज्ञानशून्यानामर्थात् प्राक् पूर्व्वं जातं समूहं पक्षिभिः

राजा–तापसवृद्धे,

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु
संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरीक्षगमनात्स्वमपत्यजातम् ,
अन्यद्विजैः परभृताः किल पोषयन्ति।। 5–23।।

शकुन्तला–(सरोषम्) अणज्ज, अत्तणो हिअआणुमाणेण किल सव्वं एदं पेक्खसि। को णाम अण्णो धम्मकञ्चुअववदेसिणो तणच्छण्णकूवोवमस्स तुह अणुकारी भविस्सदि। (अनार्य, आत्मनः हृदयानुमानेन किल सर्वमेतत्प्रेक्षसे। कः नामान्यः धर्मकञ्चुकव्यपदेशिनः तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकारी भविष्यति।)

राजा–(स्वगतम्) वनवासादविभ्रमः पुनरत्रभवत्याः कोपो लक्ष्यते। तथा हि–

न तिर्यगवलोकितं भवति चक्षुरालोहितं
वचोऽपि परुषाक्षरं न च पदेषु संसज्जते।
हिमार्त इव वेपते सकल एष बिम्बाधरः
स्वभावविनते भ्रुवौ युगपदेव भेदं गते।। 5-24।।

अथवा सन्दिग्धबुद्धिं मामधिगत्याकैतवच्छायया कोपोऽस्याः। तथा ह्यनया–

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने।
भेदाद्भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य।। 5–25।।

(प्रकाशम्) भद्रे, प्रथितं दुःषन्तचरितं प्रजासु। नापीदं दृश्यते।

[**शकुन्तला**–

तुह्मे ज्जेव पमाणं जाणध धम्मत्थिदिञ्च लोअस्स।
लज्जाविणिज्जिदाओ जाणन्ति ण किम्पि महिलाओ।। 5–26।।

अर्थान्तरन्यासः। प्रतिवस्तूपमेत्यन्यः। अनार्य्य, आत्मनो हृदयानुमानेन सर्वमेतत् प्रेक्षसे। को नामा नान्यो धर्म्मकञ्चुकव्यपदेशिनः धर्म्मानुरुद्धात्मकत्व-प्रकाशिनः। "पावसिनो" इति प्रायः पाठः। तृणच्छन्नकृ(कू)पोपमस्य तवानुकारी भविष्यति। अविद्भ(भ्र)मो विलासशून्यः।। न ति०।। (5-24) तिर्य्यक् कुटिलं न भवतीत्यन्वयः आलोहितमत्यन्तारुणं तव्यास्ववास स्यात् पदेषु सुप्तिङ् रूपेषु संसज्यते स्खलति, न संशय्यते सन्दिग्धं न भवति। ततो गद्गदस्वरादि प्रायो वैदग्धे भवतीति शङ्करः। प्रकाशमत्यर्थं कामिनीभावविलासम् अभिनेतुं तिर्य्यग्वीक्ष्यते ईषदरुणलोचना च स्यात् अपराद्धं सकम्पं करोति ईषदानतां भ्रुवमेकां विभिन्नां करोति इयन्तु न तथेति भावः। मय्येवेति।। (5–25) सुगमम्।। तुस्थे(ह्मे)०।। (5–26)। यूयमेव प्रमाणं जानीथ धर्म्मस्थितिञ्च लोकस्य, लज्जाविनिर्ज्जिता जानन्ति न किमपि महिलाः। गाथेयं, पुराणपुस्तके न दृश्यते, नातिचारुः।

सुष्ठु इदानीं स्वच्छन्दचारिणी समुपाश्रिता। अर्थादनेन या एतस्य पुरुवंशप्रत्यायनमुखमधुना

(यूयमेव प्रमाणं जानीथ धर्मस्थितिश्च लोकस्य।
लज्जाविनिर्जिता जानन्ति न किमपि महिला:)।। 5–26।।][76]

सुट्ठु। इदाणिं अत्तच्छन्दाणुआरिणी संवुत्त म्हि जा इमस्स पुरुवंसस्स पच्चएण मुहमहुणो हिअअपत्थरस्स हत्थब्भासं उवगदा।

(सुष्ठु, इदानीमात्मच्छन्दानुकारिणी संवृत्तास्मि, या अस्य पुरुवंशस्य प्रत्ययेन मुखमधो: हृदयप्रस्तरस्य हस्ताभ्यासमुपगता।)

(इति पटान्तेन मुखमावृत्य रोदिति।)

शार्ङ्गरव:–इत्थमप्रतिहतं चापलं दहति।

अत: समीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्सङ्गतं रह:।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्।। 5–27।।

राजा–अयि भो:। किमत्रभवतीवचनसम्प्रत्ययादेवास्मान्सम्भृतदोषैरधिक्षिपथ।

शार्ङ्गरव:–(सासूयम्) श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम्।

आ जन्मन: शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य।
पराभिसंधानमधीयते यै र्विद्येति ते सन्ति किलाप्तवाच:।। 5–28।।

राजा–हंहो सत्यवादिन्, अभ्युपगतं तावदस्माभिरेवंविधा एव वयम्। किं पुनरिमाम् अभिसन्धाय लभ्यते।

शार्ङ्गरव:–विनिपात:।

राजा–विनिपात: पौरवैर्लभ्यत इत्यश्रद्धेयमेतत्।

शार्ङ्गरव:–भो राजन्, किमत्रोत्तरोत्तरै:। अनुष्ठितो गुरुनियोग:। सम्प्रति निवर्तामहे वयम्।

तदेषा भवत: पत्नी त्यज वैनां गृहाण वा।
उपयन्तुर्हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।। 5–29।।

गौतमि, गच्छाग्रत:। (इति प्रस्थिता:)

मधुवचनस्येत्यर्थ:। हृदयशस्त्रधारकस्य हस्ताभ्यासमुपगता। अभ्यास: समीपम्। अधरोत्तरं निकृष्टप्राधान्यम्।।

आ ज०।। (5–28) अशिक्षित इति कर्तरि क्त:। अभिज्ञानं हिंसा मद्येति सोलुण्ठम्। हं हो सत्यवादिन् इति अक्षमा नाट्यालङ्कार:। तदुक्तम्–अक्षमा स्यात् परिभव: स्वल्पोऽपि न विसह्यत इति। सक्रोधम् आह–"विनिपातो" नरकगमनम्। तदे०।। (5–29) उपयन्तु: परिणेतु:, सर्वतोमुखी सर्वकरणसमर्था।

---

76. अंशोऽयं रिचार्ड पिशेलेन सम्पादिते पाठे न स्वीकृत:।

शकुन्तला–अहं इमिणा दाव किदवेण विप्पलद्धा। तुम्हे वि मं परिच्चअध। (अहं अनेन तावत्कितवेन विप्रलब्धा। यूयमपि मां परित्यजथ।)

(इत्यनुप्रतिष्ठते)

गौतमी–(परिवृत्त्यावलोक्य च) वच्छ सङ्गरव, अणुगच्छदि णो करुणपरिदेविणी सउन्तला। पच्चादेसपिसुणे भत्तारे किं करेदु तवस्सिणी। (वत्स शार्ङ्गरव, अनुगच्छति नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला। प्रत्यादेशपिशुने भर्तरि किं करोतु तपस्विनी।)

शार्ङ्गरवः–(सरोषं निवृत्य) आः पुरोभागिनि। किमिदं स्वातन्त्र्यमवलम्बसे।

(शकुन्तला भीता वेपते)

शार्ङ्गरवः–शृणोतु भवती।

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः
पतिगृहे तव दास्यमपि क्षमम्।। 5–30।।

तिष्ठ। साधयामो वयम्।

राजा–भोस्तपस्विन्, किमत्रभवती विप्रलभ्यते। पश्य–

कुमुदान्येव शशाङ्कः, सविता बोधयति पङ्कजान्येव।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः।। 5–31।।

शार्ङ्गरवः–राजन्, अथ पुनः पूर्ववृत्तं व्यासङ्गाद् विस्मृतं भवेत् तदा कथम् अधर्मभीरो-र्दारपरित्यागः।

राजा–भवन्तमेव गुरुलाघवं पृच्छामि।

मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः।। 5–32।।

अहमेतेन तावत् कितवेन विप्रलब्धा। यूयमपि मां परित्यजत। वत्स शार्ङ्गरव अनुगच्छति नः करुणपरिदेविनी। प्रत्यादेशपिशुने भर्तरि किं करोतु तपस्विनी दीना। आः कोपे। दोषैकदृक् पुरोभागीत्यमरः।

यदि०।। (5-30) उत्कुलया कूलमुल्लङ्घ्य स्थितया। अथ पक्षान्तरे।

कुमु०।। (5-31) परिग्रहः पत्नी अर्थान्तरन्यासः। अथेति तत् प्रासनाख्य नाट्यालङ्कारः। तदुक्तम्–उत् प्रासन्तूपहासो योऽसाधौ साधुमानिनीति।

मृ(मूढ)०।। (5-32) अहो विकल्पे, परमापरिग्रहणा दारत्याग एव वरमिति भावः। नैमित्तिकैर्गणकैः।

पुरोधाः–(विचार्य) यदि तावदेवं क्रियते।

राजा–अनुशास्तु गुरुः।

पुरोधाः–अत्रभवती तावद् आप्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु।

राजा–कुत इदम्।

पुरोधाः–त्वं साधुनैमित्तिकैरादिष्टपूर्वः प्रथममेवोभयचक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति। स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भवति, ततः प्रतिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि। विपर्यये त्वस्याः पितुः समीपगमनं स्थितमेव।

राजा–यथा गुरुभ्यो रोचते।

पुरोधाः–(उत्थाय) वत्से, इतो इतोऽनुगच्छ माम्।

शकुन्तला–भअवदि वसुंधरे। देहि मे अन्तरं। (भगवति वसुन्धरे, देहि मे अन्तरम्।)

(इति सह पुरोधसा तपस्विभिर्गौतम्या च रुदती प्रस्थिता।
राजा शापव्यवहितस्मृतिः शकुन्तलामेव चिन्तयति।)

(नेपथ्ये) आश्चर्यम् आश्चर्यम् ....।

राजा–(कर्णं दत्त्वा) किं नु खलु स्यात्।

पुरोधाः–(प्रविश्य, सविस्मयम्) देव, अद्भुतं खलु वृत्तम्।

राजा–किमिव।

पुरोधाः–परावृत्तेषु कण्वशिष्येषु–

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला बाहूत्क्षेपं रोदितुं च प्रवृत्ता।

राजा–किं तदानीम्।

पुरोधाः– **स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारात्**
क्षिप्त्वैवाशु ज्योतिरेनां तिरोऽभूत्।। 5–33।।

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति)

(भगवति) वसुधे, देहि मे अन्तरम् अवकाशम्।।

सा नि०।। (5-33)।। बाहूत्क्षेपं यथा स्यात्। स्त्रीभिः स्त्रिया इव संस्थानम् आकृतिर्यस्य। आरान्निकट-दूरान्तिकार्थादिति षष्ठ्यर्थे द्वितीया। प्रत्यादिष्टो निराकृतः।।

राजा–गुरो, प्रथमम् एवास्माभिरेषोऽर्थः प्रत्यादिष्टः। किं मृषा तर्केणान्विष्यते। विश्राम्यताम्।

पुरोधाः–विजयस्व। (इति निष्क्रान्तः)

राजा–वेत्रवति, पर्याकुल इवास्मि। शयनीयगृहमादेशय।

प्रतीहारी–इदो इदो एदु देवो। (इतो इतो एतु देव।)

राजा–(परिक्रामन् स्वगतम्)

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम्।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्यायतीव मां हृदयम्।।5–34।।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

।। पञ्चमोऽङ्कः।।

कामं०।। (5–34) बलवदतिशयेन दूयमानं हृदयं कर्तृ।।

।। इति पञ्चमोऽङ्कः।।

—•—

।। षष्ठोऽङ्कः ।।

(ततः प्रविशति नागरकः पश्चाद्बाहुबन्धं पुरुषमादाय रक्षिणौ च)

रक्षिणौ–(पुरुषं ताडयित्वा) हण्डे कुम्भिलआ। कधेहि कहिं तए एशे महालदणभाशुले उक्किण्णणाम कले लाअकीए अङ्गुलीअए शमाशादिदे। (हण्डे कुम्भीलक, कथय कुत्र त्वया एतन्महारत्नभासुरम् उत्कीर्णनामाक्षरं राजकीयमङ्गुरीयकं समासादितम्।)

धीवरकः–(भीतिनाटितकेन) पशीदन्तु भावमिश्शा। ण हगे ईदिशश्श अकय्यश्श कालके। (प्रसीदन्तु भावमिश्राः, नाहम् ईदृशस्याकार्यस्य कारकः।)

एकः–किं णु क्खु शोहणे बम्हणे शि त्ति कदुअ लञ्ञा दे पलिग्गहे दिण्णे। (किं नु खलु शोभनः ब्राह्मणोऽसि इति कृत्वा राज्ञा ते परिग्रहः दत्तः।)

धीवरकः–शुणध दाव। हगे क्खु शक्कावदालवाशी धीवले। (शृणुत तावत् अहं खलु शक्रावतारवासी धीवरः।)

द्वितीयः–हण्डे पाडच्चला, किं तुमं अस्मेहिं यादिं वशदिं च पुश्चिदे। (हण्डे पाटच्चरः, किं त्वम् अस्माभिः जातिं वसतिं च पृष्टः।)

नागरकः–सूअअ, कधेदु सव्वं कमेण। मा णं पडिबन्धेध। (सूचक, कथयतु सर्वं क्रमेण। मा एनं प्रतिबध्नीतम्।)

उभौ–यं लाउत्ते आणवेदि। लवेहि ले लवेहि। (यदीश्वरः आज्ञापयति। लप रे लप।)

धीवरकः–शे हगे यालवडिशप्पहुदीहिं मश्चबन्धणोवाएहिं कुडुम्बभलणं कलेमि। (सोऽहं जालबडिशप्रभृतिभिः मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि।)

नागरकः–(प्रहस्य) विसुद्धो दाणिं दे आजीवो। (विशुद्धः इदानीं ते आजीवः।)

हण्डे नीचसम्बोधने। बन्दिचोरो याचनः स्यात्। कुम्भीलः सन्नि(न्धि)कारक इति हारावली। अरे कुम्भीलक कथय कुत्र त्वया इदं महारत्नभास्वरम् उत्कीर्णनामाक्षरं राजकीयमङ्गुरीयकं समासादितम्। नाटितकमभिनयः। भावा मान्याः मिश्राः प्रधानाः। नाहमीदृशस्याकार्य्यस्य कारकः। किं खलु शोभनो ब्राह्मण इति कृत्वा राज्ञा ते प्रतिग्रहो दत्तः[77]। शृणु तावद् अहं खलु शक्रावतारवासी धीवरः। शक्रेति तीर्थभेदः। हण्डे पाटच्चर चौरः। किं त्वमस्माभिर्जातिं वसतिञ्च पुष्टः। सूचक कथयतु सर्वं क्रमेण। मैनं प्रतिबध्नीहि। सूचकेति रक्षकनाम। यदीश्वर आज्ञापयति। न पा(आवुत)वेत पवातनशब्द ईश्वरे देशी। सोऽहं जालबडिशप्रभृतिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि। बडिशं मत्स्यवेधनमित्यमरः। विशुद्ध इदानीं ते आजीवः, जीवनोपायः। भर्तु(र्त)र्मा एवं भण।

---

77. इतः परं "कुतोपि स्वेच्छया प्राप्तः संगतो नोभयोरपि। विष्कंभकः। सविज्ञेयः–थार्थस्यापि सूचकः। असूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो नैव दृश्यते। अतः प्रधानपात्राणां सूचकः स्यात्। प्रवेशकः। बीजं बिन्दुः पताका न प्रकरी कार्यमेव च। अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधिः" इत्यधिकम् 4118 इत्यत्रैव पठ्यते।

धीवरकः–भस्टके, मा एवं भण। (भर्तः, मैवं भण।)

शहये किल ये वि णिन्दिदे ण हु शे कम्म विवय्यणीअके।
पशुमालिं कलेदि दालुणं अणुकम्पामिदुले वि शोणिके।।6–1।।
(सहजं किल यद्यपि निन्दितं न खलु तत् कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणं करोति दारुणमनुकम्पामृदुलोऽपि सौनिकः)।।6–1।।

नागरकः–तदो तदो। (ततस्ततः।)

धीवरकः–अध एक्कदिअशं मए लोहिदमश्चके खण्डशो कप्पिदे। यावतश्श उदलब्भन्तले एदं महालदणभाशुलं अङ्गुलीअअं पेस्कामि। पश्चाइध विक्कअस्तं णं दंशअन्ते य्येव गहिदे भावमिश्शेहिं। एत्तिके दाव एदश्श आगमे। अधुणा मालेध वा कुस्टेध वा। (अथैकदिवसं मया रोहितमत्स्यः खण्डशः कल्पितः। यावत्तस्य उदराभ्यन्तरे एतत् महारत्नभासुरमङ्गुरीयकं प्रेक्षे। पश्चादिह विक्रयार्थमेतद्दर्शयन्नेव गृहीतः भावमिश्रैः। एषः तावदेतस्यागमः। अधुना मारयत वा कुट्टयत वा।)

नागरकः–(अङ्गुरीयकमाघ्राय) जाणुअ, मच्छोदरसंठिदं ति णत्थि संदेहो। तधा अअं से विस्सगन्धो। आगमो दाणिं एदस्स विमरिसिदव्वो। ता एध राअउलं जेव गच्छम्ह। (जानुक, मत्स्योदरसंस्थितमिति नास्ति सन्देहः। तथायमस्य विस्रगन्धः आगमः इदानीमेतस्य विमर्ष्टव्यः। तदितः राजकुलमेव गच्छामः।)

रक्षिणौ–(धीवरं प्रति) गश्च ले गण्ठिश्चेदआ गश्च। (गच्छ रे ग्रन्थिच्छेदक गच्छ।)

(इति परिक्रामन्ति)

सह० ।। (6–1)

सहजं किल यदपि निन्दितं न खलु तत् कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणं करोति कारणात् षट्कर्म्मा विदुरो श्रोत्रियः।।

सहजं कुलक्रमागतम्। हेतुमाह विदुरो विद्वान् पशुमारणं करोति कारणात्। महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियेत्यादिः स्मृतिवचनात्। यज्ञादीति षट्कर्म्माणि त्रिभिः श्रोत्रिय इत्यादि। तथा च विरुद्धमेतत् परम्परयायातं कुर्वतो नीचस्य मम न दूषणमिति भावः।। ततस्ततः। तत एकदिवसे मया रोहितमत्स्यः खण्डशः कल्पितः कृतो वा। यावत्तस्योदराभ्यन्तरे इदं महारत्नभास्वरम् अङ्गुरीयकं प्रेक्ष्ये। यावद् वाक्यालङ्कारे। पश्चादिह विक्रियार्थमिदं दर्शयन्नेव गृहीतो भावमिश्रैः, एतावानेवास्यागमः। अधुना मारयथ कर्तु(र्त)यथ वा।।

जानुकेत्यपर रक्षकस्य नाम। जानुक! मत्स्योदरसंस्थितमिति नास्ति सन्देहः। यथास्य विस्रगन्ध आमिषगन्धो वेति आगम इदानीमेतस्य विलषि(मर्षि)तव्यः। मत्स्योदक(र)प्रवेशः कथमस्येति ज्ञातव्यमित्यर्थः। तद्राजकुलमेव गच्छामः। तत्रैव वृत्तान्तमिदं ज्ञास्याम इति भावः।

आगच्छ रे ग्रन्थिच्छेदक आगच्छ। आगच्छ रे ग्रन्थिच्छेदक आगच्छ।

नागरकः–सूअअ, इध गोउरदुआरे अप्पमत्ता पडिवालेध मं जाव राअउलं पविसिअ णिक्कमामि। (सूचक, इह गोपुरद्वारेऽप्रमत्तौ प्रतिपालयतं मां, यावद् राजकुलं प्रविश्य निष्क्रामामि।)

उभौ–पविशदु लाउत्ते शामिप्पशादस्तं। (प्रविशतु ईश्वरः स्वामिप्रसादार्थम्।)

नागरकः–तधा। (तथा) (इति निष्क्रान्तः)

सूचकः–याणुअ, चिलाअदि लाउत्ते। (जानुक, चिरायति ईश्वरः।)

जानुकः–णं अवशलोवशप्पणीआ खु लाआणो होन्ति। (ननु अवसरोपसर्पिणीयाः खलु राजानः भवन्ति।)

सूचकः–याणुअ, स्फुलन्ति मे अग्गहस्ता। (धीवरं निर्दिश्य) इमं गण्ठिश्चेदअं वावादेदुं। (जानुक, स्फुरन्ति मे अग्रहस्ताः। इमं ग्रन्थिच्छेकं व्यापादयितुम्।)

धीवरकः–णालिहदि भावे अकालणमालके भविदुं। (नार्हति भावः अकारणमारकः भवितुम्।)

जानुकः–(विलोक्य) एशे अस्माणं ईशले पत्ते गेण्हिअ लाअशाशणं। (धीवरं प्रति) ता शउलाणं मुहं पेस्कशि अधवा गिद्धशिआलाणं बली भविश्शशि। (एषः अस्माकम् ईश्वरः प्राप्तः गृहीत्वा राजशासनम्। तत् स्वकुलानां मुखं प्रेक्षसे अथवा गृध्रशृगालानां बलिः भविष्यसि।)

प्रविश्य नागरकः–सिग्धं सिग्धं एदं। (शीघ्रं शीघ्रं एतम्।) (इत्यर्धोक्ते)

धीवरकः–हा हदे स्मि। (हा हतोऽस्मि।) (इति विषादं नाटयति)

नागरकः–मुञ्चेध रे मुञ्चेध जालोवजीविणं। उववण्णो से किल अङ्गुलीअअस्स आगमो। अम्हसामिणा जेव मे कधिदं। (मुञ्चतं रे मुञ्चतम् जालोपजीविनम्। उपपन्नः अस्य किल अङ्गुरीयकस्यागमः। अस्मत्स्वामिना एव मे कथितम्।)

सूचकः–यधा आणवेदि लाउत्ते। यमवशदिं गदुअ पडिणिउत्ते क्खु एशे।

सूचक–इह गोपुरद्वारे अप्रमत्ताववहितौ परिपालये मां। यावद् राजकुलं प्रविश्य निष्क्रामामि। प्रविशन्त्वीश्वरः स्वामिप्रसादार्थम्। चिरयतीश्वरः। नन्ववसरोपसर्पणीया राजानो भवन्ति। जानुक, स्फुरति मेऽयं हस्तः, इमं ग्रन्थिच्छेदकं व्यापादयितुम्। नार्हति भावोऽकारणमारको भवितुम्। एषोऽस्माकमीश्वरः प्राप्तः गृहीत्वा राजशासनं। आज्ञां तत् कुल्यानां बान्धवानां शकु{न्त}लानां मत्स्यानामामुखं प्रेक्षय। अथवा शृगालगृधबलिर्भव बलिरूपद्वा(हा)रः।। शीघ्रं शीघ्रमेतम्। हा हतोऽस्मि। मुञ्चतं जालोपजीविनम्। उपपन्नः किलास्याङ्गुरीयकस्यागमः। अस्मत् स्वामिना यावदस्य कथितं अस्याङ्गुरीयस्य तत्त्वं कथितमित्यर्थः। यथाज्ञापयतीश्वरः। यमवसतिं गत्वा प्रतिनिवृत्तं वपुषः। भर्तुस्तव केल/रकं(भर्तस्तव क्रीतं) तदीयमित्यर्थः। साम्प्रतमस्माकजीवितम्। उव(प)क्रीतमिति तु शङ्करव्याख्या विचार्य्या।।

(यथा आज्ञापयति ईश्वरः। यमवसतिं गत्वा प्रतिनिवृत्तः खल्वेषः।)

(इति धीवरं बन्धनान्मोचयति)

धीवरकः–(नागरकं प्रणम्य) भस्टके, तव केलके मम यीविदे। (भर्तः, त्वदीयं मम जीवितम्।)

(इति पादयोः पतति।)

नागरकः–उत्थेहि उत्थेहि, एसो भट्टिणा अङ्गुलीअअमुल्लसंमिदो पारिदोसिओ दे पसादीकिदो। ता गेण्ह एदं। (उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ, एतद्भर्त्रा अङ्गुरीयकमूल्यसंमितं पारितोषिकं ते प्रसादीकृतम्। तत् गृहाण एतत्।) (इति धीवराय कटकं प्रयच्छति)

धीवरकः–(सहर्षं प्रतिगृह्य) अणुग्गहिदे स्मि। (अनुगृहीतोऽस्मि।)

जानुकः–एशे क्खु लञ्ञा तधा णाम अणुग्गहिदे यं शूलादो ओदालिअ हस्तिस्कन्धं शमालोविदे। (एषः खलु राज्ञा तथा नाम अनुगृहीतः यत् शूलादवतार्य हस्तिस्कन्धं समारोपितः।)

सूचकः–लाउत्ते, पालिदोशिए कधेदि महालिहलदणेण तेण अङ्गुलीअएण शामिणो बहुमदेण होदव्वं त्ति। (ईश्वर, पारितोषिकं कथयति महार्हरत्नेन तेन अङ्गुरीयकेन स्वामिनः बहुमतेन भवितव्यमिति।)

नागरकः–णं तस्सिं भट्टिणो महारिहरदणं ति ण परिदोसो। एत्तिकं उण। (ननु तस्मिन् भर्तुः महार्हरत्नमिति न परितोषः। एतावत् पुनः।)

उभौ–किं णाम। (किं नाम।)

नागरकः–तक्केमि तस्स दंसणेण को वि हिअअट्ठिदो जणो भट्टिणा सुमरिदो त्ति जदो तं पेक्खिअ मुहुत्तअं पइदिगम्भीरो वि पज्जुस्सुअमणो आसि। (तर्कयामि तस्य दर्शनेन कोऽपि हृदयस्थितः जनः भर्त्रा स्मृतः इति, यतः तत् प्रेक्ष्य मुहूर्तकं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्युत्सुकमनाआसीत्।)

सूचकः–तोशिदे दाणिं भस्टा लाउत्तेण। (तोषितः इदानीं भर्ता ईश्वरेणः।)

जानुकः–णं भणामि इमश्श मश्चलीशत्तुणो किदे त्ति। (ननु भणाम्यस्य मत्स्यशत्रोः कृते इति।) (इति धीवरमसूयया पश्यति)

उत्तिष्ठ, एष भर्त्राङ्गुरीयक-मूल्य-सम्मितस्तुलितः पारितोषिकस्ते प्रसादीकृतस्तद् गृहाणैतत्। अनुगृहीतोऽस्मि। एष खलु राज्ञा तथानुगृहीतः यच्छूलादवतार्य्य हस्तिस्कन्धं समारोपितः। ईश्वरः–पारितोषिकः कथयति महार्हरत्नेन तेनाङ्गुरीयकेन स्वामिनो बहुमतेन भवितव्यमिति। ननु तस्मिन् भर्तुर्महार्हरत्नमिति न परितोषितः। एतावत् पुनस्तर्कयामि तस्य दर्शनेन कोऽपि हृदयेन्तो(यस्थो) जनो भर्त्रा स्मृत इति।

यथा मुहूर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्युत्सुकमना आसीत्।। तोषित इदानीं भर्त्रा ईश्वरेण। ननु भणाम्यस्य मत्स्यशत्रोः कृते। एतत् प्रयोजनार्थमेव भर्त्रा राजसन्तोषः कृत इति भावः।

धीवरकः–भस्टका, इदो अद्धं तुस्माणं पि शुलामुल्लं भोदु। (भर्तारौ, इतः अर्धं युष्माकमपि सुरामूल्यं भवतु।)

जानुकः–धीवल, महत्तले शंपदं मे पिअवअश्शके शंवुत्ते शि। कादम्बलीशद्धिके क्खु पढमं अस्माणं शोहिदे इश्शीअदि। ता शुण्डकागालं येव गश्चस्म। (धीवर, महत्तरं साम्प्रतं मे प्रियवयस्यः संवृत्तोऽसि। कादम्बरीसग्धिके खलु प्रथममस्माकं सौहित्यम् इष्यते। तत् शौण्डिकागारमेव गच्छामः।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(प्रवेशकः)

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन मिश्रकेशी)

मिश्रकेशी–णिव्वत्तिदं मए पज्जाअणिव्वत्तणीअं अच्छरातित्थसंणिज्झं। ता जाव इमस्स राएसिणो वुत्तन्तं पच्चक्खीकरइस्सं। मेणआसंबन्धेण सरीरभूदा मे सउन्तला। ताए वि सन्दिट्ठ म्हि। (समन्तादवलोक्य) किं णु क्खु उवत्थिदक्खणे वि दिअसे णिरूसवारम्भं विअ राअउलं दीसदि। अत्थि मे विहवो पणिधाणेण सव्वं जाणिदुं। किं तु सहीए आदरो मए माणइदव्वो। भोदु। इमाणं जेव उज्जाणवालिआणं पासपरिवत्तिणी भविअ तिरक्करिणीए पच्छण्णा उवलहिस्सं। (निर्वर्तितं मया पर्यायनिर्वर्तनीयम् अप्सरस्तीर्थसान्निध्यम्। तद्यावदस्य राजर्षेः वृत्तान्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि। मेनकासम्बन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला। तयापि सन्दिष्टास्मि। किन्नु खल्वुपस्थितक्षणेऽपि दिवसे निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते। अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं ज्ञातुम्। किं तु सख्याः आदरः मया मानयितव्यः। भवतु। आसामेव उद्यानपालिकानां पार्श्वपरिवर्तिनी भूत्वा तिरस्करिण्या प्रच्छन्ना उपलप्स्ये।)

(इति नाट्येनावतीर्य स्थिता)

भट्टार, इतोऽर्द्धं युष्माकमपि सूरामूल्यं भवतु। निःसादरादाह। धीवर–महत्तर साम्प्रतं प्रियवयस्यो मम संवृतोऽसि, कादम्बरीसन्धिकायां खलु प्रथममस्माकं सौहित्यमिष्यते।। सानुः स्त्रीमहतो जनं। सौहित्यं तर्पणं तृप्तिरिति चामरः। कादम्बरी स्वस्ति रे मदि[रा]भेदौ। "प्रथमशोभिते अस्माकमीप्सिते" इत्यन्यो विवृणोति। तच्छौण्डिकागारमेव गच्छामः।।

मिश्रकेशी अप्सरभेदः। निवर्तितः मया पर्य्यायनिवर्तनीयम् अप्सरस्तीर्थसान्निध्यं, तत्तावदेतस्य राजर्षेर्वृत्तान्तं प्रत्यक्षीकरिष्ये। मेनकासम्बन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला। तयापि सन्दिष्टास्मि नृपचरितज्ञानार्थमित्यर्थः। किं नु खलूपस्थितक्षणेऽपि दिवसे निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते क्षणतत्परः। अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन ज्ञातुं, किन्तु सख्या आदरो मया मानयितव्यः। प्रत्यक्षतो ज्ञानमेव तयोक्तमिति भावः। भवत्वासामेवोद्यानपालिकानां पार्व(र्श्व)परिवर्तनी भूत्वा तिरस्करिण्या प्रच्छन्ना उपलप्स्ये। तिरस्करिणी प्रच्छादिका विद्या।। अये उपस्थितो मधुमासः।।

(ततःप्रविशति चूताङ्कुरमवलोकयन्ती चेटी तस्याश्च पृष्ठतोऽपरा)

प्रथमा–

आअम्बहरिअवेण्टं ऊससिअं विअ वसन्तमासस्स।
दिट्ठं चूअङ्कुरअं छणमङ्गलअं णिअच्छामि।।6–2।।
(आताम्रहरितवृन्तम् उच्छ्वसितमिव वसन्तमासस्य।
दृष्टं चूताङ्कुरं क्षणमङ्गलं पश्यामि।।)।।6–2।।

द्वितीया–परहुदिए। किं एदं एक्काइणी मन्तेसि। (परभृतिके, किमेतत् एकाकिनी मन्त्रयसे)

प्रथमा–सहि महुरिए। चूदलदिअं पेक्खिअ उम्मत्तिआ खु परहुदिआ भोदि। (सखि मधुरिके, चूतलतिकाम् प्रेक्ष्य उन्मत्ता खलु परभृतिका भवति।)

द्वितीया–(सहर्षम्) कधं उवत्थिदो महुमासो। (कथमुपस्थितः मधुमासः।)

प्रथमा–महुरिए, तुहावि दाणिं एस कालो मदविब्भमुग्गीदाणं। (मधुरिके, तवापि इदानीमेषः कालः मदविभ्रमोद्गीतानाम्।)

द्वितीया–सहि, अवलम्बसु मं जाव अग्गपदे परिट्ठिदा भविअ इमिणा पसवेण सम्पादेमि कामदेवस्स वाअणं। (सखि, अवलम्बस्व मां यावदग्रपदोपरि स्थिता भूत्वा अनेन प्रसवेन सम्पादयामि कामदेवस्य वाचनम्।)

प्रथमा–जइ एवं ता ममावि अद्धं वाअणफलस्स। (यद्येवं तत् ममाप्यर्धं वाचनफलस्य।)

द्वितीया–सहि, अभणिदे वि एवं संपज्जदि ज्जेव जदो एक्कं जेव णो एदं सरीरं। (सख्याम् अवलम्बनं कृत्वा नाट्येन चूतप्रसवं गृहीत्वा) अम्हहे। अप्पबुद्धो वि चूदप्पसवो बन्धणभङ्गसुरही एस वाअदि। (कपोतहस्तं कृत्वा) णमो भअवदो मअरद्धअस्स। (सखि, अभणितेऽप्येवं संपद्यते एव यतः एकमेव नौ एतत् शरीरम्। अम्महे। अप्रबुद्धोऽपि चूतप्रसवः बन्धनभङ्गसुरभिः एषः वाति। नमः भगवते मकरध्वजाय।)

आता०।।(6-2) आताम्रहरितवृन्तं उच्छवसितमिव वसन्तमासस्य दृष्टश्चूताङ्कुरः क्षणमङ्गलं पश्यामि। जीवोच्छ्वसितमिति केचित्। तदा जीवः प्राणास्तेषाम् उच्छ्वसित उद्यमः चूताङ्कुरो दृष्टस्ततोऽस्य मङ्गलमपि भविष्यतीति भावः। नियच्छामीति दृशैः पुनरागच्छामि। अच्छा इति प्राकृतसूत्रात्, दृश-धातोर्निअच्छादेशः।

शङ्करस्तु वाह्ये(?) क्षणमङ्गलं नियच्छामीति पठित्वा, नियच्छामि ददामी(नी)त्याह। तद्विचार्य्यम्।। परभृतिके, किमिदमेकाकिनी मन्त्रयसे। सखि मधुरिके, चूतकलिकां चूताङ्कुरं वा प्रेक्ष्य उन्मत्तिका खलु परभृतिका भवति। कथमुपस्थितो मधुमासः।।

मधुरिके, तवाप्येष कालो मदविभ्रमोद्गीतानाम्। सखि, अवलम्बस्व मां यावदर्धपदोपरि स्थिता भूत्वा एतेन प्रसवेन सम्पादयामि। कामदेवस्य वाचनं, नैवेद्यम् अर्चनम् इत्यन्यः। यद्येवं

अरिहसि मे चूअङ्कुर दिण्णो कामस्स गहिअचावस्स।
सच्चविअजुअइलक्खो पञ्चब्भहिओ सरो होउं।।6–3।।
(अर्हसि मे चूताङ्कुरदत्तः कामस्य गृहीतचापस्य।
सत्याकृतयुवतिलक्षः पञ्चाभ्यधिकः शरः भवितुम्)।।6–3।।

(इति चूताङ्कुरं क्षिपति)

प्रविश्य **कञ्चुकी**–(सक्रोधम्) मा तावदनात्मज्ञे, देवेनैवं निषिद्धेऽपि मधूत्सवे चूतकलिका-भङ्गमारभसे।

उभे–(भीते) पसीददु पसीददु अज्जो। अगदित्थाओ अम्हे। (प्रसीदतु प्रसीदतु आर्यः। अगृहीतार्थे आवाम्।)

कञ्चुकी–हुम्। न खलु श्रुतं भवतीभ्यां तावद्वसन्तैस्तरुभिरपि प्रमाणीकृतं देवस्य शासनं तदाश्रयिभिश्च।

तथा हि–

चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
संनद्धं यदपि स्थितं कुरुबकं तत्कोरकावस्थया।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम्।।6–4।।

तन्मयापि वाचनफलस्य। सखि, अभणितमपीदं सम्पद्यत इति यत एकमेवेदम् आवयोः शरीरं द्विधा विभक्तं प्रजापतिना। अम्महे विस्मये।

यः प्रबुद्धोऽपि चूतप्रसवो बन्धनभङ्गे सुरभिरेष वाति सुगन्धीभवति। कपो[तो] हल्त(स्त)भेदः। तदुक्तम् भरतेन सर्व्वपार्श्वसमाश्लेषात् कपोतः सर्व्वशीर्षकः। भीतो विज्ञानो भव विनये च प्रयुज्यते इति।। नमो भगवते मकरध्वजाय।

अरिह०।।(6-3)।।

अर्हसि मे चूताङ्कुरदत्तः कामस्य गृहीतचापस्य।
सत्याकृत युवतिलक्षः पञ्चाधिकः शरो भवितुम्।।

हे चूताङ्कुर! मया दत्तः त्वमर्थात् कामस्य षष्ठः शरो भवितुमर्हसि, सत्याकृतं निश्चितं युवतिरेव लक्षं(क्ष्यं) येन। संस्थापित युवतिरिति शाङ्करः पाठः। "आसीनपाठ्य" नामिकं लास्यमिदम्। यदाह भरतः।

द्रुतकरचरणविलासाभिनयैर्युक्तं प्रयुज्यते यच्च। आसीनया वनितया भवति तदासीनपाठ्यं त्विति।। देवेन राज्ञा। प्रसीदतु प्रसीदत्वार्य्यः। अगृहीतार्थे आवाम्, हूं क्रोधे।

चूता०।।(6-4)।। सन्नद्धं पुष्पितमुद्यतं तदपि कलिकावस्थया स्थितं, न विकासितमित्यर्थः। कुरबकं सोनाम्लानपुष्पं, अपिरेवार्थे स्खलितां न बहिर्भूतामित्यर्थः। चकितो भीतः धातुसन्धिवर्णनेऽयम्। नास्त्यत्र सन्देहः। महाप्रभावः खल्वेष राजर्षिः।

मिश्रकेशी–णत्थि एत्थ संदेहो। महप्पहावो क्खु एसो राएसी। (नास्त्यत्र सन्देहः। महाप्रभावः खल्वेषः राजर्षिः।)

प्रथमा–अज्ज, कदि चि दिअसा मित्तावसुणा रट्ठिएण भट्टिणो पादमूलं पेसिदाणं अम्हाणं इध पमदवणे चित्तकम्मं अप्पिदुं। अदो ण सुदपुव्वो अम्हेहिं एसो वुत्तन्तो। (आर्य, कतिचिद्दिवसाः मित्रावसुना राष्ट्रियेण भर्तुः पादमूलं प्रेषितयोः आवयोः इह प्रमदवने चित्रकर्म अर्पयितुम्। अतः न श्रुतपूर्वः आवाभ्यामेषः वृत्तान्तः।)

कञ्चुकी–तेन हि न पुनरेवं प्रवर्तितव्यम्।

उभे–कोदूहलं णो। जइ इमिणा जणेण सोदव्वं ता कधेदु अज्जो किं णिमित्तं भट्टिणा वसन्तूसवो णिसिद्धो। (कौतूहलं नौ। यद्यनेन जनेन श्रोतव्यं तत्कथयत्वार्यः किन्निमित्तं भर्त्रा वसन्तोत्सवः निषिद्धः।)

मिश्रकेशी–ऊसवप्पिआ राआणो होन्ति। ता गुरुणा कारणेण एत्थ होदव्वं। (उत्सवप्रिया राजानः भवन्ति। तत् गुरुणा कारणेन अत्र भवितव्यम्।)

कञ्चुकी–(स्वगतम्) बहुलीभूतोऽयमर्थः किं न कथ्यते। (प्रकाशम्) अस्ति भवत्योः कर्णपथमागतं शकुन्तलाप्रत्यादेशकौलीनम्।

उभे–अज्ज, सुदं रट्ठिअमुहादो अङ्गुलीअअदंसणं जाव। (आर्य, श्रुतं राष्ट्रियमुखाद् अङ्गुरीयकदर्शनं यावत्।)

कञ्चुकी–तेन हि स्वल्पं कथयितव्यम्। यदैवाङ्गुरीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढपूर्वा रहसि मया तत्रभवती शकुन्तला मोहात्प्रत्यादिष्टेति तदैव पश्चात्तापमनुगतो देवः।

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
शय्योपान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा च भवति व्रीडाविलक्षश्चिरम्।। 6–5।।

आर्य कतिचिद्दिवसान्(नि)? .... मित्रावसुना राष्ट्रियेण भर्तुः पादमूलं प्रेषितयोरावयोरिह प्रमदवने चित्रकर्म अर्पयितुम्। राजश्यालस्तु राष्ट्रिय इत्यमरः। स(श)ङ्करस्तु कतिचिद्दिवसान् प्रेषिताभ्याम् आवाभ्यामिह वने चित्रकर्म्मसम्पादयितुमिति पठति। अतो न श्रुतपूर्व एष वृत्तान्त आवाभ्याम्।। आर्य्य, कौतूहलमावयोरद्य तेन जनेन न श्रोतव्यं यद्यावयोः श्रोतुमर्हतीत्यर्थः। तत् कथयत्वार्य्यः, किं निमित्तं भर्त्रा वसन्तोत्सवो निषिद्धः। ननूत्सवप्रिया राजानो भवन्ति। तद्गुरुणां(णा) कारणेनात्र भवितव्यम्। बहुलीकृतं प्रसिद्धं शकुन्तलानिराकरणरूपं कौलीनं परीवादः। श्रुतं राष्ट्रियमुखादङ्गुरीयदर्शनं यावत्। मोहादज्ञानात्।

रम्यं०।। (6-5) पद्मादिदर्शने दुःखलोभात् यथा पुरा सेवित इत्यर्थः। प्रकृतिभिः सचिवैः। दक्षिणो नायकभेदः, तद्भावो दाक्षिण्यम्। तदुक्तम्–यो गौरवं भयं प्रेम सम्भाव-पूर्व्वयोरिति। न

मिश्रकेशी–पिअं मे पिअं। (प्रियं मे प्रियम्।)

कञ्चुकी–अस्मात्प्रभवतो वैमनस्यादुत्सवः प्रत्याख्यातः।

उभे–जुज्जदि। (युज्यते।)

(नेपथ्ये) एदु एदु भवं। (एत्वेतु भवान्।)

कञ्चुकी–(कर्णं दत्त्वा) अये। इत एवाभिवर्तते देवः। तद्गच्छतम्। स्वकर्मानुष्ठीयताम्।

(इत्युभे निष्क्रान्ते)

(ततः प्रविशति पश्चात्तापसदृशवेषो राजा विदूषकः प्रतीहारी च।)

कञ्चुकी–(राजानं विलोक्य) अहो, सर्वास्ववस्थासु रामणीयकमाकृतिविशेषाणाम्। तथा ह्येवं वैमनस्यपरीतोऽपि प्रियदर्शनो देवः। य एषः–

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठे श्लथं
बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रताम्रनयनस्तेजोगुणैरात्मन :
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते।। 6-6।।

मिश्रकेशी–(राजानमवलोक्य) ठाणे क्खु पच्चादेसविमाणिदा वि इमस्स कारणादो सउन्तला किलम्मदि। (स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताप्यस्य कारणात् शकुन्तला क्लाम्यति।

राजा–(ध्यानमन्दं परिक्रम्य)

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम्।। 6–7।।

मिश्रकेशी–ईदिसाइं से तवस्सिणीए भाअधेआइं। (ईदृशान्यस्याः तपस्विन्याः भागधेयानि।)

विदूषकः–(स्वगतम्) भूओ वि लङ्घिदो एसो सउन्तलावादेण। ण आणे कधं चिकिच्छिदव्वो भविस्सदित्ति। (भूयोऽपि लङ्घितः एषः शकुन्तलावातेन। न जाने कथं चिकित्सितव्यः भविष्यतीति।)

मुञ्चत्यस्य चितोऽपि स ज्ञेयो दक्षिणो यथेति।। अन्तःपुरेभ्योऽन्तःपुरस्त्रीभ्यः गोत्रेषु नामसु व्रीडेति लज्जानिष्क्रियः। प्रियं मे प्रियं प्रभवतो जायमानात्। युज्यते। एतु एतु भवान्।

प्रत्या०।। (6-6) श्लथं कार्श्यम्। एकमद्वितीयं प्रशस्तं वा। श्वासेति। श्वासविरक्ताधरः प्रतान्तं क्षीणं प्रताम्रेति शङ्करः। संस्कारार्थं टङ्केन घृष्टः मणेरिव स्थानम्। खलु प्रत्यादेशविमानितापि एतस्मात् कारणाच्छकुन्तला का(क्ला)म्यति।।

प्रथ०।। (6-7) अवशयः पश्चात्तापः। सदृशानि तस्यास्तपस्विन्या भागधेयानि। हूं क्रोधे। भूयोऽपि लङ्घित एष शकुन्तलावातेन। न जाने कथं चिकित्सितव्यः प्रतिकर्तव्यो भविष्यति। अन्तःपुरोद्यानं प्रमदवनं, विनोदो विहारः। वेत्रवतीति प्रतिहारीनाम। अमात्ये ख्यातो। यद्दैव आज्ञापयति। पार्व्वतायन्ने(ने)ति कञ्चुकीसंज्ञा।

कञ्चुकी–(उपगम्य) जयति जयति महाराजः। प्रत्यवेक्षिताः प्रमदवनभूमयः। यथाकामम् अध्यास्तां विनोदस्थानानि देवः।

राजा–वेत्रवति, मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि। अद्य चिरप्रबोधान्न संभावितमस्माभिर्धर्मासनम् अध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितमार्येण पौरकार्यं तत्पत्रमारोप्य प्रस्थाप्यतामिति।

प्रतीहारी–जं देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्ता)

राजा–पार्वतायन, त्वमपि स्वनियोगमशून्यं कुरु।

कञ्चुकी–तथा। (इति निष्क्रान्तः)

विदूषकः–किदं भवदा णिम्मक्खिअं। संपदं सिसिरविच्छेदरमणीए इमस्सिं उज्जाणे अत्ताणअं विणोदेहि। (कृतं भवता निर्मक्षिकम्। साम्प्रतं शिशिरविच्छेदरमणीये अस्मिन् उद्याने आत्मानं विनोदय।)

राजा–(निःश्वस्य) वयस्य, रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था इति यदुच्यते तदव्यभिचारि। पश्य–

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः।
मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता धनुषि चूतशरश्च निवेशितः।।6–8।।

अपि च–

उपहितस्मृतिरङ्गुलिमुद्रया प्रियतमामनिमित्तनिराकृताम्।
अनुशयादनुरोदिमि चोत्सुकः सुरभिमाससुखं समुपस्थितम्।।6–9।।

विदूषकः–भो वअस्स, चिठ दाव जाव इमिणा दण्डअट्ठेण कन्दप्पवाणं णासेमि। (भोः वयस्य, तिष्ठ तावद्यावदनेन दण्डकाष्ठेन कन्दर्पबाणं नाशयामि।)

(इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य चूताङ्कुरं पातयितुमिच्छति।)

राजा–(सस्मितम्) भवतु, दृष्टं ब्रह्मवर्चसम्। सखे, कुत्रेदानीमुपविष्टः प्रियायाः किंचिद् अनुकारिणीषु लतासु दृष्टिं विनोदयामि।

कृतं भवता निर्मक्षिकम्। मक्षिकाया अप्यभावो निर्जनमित्यर्थः। शिशिरविच्छेदरमणीये एतस्मिन् प्रमदवने आत्मानं विनोदय। मुनि०।। (6-8) मुनिसुता शकुन्तला तमसा मोहेन युक्तं त्यक्तं। अन्यच्च [नाट्]यालंकारः। उप०।। (6-9) अङ्गुलीमुद्रया अङ्गुरीयकेण अनुलक्षीकृत्य सुरभिर्वसन्तः। अत्र रोदनमधिकमित्युक्तिपोषः। भो वयस्य, तिष्ठ तावदिति लोकोक्तिः। यावदेतेन दण्डकाष्ठेन कन्दर्पबाणान्नाशयामि।

ब्रा(ब्र)ह्मेति।। वेदाध्ययन-न(ज)न्योत्कर्षः।

विदूषकः–णं भवदा आसण्णपरिचारिआ लिविअरी मेधाविणी आदिट्ठा। माहवीलदाघरए इमं वेलं अदिवाहइस्सं तहिं च मे चित्तफलए सहत्थालिहिदं तत्थभोदीए सउन्तलाए पडिकिदिं आणेसु त्ति।

(ननु भवतासन्नपरिचारिका लिपिकरी मेधाविनी आदिष्टा। माधवीलतागृहके इमां वेलाम् अतिवाहयिष्यामि, तत्र च मे चित्रफलके स्वहस्तालिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानय इति।)

राजा–ईदृशमेव मे हृदयप्रत्याश्वासनम्। तत्तदेवादेशय माधवीलतागृहम्।

विदूषकः–इदो इदो एदु भवं। (इतो इतो एतु भवान्।)

(इति परिक्रामतः। मिश्रकेशी अनुगच्छति।)

विदूषकः–एस मणिसिलापट्टसणाधो माहवीलदामण्डवो विवित्तदाए णीसद्दसाअदेण विअ पडिच्छदि तुमं। ता पविसिअ उवविसम्ह।

(एषः मणिशिलापट्टसनाथः माधवीलतामण्डपः विविक्ततया निःशब्दस्वागतेनेव प्रतीच्छति त्वाम्। तत् प्रविश्योपविशावः।)

(उभौ तथा कुरुतः)

मिश्रकेशी–लदाए अन्तरिदा पेक्खिस्सं दाव पिअसहीपडिकिदिं। तदो से भत्तुणो अणुराअं बहुमदं णिवेदइस्सं।

(लतयान्तरिता प्रेक्षिष्ये तावत् प्रियसखीप्रतिकृतिम्। ततः अस्याः भर्तुः अनुरागं बहुमतं निवेदयिष्यामि।) (तथा स्थिता)

राजा–(निःश्वस्य) सखे, सर्वमिदानीं स्मरामि। शकुन्तलायाः प्रथमदर्शनवृत्तान्तं कथितवान् अस्मि भवते। स भवान्प्रत्याख्यानकाले मत्समीपगत एव नासीत्। प्रथममपि तत्रभवत्याः कीर्तितं नाम मया। कच्चिद् अहमिव विस्मृतवांस्त्वमपि।

मिश्रकेशी–अदो ज्जेव महीवदीहिं खणं पि सहिअआ सहाआ ण विरहिदव्वा। (अतः एव महीपतिभिः क्षणमपि सहृदयाः सहायाः न विरहितव्याः।)

ननु भवता प्रसन्न परिचारिका लिपिकरी मेधाविनी सन्दिष्टा। मेधाविनीति यथार्थ नाम। माधवीलतागृहे इमां वेलाम् अतिवाहरि(यि)ष्यामि।

अत्र मे चित्रफलके स्वहस्तलिखितं तत्रभवत्याः प्रतिकृतिमानयेति। इत इत एतु भवान्। एष मणिपट्टशिलासनाथो माधवीलतामण्डपो, विविक्ततया निःशब्द आगतेन पृच्छति, अनुतिष्ठतीव त्वाम्। तत् प्रविशामः।

लतयान्तरितां(ता) प्रेक्षिष्ये तावत् प्रियसख्याः प्रतिकृतिम्। ततोऽस्या भर्तुरनुरागं बहुमतं निवेदयिष्यामि। बहुमुखं बहुप्रकारमिति शाङ्करः पाठः। तथा लतान्तरितेत्यर्थः।। विस्मृत इति कर्तरि [क्तः]। अत एव महीपति[ना] क्षणमपि सहृदयाः सहाया न विवाहयितव्याः।

विदूषकः–भो। ण विसुमरामि। किं तु सव्वं कधिअ तए ज्जेव अवसाणे कधिदं। परिहासविअप्पो एसो ण भूदत्थो त्ति। मए मन्दबुद्धिणा तधा जेव गहिदं। अध वा भविदव्वदा एत्थ बलवदी। (भोः, न विस्मरामि। किं तु सर्वं कथयित्वा त्वयैवावसाने कथितं–परिहासविकल्पः एषः, न भूतार्थः इति। मया मन्दबुद्धिना तथैव गृहीतम्। अथवा भवितव्यतात्र बलवती।)

मिश्रकेशी–एवं णेदं। (एवं नु एतत्।)

राजा–(क्षणं ध्यात्वा) सखे, परित्रायस्व माम्।

विदूषकः–भो वअस्स, एदं किं उववण्णं तुह। ण कदा वि सप्पुरिसा सोअवत्तव्वा होन्ति। णं पवादे वि णिक्कम्पा जेव गिरीओ। (भोः वयस्य, एतद् किमुपपन्नं तव। न कदापि सत्पुरुषाः शोकवर्तव्याः भवन्ति। ननु प्रवाते अपि निष्कम्पा एव गिरयः।)

राजा–वयस्य, निराकरणविक्लवायास्ते सख्यास्तामवस्थामनुस्मृत्य बलवदशरणोऽस्मि। सा हि–

इतः प्रत्यादिष्टा स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम्।।6–10।।

मिश्रकेशी–अम्हहे, इमस्स ईदिसी अकज्जपरदा संतावेदि। (अम्महे, अस्य ईदृशी अकार्यता संतापयति।)

विदूषकः–भो। अत्थि मे तक्को। केण वि तत्थभोदी आआससंचारिणा णीद त्ति। (भोः अस्ति मे तर्कः। केनापि तत्रभवत्याकाशसञ्चारिणा नीतेति।)

राजा–वयस्य, कः पतिव्रतां तामन्यः परामर्ष्टुमुत्सहते। मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति सखीजनादस्मि श्रुतवान्। तत्सहचरीभिस्तया वा नीतेति मे हृदयमाशङ्कते।

मिश्रकेशी–संमोहो क्खु विम्हअणीओ, ण उण पडिबोधो। (संमोहः खलु विस्मयनीयः, न पुनः प्रतिबोधः।)

भो न विस्मरामि, किन्तु सर्वं कथयित्वा त्वयैवावसाने कथितं यथा परिहासविकल्पितम् एतन्न भूतार्थमिति, मया मन्दबुद्धिना तथैव गृहीतम्। अथवा भवितव्यता अत्र बलवती। एवमेतत्।।

भो वयस्य, किमिदमुपपन्नं तव। [न] कदाचित् स[त्] पुरुषा(षाः) शोकपरवशा भवति(न्ति)। ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा एव गिरयः। अशरणः परित्राणशून्यः। शल्यं शरफलं। अम्महे विस्मये। एतस्येदृशी अकार्य्यपरतां सन्तापयति। अस्ति ते तर्कः ज्ञानं, केन अत्रभवती आकाशसञ्चारिणा नीतेति। परामर्षः अकर्तुः प्रष्टुर्वा। जन्मप्रतिष्ठा जन्मस्थानं। अ(स)म्मोहः खलु विस्मयनीयः, न पुनः प्रतिबोधः।

विदूषकः–भो। जइ एवं ता समस्ससदु भवं। अत्थि क्खु समागमो तत्थभोदीए। (भोः, यद्येवं तत् समाश्वसितु भवान्। अस्ति खलु समागमः तत्रभवत्याः।)

राजा–कथमिव।

विदूषकः–भो। ण हि मादा पिदा वा भत्तुविरहिदं चिरं दुहिदरं पेक्खिदुं पारेदि। (भोः, न हि माता पिता वा भर्तृविरहितां चिरं दुहितरं प्रेक्षितुं पारयति।)

राजा–वयस्य,

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु
क्लृप्तं नु तावत्फलमेव पुण्यैः।
असंनिवृत्त्यै तदतीव मन्ये
मनोरथानामतटप्रपातम् ।।6–11।।

विदूषकः–भो, मा एवं भण। णं अङ्गुरीअअं जेव एत्थ णिदंसणं अवस्संभाविणो अचिन्तणीया समागमा होन्ति त्ति। (भोः मैवं भण। नन्वङ्गुरीयकमेवात्र निदर्शनम्, अवश्यंभाविनः अचिन्तनीयास्समागमाः भवन्तीति।)

राजा–(अङ्गुरीयकमालोक्य) इदं तदसुलभस्थानभ्रंशि शोचनीयमङ्गुरीयकम्।

तव सुचरितमङ्गुरीय नूनं प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन।
अरुणनखमनोहरासु तस्याश्च्युतमसि लब्धपदं यदङ्गुलीषु।।6-12।।

भो यत्ये(द्ये)वं तत् समाश्वसितु भवान्। न हि मातापितरौ भर्तुर्विरहितां दुहितरं चिरं प्रेक्षितुं पारयतः।

स्वप्नो०।। (6-11) तत्तस्मान्मनोरथानामतटं प्रपातं मन्ये। प्रपातस्त्व टतो भृगुरित्यमरः। मम मनोरथोऽत्युत्कण्ठापिडीत इति भावः। असन्निवृत्तौ सत्यां अर्थात्तस्या न तु तद्दर्शनं स्वप्नो निद्रा नु। सर्व्वत्र नु वितर्के। दुष्टमनोजन्यस्थानं स्वप्नः।। माया इन्द्रजालादि...। (इतः परम् कोष्ठान्तर्गतोंऽशः शङ्करस्य टीकारूपेण मैथिलपुस्तके गृहीतः) [[माया इन्द्रजालादिक्रिया, तया तद्दर्शनं जातमतो न तत्समागमः[78]। मतिभ्रमो नु। भ्रान्तो हि असदपि साक्षात्करोति शुक्तिकायां रजत[व]त्। पुण्यैस्तावत् ....?... तत्फलं दर्शनमात्रफलं क्लृप्तम्[79]। दोषाय[80] संशयालङ्कार इति शङ्करः।। भो वयस्य, मैवं भण[81]। ननु अङ्गुरीयकमेवात्र निदर्शनम् प्रमाणम्। अवश्यंभाविनोऽचिन्तनीयाः समागमा भवन्तीति। तव०। हे अङ्गुरीय, सुचरितं पुण्यं यद्यन्यहस्तगतं तावत्तदा सत्यम्। असुलभं दुर्लभं यत् स्थानं तस्या एवाङ्गुलिरूपं, तस्मात् यो भ्रंशः स्खलनं, तेन शोचनीयम्.....*।

---

78. इतः परमेतदधिकम् पुस्तके। अत्रापि तर्क एव। उभयत्र स्वप्नेपि नानाकलितो दृश्यते। माया तु नानावलम्बनी भवतीत्युपपत्तिम् आह।

79. वाक्यमिदं "पुण्यैस्तावत् दर्शनमात्रफलं क्लृप्तम्" इति मैथिलपुस्तके।

80. इतः पूर्वमेतदधिकम् पुस्तके, नु ऊहो वितर्क इत्युक्तः पदार्थेषु यथामतीति। संशयालंकारः निश्चयेन तु वाक्यस्य समाप्तिः संशयो यथा।

81. इतः परमेतदधिकम् पुस्तके – एवं स्वप्नादिकम्। कुतस्तत्राह।

मिश्रकेशी–जइ अण्णहत्थगदं भवे तदा सच्चं सोअणीअं भवे। सहि, दूरे वट्टसि। एआइणी जेव कण्णसुहाइं अणुभवामि। (यद्यन्यहस्तगतं भवेत् तदा सत्यं शोचनीयं भवेत्। सखि, दूरे वर्तसे। एकाकिन्येव कर्णसुखान्यनुभवामि।)

विदूषकः–भो, इअं णाममुद्दा केण उण उवुग्घादेण भवदा तत्थभोदीए हत्थसंसग्गं पाविदा। (भोः इयं नाममुद्रा केन पुनः उपोद्धातेन भवता तत्रभवत्याः हस्तसंसर्गं प्रापिता।)

मिश्रकेशी–मम विअ कोदूहलेण आलाविदो एसो। (ममैव कौतूहलेनालापितः एषः।)

राजा–वयस्य, श्रूयताम्। यदा तपोवनात्स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सबाष्पमिदमाह कियच्चिरेणार्यपुत्रः पुनरस्माकं स्मरिष्यतीति।

विदूषकः–तदो तदो। (ततस्ततः।)

राजा–अथेमां नाममुद्रामङ्गुल्यां निवेशयता मया प्रत्यभिहिता।

विदूषकः–किं ति। (किमिति।)

राजा–

एकैकमत्र　दिवसे　दिवसे　मदीयं
नामाक्षरं गणय यासि न यावदन्तम्।
तावत्प्रिये　मदवरोधनिदेशवर्ती
नेता　जनस्तव　समीपमुपैष्यतीति।। 6–13।।

तच्च मोहाद् दारुणमनुष्ठितम्।

मिश्रकेशी–रमणीओ क्खु अवही विहिणा विसंवादिदो। (रमणीयः खल्ववधिः विधिना विसंवादितः।)

विदूषकः–अध कधं रोहिदमच्छस्स मुहं बडिसं विअ एदं पविट्ठं आसि। (अथ कथं रोहितमत्स्यस्य मुखं बडिशमिवैतत् प्रविष्टमासीत्।)

राजा–शचीतीर्थे सलिलं वन्दमानायास्तव सख्याः परिभ्रष्टम्।

विदूषकः–जुज्जदि। (युज्यते।)

......भवेत्। सखि, दूरे वर्तसे। एकाकिन्येव कर्णसुखान्यनुभवामि।

भो! इयं नाममुद्राङ्गुरीयकं केन पुनरुपोद्घातेनोपक्रमेण भवता तत्रभवत्या हस्तसंसर्गं प्रापिता। ममापि कौतुहलेनैव श्रवणोत्कण्ठयेव वादित एषः। पाठान्तरे व्यापारितः। कियच्चिरेण कियता कालेन। ततस्ततः। किमिति।

एकैकं (6-13)।। यासि यास्यसि। अन्तं नामाक्षरान्तरम्। मदवरोधेति (....) अन्तःपुरसेवकः नेता रसिकः।। रमणीयः खल्ववधिर्विधिना विसंवादितः। अथ कथं रोहितमत्स्यस्य बडिशमिव मुखं प्रविष्टमासीत्। युज्यते। एवमतः खलु तपस्विन्याः शकुन्तलायाः अधर्म-भीरोरमुष्य राजर्षेः परिणये

मिश्रकेशी–अदो क्खु तवस्सिणीए सउन्तलाए अधम्मभीरुणो राएसिणो परिणए सन्देहो। अधवा ण ईदिसो अणुराओ अहिण्णाणं अवेक्खदि। ता कधं विअ एदं। (अतः खलु तपस्विन्याः शकुन्तलायाः अधर्मभीरोः राजर्षेः परिणये सन्देहः। अथवा न ईदृशः अनुरागः अभिज्ञानमपेक्षते। तद् कथमिवैतद्।)

राजा–भवतु, उपालप्स्ये तावदिदमङ्गुरीयकम्।

विदूषकः–(सस्मितम्) अहं पि एदं दण्डअट्ठं उवालहिस्सं। कधं उज्जुअस्स मे कुडिलं तुमं सि त्ति। (अहमपि एतद्दण्डकाष्ठमुपालप्स्ये। कथम् ऋजोः मे कुटिलम् त्वमसीति।)

राजा–(अनाकर्णितनाटितकेन)

कथं नु तं कोमलबन्धुराङ्गुलिं
करं विहायासि निमग्नमम्भसि।

अथवा–

अचेतनं नाम गुणं न वीक्षते
मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया।। 6–14।।

मिश्रकेशी–सअं जेव पडिवण्णो जं म्हि वत्तुकामा। (स्वयमेव प्रतिपन्नः यदस्मि वक्तुकामा।)

विदूषकः–भो, सव्वधा अहं खु बुभुक्खाए मारिदव्वा। (भोः सर्वथा अहं खलु बुभुक्षया मारयितव्यः।)

राजा–(अनादृत्य) प्रिये, अकारणपरित्यागानुशयदग्धहृदयस्तावद् अनुकम्प्यतामयं जनः पुनर्दर्शनेन।

प्रविश्य चित्रफलकहस्ता **चेटी**–भट्टा, इअं चित्तगदा भट्टिणी। (भर्तः, इयं चित्रगता भर्त्री।)

(इति चित्रफलकं दर्शयति)

राजा–(विलोक्य) अहो रूपमालेख्यस्य। तथा हि–

दीर्घापाङ्गविसारिनेत्रयुगलं लीलाञ्चितभ्रूलतं
दन्तान्तःपरिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाभिषिक्ताधरम्।

संदेहः। अथवा नेदृशोऽ नुरागोऽभिज्ञानम् अपेक्षते। तत्कथमप्येतत्।। अहमपीदं दण्डकाष्ठमुपालप्स्ये। कथं किं ऋजुकस्य मे कुटिलमसि त्वम्।

बन्धू०।। (6-14)।। बन्धुरं रम्यम्। निमग्नमम्भसि आसीरित्यर्थः। नाम संभावनायाम्। मयैव चेतनेनैवेत्यर्थः। स्वयमेव प्रतिपन्नः यदहं वक्तुकामास्मि। रसान्तरकरणाय हेतोः–सर्वथाहं बुभुक्षया मारयितव्यः। अयम् अस्मद्रूपः। चित्रफलकं चित्रलेखपटी। भट्टारक इयं चित्रगता भट्टिनी शकुन्तला। भट्टिनी द्विजभार्यायां नाट्योक्तौ राजयोषितीति विश्वः।

कर्कन्धूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं　　तस्यास्तदेतन्मुखं
चित्रेऽप्यालपतीव　　विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम्।। 6–15।।

[तथा हि–

अस्यास्तुङ्गमिव स्तनद्वयमिदं, निम्नेव नाभिः स्थिता
दृश्यन्ते विषमोन्नताश्च वलयो भित्तौ समायामपि।
अङ्गे च प्रतिभाति मार्दवमिदं स्निग्धप्रभावाच्चिरं
प्रेम्णा मन्मुखमीषदीक्षत इव स्मेरा च वक्तीव माम्।। 6–16।।][82]

विदूषकः–(विलोक्य) भो, भावमहुरा रेहा। खलदि विअ मे दिट्ठी णिण्णुण्णदप्पदेसेसुं। किं बहुणा। सत्ताणुप्पवेससङ्काए आलवणकोदूहलं मे जणेदि। (भोः भावमधुरा रेखा। स्खलति इव मे दृष्टिः निम्नोन्नतप्रदेशेषु। किं बहुना। सत्त्वानुप्रवेशशङ्कया आलपनकौतूहलं मे जनयति।)

मिश्रकेशी–अहो राएसिणो वत्तिआरेहाणिउणदा। जाणे पिअसही मे अग्गदो वट्टदि त्ति। (अहो राजर्षेः वर्तिकारेखानिपुणता। जाने प्रियसखी मे अग्रतः वर्तते इति।)

राजा–वयस्य,

यद्यत्साधु न चित्रेऽस्मिन्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिद् अन्वितम्।। 6–17।।

मिश्रकेशी–सरिसं पच्छादावगुरुणो सिणेहस्स। (सदृशं पश्चात्तापगुरोः स्नेहस्य।)

राजा–(निःश्वस्य)

साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय　　पूर्वं
चित्रार्पितामहमिमां　बहु　मन्यमानः।
स्रोतोवहां　पथि　निकामजलामतीत्य
जातः　सखे　प्रणयवान्मृगतृष्णिकायाम्।। 6–18।।

दीर्घेति०।। (6-15)। लीला शृङ्गारचेष्टा। अञ्चितं चञ्चलं पूजितं वा। कर्कन्धूः पक्व-कर्कन्धूरित्यमरः। तत्रैव पाटलता संगच्छते। रुचिरं सुन्दरं ओष्ठाभ्यां रुचिरं कान्तिजनकमिति शाङ्करः पाठः। आलपतीव मामर्थात्। विभ्रमो विलासः।। तस्याः०।। (6-16) तुङ्गमिव रेखानिपुणतया तथा भानात्। एवमग्रेपि। पद्यमिदमनतिमधुरं दाक्षिणात्य-पुस्तकेष्वेव दृश्यते।। भो भावमधुरा रेखा। भावोऽभिप्रायः। स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नत-प्रदेशेषु। आलिखितप्रदेशे इति च पाठः। किं बहुना, सत्त्वानुप्रवेश-शङ्कयालपनकौतुकं मे जनयति। अहो राजर्षेर्वत्तिकारेखानिपुणता। जाने प्रियसखी मेऽग्रतो वर्तत इति। यद्यदिति०।। (6-17)।।–अन्यथा क्रियते यद्यपीत्यर्थः। लावण्यं सौन्दर्यम्।। सदृशं पश्चात्तापगुरोः स्नेहस्य।

साक्षादिति०।। (6-18)–स्रोतोवहां नदीम्। मृगतृष्णा मरीचिका। निदर्शनालङ्कारः।।

---

82. अंशोऽयं रिचार्ड पिशेलेन सम्पादिते बंगदेशीयपाठे न स्वीकृतः।

विदूषकः–तिण्णि आइदीओ दीसन्ति। सव्वाओ ज्जेव दंसणीआओ। ता कदमा तत्थभोदी सउन्तला। (तिस्रः आकृतयः दृश्यन्ते। सर्वैव दर्शनीयाः। तत् कतमा तत्रभवती शकुन्तला।)

मिश्रकेशी–अणहिण्णो एस तवस्सी सहीए रूवस्स। मोहचक्खुणो इअं ण गदा से पच्चक्खदं। (अनभिज्ञः एषः तपस्वी सख्याः रूपस्य। मोघचक्षुषः इयं न गतास्य प्रत्यक्षताम्।)

राजा–त्वं तावत्कतमां तर्कयसि।

विदूषकः–(निर्वर्ण्य) तक्केमि जा एसा अवसेअसिणिद्धपल्लवं असोअलदिअं संसिदा सिढिलकेसबन्धुव्वम्मन्तकुसुमेण बद्धसेदबिन्दुणा वअणेण विसेसणमिदसाहाहिं बाहालदिआहिं ऊससिदणीविणा वसणेण ईसिपरिस्सन्ता विअ आलिहिदा सा तत्थभोदी सउन्तला सेसाओ सहीओ त्ति। (तर्कयामि या एषा अवसेकस्निग्धपल्लवाम् अशोकलतिकां संश्रिता शिथिलकेशबन्धोद्वमत्कुसुमेन बद्धस्वेदबिन्दुना वदनेन विशेषनमितशाखाभ्यां बाहुलतिकाभ्याम् उच्छ्वसितनीविना वसनेन ईषत्परिश्रान्तेवालिखिता सा तत्रभवती शकुन्तला, शेषे सख्यौ इति।)

राजा–निपुणो भवान्। अस्त्यत्र ममापि भावचिह्नम्।

स्विन्नाङ्गुलीनिवेशाद्रेखा प्रान्तेषु दृश्यते मलिना।
अश्रु च कपोलपतितं लक्ष्यमिदं वर्णकोच्छ्वासात्।।6–19।।

चतुरिके, अर्धलिखितमेतद्विनोदस्थानमस्माभिः। तद्गच्छ। वर्तिकास्तावद् आनय।

चेटी–अज्ज माधव्व। अवलम्बसु चित्तफलअं जाव गच्छामि। (आर्य माधव्य, अवलम्बस्व चित्रफलकं यावत् गच्छामि।)

राजा–अहमेवैनमवलम्बे। (इति यथोक्तं करोति, चेटी निष्क्रान्ता)

विदूषकः–भो। किं एत्थ अवरं आलिहिदव्वं। (भोः किमत्रापरमालिखितव्यम्।)

भोस्तिस्र आकृतयो दृश्यन्ते। सर्वा एव दर्शनीयाः। तत्कतमा तत्रभवती शकुन्तला। अनभिज्ञ एव तपस्वी सख्या रूपस्य। मोघचक्षुषोऽस्य इयं न गता प्रत्यक्षताम्। मोघत्वं शकुन्तलारूपादर्शनात्। निर्वर्ण्य दृष्ट्वा, तर्कयामि यैषा शिथिलकेशोद्वमत्कुसुमेन बद्धस्वेदबिन्दुना वदनेन विशेष-नमितं शाखाभ्यां बाहुलतिकाभ्यां उच्छवसित-नीविना वसनेनावसेकस्निग्धपल्लवामशोकलतिकां संश्रिता ईषत् परिश्रान्तेवालिखिता सा तत्रभवती, शेषे सख्याविति।

स्विन्नेति०।।(6-19) प्रान्तभागे मलिना रेखा दृश्यते। अश्रु सात्त्विकम्। वर्णको हरितालादिः। उच्छवास उन्नत-तनुम्[83]।। आर्य माधव्य अवलम्बस्व चित्रफलकं यावद् गच्छामि। भोः किमत्रापरमभिलिखितव्यम्। यो यः प्रियसख्या अभिमतप्रदेशस्तमालिखितुकाम इति तर्कयामि।

---

83. मैथिलीयपाठे (पुस्तके) – उन्नतत्वम्।

मिश्रकेशी–जो जो पिअसहीए अहिमदो पदेसो तं तं आलिहिदुकामो त्ति तक्केमि। (यः यः प्रियसख्याः अभिमतः प्रदेशः तं तमालिखितुकाम इति तर्कयामि।)

राजा–सखे, श्रूयताम्।

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादस्तामभितो निषण्णचमरो गौरीगुरोः पावनः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।। 6–20।।

विदूषकः–(अपवार्य) जधा मन्तेदि तधा तक्केमि पूरिदो अणेण चित्तफलओ आइदीहिं कुच्चाणदाणं तावसाणं ति। (यथा मन्त्रयते तथा तर्कयामि पूरितः अनेन चित्रफलकः आकृतिभिः कूर्चानतानां तापसानाम् इति।)

राजा–अन्यच्च शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमत्रालिखितुं विस्मृतमस्माभिः।

विदूषकः–किं विअ। (किमिव।)

मिश्रकेशी–वणवासस्स कण्णआभावस्स च सरसिं भविस्सदि। (वनवासस्य कन्यकाभावस्य च सदृशं भविष्यति।)

राजा–

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरश्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे।।6–21।।

विदूषकः–किं णु क्खु तत्थभोदी रत्तकुवलअसोहिणा अग्गहत्थेण मुहं ओवारिअ चकिदचकिदा विअ ट्ठिदा। (दृष्ट्वा) आं एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो धिट्ठमहुअरो तत्थभोदीए वअणकमलं अहिलसदि। (किन्नु खलु तत्रभवती रक्तकुवलयशोभिना अग्रहस्तेन मुखमपवार्य चकितचकितेव स्थिता। आम्। एषः दास्याःपुत्र कुसुमरस–पाटच्चरः धृष्टमधुकरः तत्रभवत्याः वदनकमलमभिलषति।)

कार्येति०।।(6–20)–सैकतं वालुकातटम्। पादः प्रत्यन्तपर्वतः कार्य इत्यनुषङ्गः। तामभितः मालिनीसमीपे गौरीगुरोर्हिमालयस्य। कृष्णमृगस्य[84] कृष्णसारस्य।। यथा मन्त्रयति तथा तर्कयामि। पूरितोऽनेनेति चित्रफलक आकृतिभिः कूर्चानतानां तापसानाम्। कूर्चः श्मश्रुः। कूर्चो विकत्थने मध्ये भ्रुवोः श्मश्रुणि केतव इति विश्वः। किमिव, इव शब्दो वाक्यालङ्कारे। वनवासस्य कन्यकाभावस्य च सदृशं भविष्यति।

कृतमिति०।। (6–21)।। बन्धनं वृन्तम्। कोमलं रम्यम्।। किं न खलु तत्रभवती रक्तकुवलयशोभिनाग्रहस्तेन मुखमपवार्य चकितेव स्थिता।

---

84. मैथिलीयपाठे (पुस्तके) शब्दोऽयमस्ति।

राजा–ननु वार्यतामेष धृष्टः।

विदूषकः–तुमं जेव अविणीदसासणे पहवसि। (त्वमेवाविनीतशासने प्रभवसि।)

राजा–युज्यते। अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे। किमितः परिपतनखेदमनुभवसि।

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति भ्रमरी न खलु मधु त्वां विना पिबति।।6–22।।

मिश्रकेशी–अहिजादं खु वारिदो। (अभिजातं खलु वारितः।)

विदूषकः–पडिसिद्धवामा खु एसा जादी। (प्रतिषिद्धवामा खल्वेषा जातिः।)

राजा–(सकोपम्) भोः। न मे शासने तिष्ठसि। श्रूयतां तर्हि संप्रति–

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं दशसि चेद् भ्रमर प्रियाया-
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम्।।6–23।।

विदूषकः–भो। एवं तिक्खदण्डस्स दे कधं ण भाइस्सदि। (प्रहस्यात्मगतम्) एसो दाव उम्मत्तओ अहं पि एदस्स सङ्गेण ईदिसो ज्जेव संवुत्तो। (भोः एवं तीक्ष्णदण्डस्य ते कथं न भेष्यति। एषः तावदुन्मत्तोऽहमप्येतस्य सङ्गेन ईदृशः एव संवृत्तः।)

राजा–कथं निवार्यमाणोऽपि स्थित एव।

मिश्रकेशी–धीरं पि जणं रसो विआरेदि। (धीरमपि जनं रसः विकारयति।)

विदूषकः–(प्रकाशम्) भो चित्तं खु एदं। (भोः चित्रं खल्वेतत्।)

ही ही भो हास्योक्तौ। एष दास्याः पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरो मधुकरोऽत्रभवत्या वदनकमल-मभिलषति। पाटच्चरश्चौरः। त्वमेवाविनीतशासने प्रभवसि।।

एषेति०।। (6-22)।। अथ च चन्द्रमरीचिप्राया(?) शकुन्तलेति सूच्यत इति शङ्करः।। अभिजातमुचितं खलु वारितः। खल्वस्य व्याहतमिति वा पाठान्तरे। प्रतिषिद्धवामा खल्वेषा जातिः।।

लोभनीयं०।।(6-23)।। रम्यम्। बिम्बेति मध्यमपदलोपी समासः।। भो एवं तीक्ष्णदण्डस्य ते कथं न भेष्यति। प्रहस्य हसित्वा। तदुक्तम् "सावष्टम्भं साश्रुनेत्रं विक्रुष्टस्वरसंयुतम्। करोपगूढपार्श्वं च उच्चप्रहसितं[85] भवेदिति"।। एष तावदुन्मत्तः। अहमप्येतस्य सङ्गेन ईदृश एव संवृत्तः। धीरमपि जनं रसो विप्रलम्भः व्याकुलयति। असंबद्धमधम् आलापादित्यर्थः। भोश्चित्रं खल्वेतत्। अहम् अपीदानीम् एव गृहीतार्थः(र्था), किं पुन–र्यथाचिन्तितानुभावी एषः।

दर्शन०।।(6-24)।।तन्मयेन शकुन्तलामयेन।इयं पञ्चमी कामावस्था।तदुक्तं–पञ्चमे तन्मयत्वं

---

85. मैथिलीयपाठे (पुस्तके) – तत्प्रहासं।

राजा–कथं चित्रम्।

मिश्रकेशी–अहं पि दाणिं जेव अवगदत्था, किं उण जधाचिन्तिदाणुभावी एसो। (अहमप्यदानीमेवावगतार्था, किं पुनः यथाचिन्तितानुभावी एषः।)

राजा–किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम्।

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता।। 6–24।।

(इति बाष्पं विसृजति)

मिश्रकेशी–अम्मो, पुव्वावरविरुद्धो एसो विहिणो मग्गो। (अम्भो, पूर्वापरविरूद्धः एषः विधेः मार्गः।)

राजा–वयस्य, कथमविश्रामं दुःखमनुभवामि।

प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्नसमागमः।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि।। 6–25।।

मिश्रकेशी–सव्वधा वअस्स संमज्जिदं तए पच्चादेसदुक्खं पिअसहीए सउन्तलाए पच्चक्खं जेव सहीअणस्स। (सर्वथा वयस्य संमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं प्रियसख्याः शकुन्तलायाः प्रत्यक्षमेव सखीजनस्य।)

प्रविश्य **चतुरिका**–भट्टा, वत्तिआकरण्डअं गेण्हिअ इदो अहं पत्थिद म्हि। (भर्तः, वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वा इतः अहं प्रस्थितास्मि।)

राजा–किं ततः।

चेटी–सो मे पिङ्गलिआदुदिआए देवीए वसुमदीए अहं जेव अज्जउत्तस्स उवणइस्सं ति भणिअ सबलक्कारं गहिदो। (सः मे पिङ्गलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्या अहम् एवार्यपुत्रस्य उपनेष्यामिति भणित्वा सबलात्कारं गृहीतः।)

विदूषकः–तुमं कधं विमुक्का। (त्वं कथं विमुक्ता।)

चेटी–जाव लदाविडवलग्गं देवीए परिचारिआ अञ्चलं मोआवेदी ताव णिण्हुविदो मए अप्पा।

चेति।। अम्मो विस्मये। पूर्वापरविरुद्ध एष विधेर्मार्गः।। प्रजागरादिति०।। (6–25)।। खिलीभूतो दुर्लभः।।

सर्वथा वयस्य मार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं प्रियसख्याः शकुन्तलायाः प्रत्यक्षेन स सखीजनस्य, न ममेत्यर्थात्।। भट्टारक वर्तिका–करण्डिकां गृहीत्वा इतोऽहं प्रस्थितास्मि। करण्डिका पुष्पाद्याहार–पात्रविषेषः। सा च पिङ्गलिका–द्वितीयया देव्या वसुमत्या अहमेवार्यपुत्रस्योपनेष्यामीति भणित्वा सबलात्कारं गृहीता सा करण्डिका।। पिङ्गलिका सखी। वसुमती देवी नाम। त्वं कथं विमुक्ता।

(यावत् लताविटपलग्नं देव्याः परिचारिका अञ्चलं मोचयति तावत् निह्नुतः मया आत्मा।)

(नेपथ्ये) एदु एदु भट्टिणी। (एत्वेतु भर्त्री।)

विदूषकः–(कर्णं दत्त्वा) भो अहिधावन्ती एसा अन्तेउरवग्घी मेधाविणिं मइं विअ कवलिदुं उवत्थिदा। (भोः अभिधावन्ती एषा अन्तःपुरव्याघ्री मेधाविनीं मृगीमिव कवलयितुमुपस्थिता।)

राजा–वयस्य, उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता। तद्भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु।

विदूषकः–अत्ताणअं पि किं ति ण भणसि। (चित्रफलकमादाय उत्थाय च) जइ भवं अन्तेउरवाउरादो मुच्चिस्सदि तदो मं मेहच्छण्णप्पासादे सद्दावेसि। एदं च तहिं गोवेमि जहिं पारावदं उज्झिअ ण को वि अण्णो पेक्खदि। (आत्मानमपि किं न भणसि। यदि भवानन्तःपुरवागुरातः मोक्ष्यते ततः मां मेघछन्नप्रासादे शब्दयसि। एतत् च तत्र गोपयामि यत्र पारावतमुज्झित्वा न कोऽप्यन्यः प्रेक्षते।)

(इति द्रुतपदं निष्क्रान्तः)

मिश्रकेशी–अम्मो, अण्णसंकन्तहिअओ वि पढमसंभावणं रक्खदि। थिरसोहिदो दाव एसो। (अम्मो अन्यसंक्रान्तहृदयः अपि प्रथमसम्भावनाम् रक्षति। स्थिरसौहृदः तावदेषः।)

प्रविश्य पत्रहस्ता **प्रतीहारी**–जअदु जअदु देवो। (जयतु जयतु देवः।)

राजा–वेत्रवति, न खल्वन्तरे दृष्टा त्वया देवी वसुमती।

प्रतीहारी–देव, दिट्ठा पत्तहत्थं मं पेक्खिअ पडिणिउत्ता। (देव, दृष्टा, पत्रहस्तां मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता।)

राजा–कालज्ञा देवी कार्योपरोधं मे परिहरति।

प्रतीहारी–देव, अमच्चो विण्णवेदि। अत्थजादस्स बहुलदाए एक्कं मए पोरकज्जं पच्चवेक्खिदं। तं देवो पत्तारोविदं पच्चक्खीकरेदु त्ति। (देव, अमात्यः विज्ञापयति। अर्थजातस्य बहुलतया एकं मया पौरकार्यं प्रत्यवेक्षितम्। तद्देवः पत्रारोपितं प्रत्यक्षीकरोतु इति।)

राजा–इतः पत्रं दर्शय। (प्रतीहारी तथा करोति)

यावल्लताविटपलग्नं देव्याः परिचारिका अञ्चलं मोचयति तावन्निर्वाहितो मयात्मा। आत्मानमपि किमिति न भणसि। वयस्य, यदि भवानन्तःपुरकूटवागूरातो मोक्ष्यते ततोऽहं मेघच्छन्दप्रासादे आह्वास्यते। मेघेति प्रासाद नाम। इदं चार्थाच्चित्रफलकं तत्र गोपयामि यत्र पारावतं वर्जयित्वा न कोऽप्यन्यः प्रेक्षते।। अम्मो विस्मये। अन्यसंक्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसंभावनां रक्षति। स्थिरसौहृदस्तावदेषः। जयति जयति देवः। अन्तरे मध्ये। देवं दृष्ट्वा(दृष्टा)। पत्रहस्तं मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता। उपरोधं प्रत्यूहम्।

राजा–(वाचयति) विदितमस्तु देवपादानाम्। धनवृद्धिनामा वणिग्वारिपथोपजीवी नौव्यसनेन विपन्नः। स चानपत्यस्तस्यानेककोटिसंख्यं वसु। तदिदानीं राजार्थताम् आपद्यते। इति श्रुत्वा देवः प्रमाणमिति।

राजा–(सविषादम्) कष्टं खल्वनपत्यता। वेत्रवति, महाधनत्वाद्बहुपत्नीकेनानेन भवितव्यम्। तदन्विष्यतां यदि काचिद् आपन्नसत्त्वा तस्य भार्या स्यात्।

प्रतीहारी–इदाणिं जेव साकेदअपुरस्स सेट्ठिणो दुहिदा णिव्वुत्तपुंसवणा तस्स जाआ सुणीअदि। (इदानीमेव साकेतकपुरस्य श्रेष्ठिनः दुहिता निर्वृत्तपुंसवना तस्य जाया श्रूयते।)

राजा–ननु स गर्भः पित्र्यम् रिक्थमर्हति। गत्वैवममात्यं ब्रूहि।

प्रतिहारी–जं देवो आणवेदि। (यद्देवो आज्ञापयति।) (इति प्रस्थिता।)

राजा–एहि तावत्।

प्रतीहारी–(निवृत्य) एस म्हि। (एषास्मि।)

राजा–अथवा किमनेन संततिरस्ति नास्ति वा।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुःषन्त इति घुष्यताम्।।6–26।।

प्रतीहारी–इदं णाम घोसइदव्वं। (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) देव, काले पवुट्ठं विअ सासणं अहिणन्दिदं महाजणेण देवस्स।

(इदं नाम घोषयितव्यम्। देव, काले प्रवृष्टमिव शासनमभिनन्दितं महाजनेन देवस्य।)

राजा–(दीर्घं निःश्वस्य) एवं भोः संततिविच्छेदनिरवलम्बना मूलपुरुषावसाने संपदः परमुपतिष्ठन्ते। ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रिय एष वृत्तान्तः।

प्रतीहारी–पडिहदं अमङ्गलं। (प्रतिहतम् अमङ्गलम्।)

राजा–धिङ् मामुपनतश्रेयोऽवमानिनम्।

मिश्रकेशी–असंसअं पिअसहिं जेव हिअए कदुअ णिन्दिदो अणेण अप्पा भविस्सदि।

(असंशयं प्रियसखीमेव हृदये कृत्वा निन्दितः अनेनात्मा भविष्यति।)

देवामात्यो विज्ञापयति एकं मया पौरकार्यं प्रत्यवेक्षितं तद् देवः पत्रारोपितं प्रत्यक्षीकरोतु। नाविति[86] नाविकवृत्तिः। राजात्मजां राजसुताम्। आपन्नसत्त्वा गर्भवती। देव, इदानीं साकेतकपुरस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तप्रसवा(निर्वृत्तपुंसवना) तस्य जायेति श्रूयते। श्रेष्ठी वणिगादिकुलमुख्यः। रिक्थं धनम्। यद्देव आज्ञापयति। इयमस्मि।। येनेति०।। (6–26)।। प्रजा लोकाः। पापात् पापिष्ठात् ऋते विना।। एवं इदं वा नाम घोषयितव्यम्। देव काले प्रवृष्टमिव शासनमभिवर्धितं जनेन देवस्य। प्रतिहतममङ्गलम्। असंशयं प्रियसखीमेव हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेनात्मा भविष्यति।।

86. प्रकाशिते मैथिलपुस्तके वारिपथोपजीवी नाविकवृत्तिरिति पठ्यते।

राजा–

संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी
त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय
वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा।। 6–27।।

मिश्रकेशी–अपरिच्चत्ता दाणिं दे भविस्सदि। (अपरित्यक्ता इदानीं ते भविष्यति।)

चेटी–(जनान्तिकम्) अज्जे, एदं पत्तं पेसअन्तेण दिउणाणुदावो किदो भट्टा अमच्चेण। ता मेहच्छण्णावट्ठिदं संतावणिव्वावइत्तअं अज्जमाधव्वं गेण्हिअ आअच्छ।

(आर्ये, एतत्पत्रं प्रेषयता द्विगुणानुतापः कृतः भर्ता अमात्येन। तत्मेघच्छन्नावस्थितं संतापनिर्वापयितारम् आर्यमाधव्यं गृहीत्वा आगच्छ।)

प्रतीहारी–सुट्ठु दे भणिदं। (सुष्ठु ते भणितम्।) (इति निष्क्रान्ता)

राजा–अहो, दुःषन्तस्य संशयमारुढाः पिण्डभाजः।

अस्मात्परं बत यथास्मृति संभृतानि
को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुसेकमुदकं पितरः पिबन्ति।। 6–28।।

मिश्रकेशी–सदि क्खु दीवे ववधाणदोसेण अन्धआरं अणुभवदि राएसी। (सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणान्धकारमनुभवति राजर्षिः।)

चेटी–भट्टा, अलं संताविदेण। वअत्थो ज्जेव पहू अवरासुं देवीसुं अणुरूवपुत्तजम्मेण पुव्वपुरिसाणं अरिणो भविस्सदि। (आत्मगतम्) ण मे वअणं पडिच्छदि भट्टा। अधवा अणुरूवं जेव ओसधं आदङ्कं णिअत्तेदि। (भर्तः, अलं संतापितेन। वयःस्थः एव प्रभुः अपरासु देवीषु अनुरूपपुत्रजन्मना पूर्वपुरुषाणामनृणः भविष्यति। न मे वचनं प्रतीच्छति भर्ता। अथवा– अनुरूपमेवौषधम् आतङ्कं निवर्तयति।)

संरोपित इति।। (6–27)।। आत्मनि संरोपितेऽर्थात् तस्या गर्भे जाते इत्यर्थः। यदुक्तम् "आत्मा वै जायते पुत्र" इति। काले वर्षासु।। अपरित्यक्तेदानीं ते भविष्यति। आर्ये इदं पत्रं प्रेषयता द्विगुणानुतापः कृतो भर्तामात्येन। तन्मेघच्छन्दावस्थितं संतापनिर्वापकमार्य-माधव्यं गृहीत्वा गच्छ। श्रेष्ठं प्रशस्तं यत्त्वया भणितम्। पिण्डभाजः पितरः।।

अस्मात्०।। (6–28)।। दुष्म(ष्य)न्तात्। निवपनानि जलाञ्जल्यादीनि। मृतोद्देश्यकोदकदानं निवापः। प्रसिक्तं दत्तम्। धौतेति क्रियाविशेषणम्। विन्यासो नाम नाट्यालङ्कारः। तदुक्तं–"निर्वेद-वाक्यवचनं विन्यासस्तु प्रकीर्तितः" इति शङ्करः।।

राजा–(शोकनाटितकेन) सर्वथा–

आमूलशुद्धसंततिकुलमेतत्पौरवं प्रजावन्ध्ये।
मय्यस्तमितमनार्ये देश इव सरस्वतीस्रोतः।।6–29।।

(इति मोहमुपागतः)

चेटी–(संसभ्रमम्) समस्ससदु समस्ससदु भट्टा। (समाश्वसितु समाश्वसितु भर्ता।)

मिश्रकेशी–किं इदाणिं जेव णं णिव्वुदं करइस्सं। अधवा सुदं मए सउन्तलं संभावअन्तीए देवजणणीए मुहादो जण्णभाअसमूसुआओ देवदाओ ज्जेव तधा करइस्सन्ति जधा सो भत्ता तुमं अइरेण धम्मवत्तिं अहिणन्दिस्सदि त्ति। ता ण जुत्तं मम एत्थ विलम्बिदुं। जाव इमिणा वुत्तन्तेण पिअसहिं सउन्तलं समस्ससेमि। (किमिदानीमेवेनं निर्वृत्तं करिष्यामि। अथवा श्रुतं मया शकुन्तलां संभावयन्त्याः देवजनन्याः मुखात् यज्ञभागसमुत्सुकाः देवताः एव तथा करिष्यन्ति। यथा सः भर्ता त्वामचिरेण धर्मपत्नीम् अभिनन्दिष्यतीति। तन्न युक्तं ममात्र विलम्बितुम्। यावदनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं शकुन्तलां समाश्वासयामि।

(इत्युद्भ्रान्तकेन निष्क्रान्ता।)

नेपथ्ये–भो, अव्बम्हण्णं अव्बम्हण्णं। (भोः अब्रह्मण्यम् .....। अब्रह्मण्यम्।)

राजा–(प्रत्यागतचेतनः कर्णं दत्त्वा) अये माधव्यस्येवार्तनादः।

चेटी–भट्टा, मा णाम सो माधव्वतवस्सी पिङ्गलिआमिस्सिआहिं चित्तफलअहत्थो पाविदो भविस्सदि। (भर्तः, मा नाम सः माधव्यतपस्वी पिङ्गलिकामिश्राभिः चित्रफलक-हस्तः प्राप्तः भविष्यति।)

राजा–चतुरिके, गच्छ। मद्वचनादनिषिद्धपरिजनां देवीमुपालभस्व।

चेटी–जं देवो आणवेदि। (यद्देवो आज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्ता)

सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणान्धकारमनुभवति राजर्षिः। भट्टारक अलं संतापितेन। वयःस्थ एव प्रभुः, अपरासु देवीष्वनुरूपपुत्रजन्मना पूर्वेषाम् अनृणो भविष्यामि। न मे वचनं प्रतिगृह्णाति भर्ता अथवानुरूपमेवौषधमातङ्कं निवर्तयति।।

आमूलेति०।। (6-29)।। प्रजापत्यं तद् वन्ध्ये अत एवानार्ये पापिष्ठे। यथानार्येऽधमदेशे सरस्वतीनदीस्रोतः।। समाश्वसितु समाश्वसितु भर्ता। किमिदानीमेवैनं निर्वृत्तं करिष्यामि। अथवा मया श्रुतं शकुन्तलां संभावयन्त्या देवजनन्या मुखात् यज्ञभागसमुत्सुका देवा एव तथा करिष्यन्ति यथा भर्ता त्वामचिरेण धर्मपत्नीमभिनन्दिष्यति। तन्न युक्तं ममात्र विलम्बितुम्। यावदेतेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं शकुन्तलां समाश्वासयामि। उद्भ्रान्तकेन ऊर्ध्वगतिभेदेन। भो अब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम्। अवध्योऽहमित्यर्थः। "अब्रह्मण्यम् अवध्योक्तावि" त्यमरः।

नेपथ्ये–भो, अव्बम्हण्णं अव्बम्हण्णं। (भो: अब्रह्मण्यं अब्रह्मण्यम्।)

राजा–परमार्थतो भीतिभिन्नस्वरो ब्राह्मण:। क: कोऽत्र भो:।

प्रविश्य **कञ्चुकी**–आज्ञापयतु देव:।

राजा–निरूप्यतां किमेवं माधव्यमाणवक: क्रन्दतीति।

कञ्चुकी–यावदालोकयामि। (इति निष्क्रम्य ससंभ्रमं पुन: प्रविष्ट:)

राजा–पार्वतायन। न खलु किं चिदत्याहितम्।

कञ्चुकी–एवम्।

राजा–तत्कुतोऽयं वेपथु:। तथा हि–

प्रागेव जरसा कम्प: सविशेषेण सम्प्रति।
आविष्करोति सर्वाङ्गमश्वत्थमिव मारुत:।।6–30।।

कञ्चुकी–परित्रायतां सुहृदं महाराज:।

राजा–कस्मात्परित्रातव्य:।

कञ्चुकी–महत: कृच्छ्रात्।

राजा–अयि, भिन्नार्थमभिधीयताम्।

कञ्चुकी–योऽसौ दिगवलोकनप्रासादो मेघच्छन्नो नाम।

राजा–किं तत्र।

कञ्चुकी–

तस्याग्रभागाद्गृहनीलकण्ठैरनेकविश्रामविलङ्घ्यशृङ्गात्।
सखा प्रकाशेतरमूर्तिना ते केनापि सत्त्वेन निगृह्य नीत:।।6-31।।

भट्टारक, मा नाम स माधव्यतपस्वी पिङ्गलिका–मिश्रिताभिश्चित्रफलकहस्त: प्राप्तो भविष्यति। ताभि: स हन्यत इति भाव:। नाम संभावनायाम्। मा काकौ। मा नामेत्यव्ययसमुदाय: संभावनार्थ इति केचित्। भो अब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम्। "माणवको हावभेदे बाले कुपुरुषेऽपि च" इति मेदिनी। अत्याहितं महाभीतिरित्यमर:।

प्रागेवेति०।। (6-30)।। स कम्प: सम्प्रति विशेषेणाविष्करोति प्रकटयति च तमेवेत्यर्थ:। आविष्करोति चालयतीत्यन्य:।। परित्रायतां रक्षतु। अत्र पर्याप्नोत्विति पाठोऽमरटीकाकृद्भिर्धृत:। पर्याप्नोतु परित्रायताम्। स्यात् पर्याप्ति: परित्राणमित्यमर:। भिन्नार्थं व्यक्तार्थम्।।

तस्येति०।। (6-31)।। प्रकाशेति गुप्तशरीरेण अदृश्येनेत्यर्थ:। सत्त्वेन प्राणिना।।

ममापीति गर्वाख्यो नाम नाट्यालङ्कार:। तदुक्तं "गर्वोऽवलेपजं वाक्यमिति"।।

राजा–(सहसोत्थाय) आः। ममापि सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः। अथ वा बहुप्रत्यवायं नृपत्वम्।

अहन्यहन्यात्मनः एव ताव-
ज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम्।
प्रजासु कः केन पथा प्रयाती-
त्यशेषतः कस्य पुनः प्रभुत्वम्।। 6–32।।

नेपथ्ये–अविद अविद भो। (अविद अविद भोः।)

राजा–(आकर्ण्य गतिभेदं रूपयन्) सखे, न भेतव्यं न भेतव्यम्।

नेपथ्ये–भो। कधं ण भाइस्सं। एसो मं को वि पच्छामोडिअ सिरोधरं इक्खुं विअ भग्गगण्ठिं करिदुं इच्छदि। (भोः कथं न भेष्यामि। एषः मां कोऽपि पश्चान्मोट्य शिरोधरम् इक्षुमिव भग्नग्रन्थिं कर्तुमिच्छति।)

राजा–(सदृष्टविक्षेपम्) धनुर्धनुस्तावत्।

प्रविश्य धनुर्हस्ता **यवनी**–भट्टा, एदं ससरं सरासणं हत्थावाओ अ।

(भर्ता, एतत् सशरं शरासनं हस्तावापः च। (राजा सशरं अनुरादत्ते)

नेपथ्ये–

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी
शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम्।
आर्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा
दुःषन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम्।। 6–33।।

राजा–(सक्रोधम्) कथं मामेवोद्दिशति। आः। तिष्ठ तिष्ठ कौणपापसद। अयमिदानीं न भवसि। (चापमारोप्य) पार्वतायन, सोपानमार्गमादेशय।

कञ्चुकी–इत इतो देवः। (सर्वे सत्वरमुपसर्पन्ति)

राजा–(समन्तादवलोक्य) अये, शून्यमिदम्।

नेपथ्ये–परित्ताहि परित्ताहि। अहं भवन्तं पेक्खामि तुमं ण मं पेक्खसि। मज्जारगहिदो विअ उन्दुरो णिरासो म्हि जीविदे।

अहनीति०।। (6-32)।। प्रभुत्वं ज्ञातृत्वम्।। अभिधावेति अभिधावनं गतिभेदः। अतिशीघ्रं गच्छेत्यर्थः। भोः कथं न भेष्यामि। एष मां कोऽपि पश्चान्मोटित-शिरोधरमिक्षुमिव भग्नास्थिं कर्तुमिच्छति। मोटितं पाटितम्। उच्छुमिति उदिक्षुवृश्चिकयोरिति प्राकृतसूत्रात्।

भट्टारक इदं सशरं शरासनं हस्तावापश्च।।

एष०।। (6-33)।। चेष्टमानं करचरणादिप्रसारणशीलम्।।

(परित्राहि परित्राहि। अहं भवन्तं प्रेक्षे, त्वं न मां प्रेक्षसे। मार्जारगृहीतः इव उन्दुरः निराशः अस्मि जीविते।)

राजा–भोस्तिरस्करिणीगर्वित, किं मदीयमस्त्रमपि त्वां न पश्यति। स्थिरो भव। मा च ते वयस्यसम्पर्काद् विश्वासोऽभूत्। एष तमिषुं संदधे–

यो हनिष्यति वध्यं, त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः।।6–34।।

(इति शस्त्रं संधत्ते)

(ततः प्रविशति मातलिर्विदूषकश्च)

मातलिः–आयुष्मन्

कृताः शरव्यं हरिणा तवासुराः
शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम्।
प्रमादसौम्यानि सतां सुहृज्जने
पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः।।6–35।।

राजा–(ससंभ्रममस्त्रमुपसंहरन्) अये, कथं मातलिः। स्वागतं देवराजसारथे।

विदूषकः–भो, मणं म्हि इमिणा अहं पसुमारणेण मारिदुं ण पारिदो। भवं उण इमं साअदेण अहिणन्ददि। (भोः मनाक् अस्मि अनेन अहं पशुमारणेन मारयितुं न पारितः। भवान् पुनः इमं स्वागतेन अभिनन्दति।)

मातलिः–(सस्मितम्) आयुष्मन्, श्रूयतां यदर्थमस्मि हरिणा त्वत्सकाशं प्रेषितः।

राजा–अवहितोऽस्मि।

मातलिः–अस्ति कालनेमिप्रसूतो दुर्जयो नाम दानवगणः।

राजा–श्रुतपूर्वो मया नारदात्।

मातलिः–

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरवध्य-
स्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता।

कौणपाः राक्षसाः। मृत्यावयं न भवसीति नाट्योक्तौ त्रिलोचनमिश्राः। सोपानमारोहणम्। परित्राहि। अहं भवन्तं प्रेक्षे। त्वं मां न प्रेक्षसे। तस्मान्मार्जारगृहीत इवोन्दुरुर्निराशोऽस्मि जीविते।। य:०।। (6-34)।। शरः। अपो जलानि। हंसस्वभावोऽयम्।। कृतेति०।। (6-35)।। शरव्यं लक्ष्यम्। हरिणा इन्द्रेण। शरव्या इति शङ्करधृतः पाठः।। भो मनागस्मि एतेन पशुमारणेन मारितुं न पारितः। भवान् पुनरिमं स्वागतेनाभिनन्दति। मनागल्पेन।। सख्युरिति०।। (6-36)।। अपाकरोति व्यसनयति। प्रतिवस्तूपमा।।

उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्ति-
स्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः।। 6–36।।

स भवानात्तचाप एवेदानीं देवरथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम्।

राजा–अनुगृहीतोऽस्म्यनया मघवतः संभावनया। अथ भवद्भिर्माधव्यं प्रति किमेवं प्रयुक्तम्।

मातलिः–एतदपि कथ्यते। किंनिमित्तादपि मनस्तापादायुष्मान्विक्लवो दृष्टः। पश्चात्कोपयितुम् आयुष्यन्तं तथा कृतवानस्मि। कुतः–

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते।
तेजस्वी संक्षोभात्प्रायः प्रतिपद्यते तेजः।। 6-37।।

राजा–वयस्य, अनतिक्रमणीया दिवस्पतेराज्ञा। तद्गच्छ। परिगर्तार्थं कृत्वा मद्वचनाद् अमात्यपिशुनं ब्रूहि।

त्वन्मतिः केवला तावत्प्रतिपालयतु प्रजाः।
अधिज्यमिदमन्यस्मिन्कर्मणि व्यापृतं धनुः।। 6–38।।

विदूषकः–जं भवं आणवेदि। (यद्भवानाज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्तः)

मातलिः–रथमारोहत्वायुष्यमान्। (राजा तथा करोति)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

।। षष्ठोऽङ्कः।।

संभावना आदरः। अथ प्रश्ने। आयुष्यमान् भवान्।।

ज्वल०।। 6-37।। विप्प(प्र)कृतः पीडितः। संक्षोभात् भयनिमित्तात्।।

व्यापृतं०।। (6-38)।। व्यापृतिः(तं) व्यावृत्तम्।। यद् भवान्[87] आज्ञापयति। रथमिति परालंकारः(?)।।

।। इति षष्ठाङ्क-विवरणम्।।

—•—

87. मातृका 4117 इत्यत्र यञ्च वानाज्ञा० इति पठ्यते।

।। सप्तमोऽङ्कः ।।

(ततः प्रविशत्याकाशवर्त्मना रथारूढो राजा मातलिश्च)

राजा–मातले, अनुष्ठितनिदेशोऽपि मघवतः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये।

मातलिः–आयुष्मन्, उभयत्राप्यसंतोषमवगच्छ। कुतः–

उपकृत्य हरेस्तथा भवाल्लँघु सत्कारमवेक्ष्य मन्यते।
गणयत्यवदानसंमितां भवतः सोऽपि न सत्क्रियामिमाम्।। 7–1।।

राजा–मा मैवम्। स खलु मनोरथानामप्यतिदूरवर्ती विसर्जनावसरे सत्कारः। मम हि दिवौकसां समक्षमर्धासनोपविष्टस्य

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन।
प्रमृज्य वक्षो हरिचन्दनाङ्कं मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा।। 7–2।।

मातलिः–किमिव सुरेशादायुष्मान्नार्हति। पश्य–

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं त्रिदिवमुद्धृत-दानवकण्टकम्।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः।। 7–3।।

राजा–अत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा। पश्य–

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
सम्भावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्।
किं प्राभविष्यदरुणस्तमसां वधाय
तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत्।। 7–4।।

।। अथ सप्तमाङ्क-विवरणम्।।

अयुक्तमनुपकारकम्[88]। समर्थयेऽवगच्छामि। उभयत्र स्वविषये इन्द्रविषये च। उप०। (7-1)।। तवोपकृत्य लघु मन्यते। अवदानमसाधारणं कर्म, तत्तुल्यं न गणयति।। विसर्जनं प्रस्थापनम्। अन्तर्गतेति० (7-2)।। तन्माना नोथापनमित्यर्थः। हरिचन्दनेन, चन्दनभेदेन। वक्षः प्रमृज्य उपलिप्य। मयेति मस्तकस्थेनान्वयः। पारिजातमाला पिनद्धा। हरिचन्दनाङ्कमिति क्वचित्।। अथ लतेति० (7-3)।। पक्वता(?) सूचनार्थम्। पुरुषेति नृसिंहस्य।। सिध्यन्ति (7-4)।। कृतकृत्या भवन्ति। नियोज्याः सेवकाः। धुरि रथाग्रे।।

---

88. मातृका 4117 इत्यत्र पठ्यते।

मातलिः–सदृशं तवैतत्। (स्तोकमन्तरं गत्वा) आयुष्यन्। इतः पश्य नाकपृष्ठप्रस्थितस्य सौभाग्यमात्मयशसः।

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतान्तरेषु।
संचिन्त्य गीतिक्षममर्थतत्त्वं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति।। 7–5।।

राजा–मातले, असुरसंप्रहारोत्सुकेन पूर्वेद्युरधिरोहता न लक्षितोऽयं प्रदेशो मया। तत्कतमस्मिन्पथि वर्तामहे मरुताम्।

मातलिः–

त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां
ज्योतींषि वर्तयति चक्रविभक्तरश्मिः।
तस्य व्यपेतरजसः प्रवहस्य वायो-
र्मार्गो द्वितीयहरिविक्रमपूत एषः।। 7–6।।

राजा–अतः खलु मे सबाह्यकरणोऽन्तरात्मा प्रसीदति। (रथाङ्गमवलोक्य) शङ्के मेघपदवीमवतीर्णाः स्मः।

मातलिः–आयुष्मन्, कथमवगम्यते।

राजा–

अयमगविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भि -
र्हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां
पिशुनयति रथस्ते शीकरक्लिन्ननेमिः।। 7–7।।

मातलिः–अथ किम्। अन्यच्च। क्षणादूर्ध्वमायुष्मानात्माधिकारभूमौ वर्तिष्यते।

विच्छि० (7-5)।। विच्छित्तिर्अङ्गरागः। "विच्छित्तिरङ्गरागेऽपि हारविच्छेदयोरपीति" विश्वः। वर्णैश्चन्दनादिभिः। कल्पलतावस्त्रेषु लिखन्ति गीतिक्षमं गने(गान)योग्यम् अर्थतत्त्वं अर्थजातम् वा।। तिस्रो० (7-6)।। ति(त्रि)स्रोतसं गङ्गाम्। गगनेति आकाशस्थाम्। ज्योतींषि[89] सूर्यादीनि। वर्तयति दधातीत्यर्थः। चक्रेति–चक्रकोषेण ज्योतिषा विभक्ता रश्मयो येन। त्वत् स्यन्दनप्रान्तासन्नकिरणं यथा स्यादिति तु शङ्करः। रजो गुणः प्रवहनाम्नो वायोर्द्वितीयेन हरेः विक्रमेण विशिष्टपादक्षेपेण पूतः। विक्रमः पाद इत्यन्यः।। करणम् इन्द्रियम्।

अयमिति० (7-7)।। अगाः पर्वताः। हरिभिरिन्द्राश्वैः। अचिरभासां विद्युताम्। जलगर्भमुदरं येषाम्।।

---

89. मातृका 4117 इत्यत्र ज्योतिंषि इति पठ्यते।

राजा–(अधोऽवलोक्य) मातले, वेगावतरणादाश्चर्यदर्शनः संपद्यते मनुष्यलोकः। तथाहि–

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः।
सन्धानं तनुभागनष्टसलिलव्यक्त्या व्रजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते।। 7–8।।

मातलिः–आयुष्मन्, साधु दृष्टम्। (सबहुमानमवलोक्य) अहो, उदग्ररमणीया पृथ्वी।

राजा–मातले, कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढः कनकरसनिष्यन्दी सांध्य इव मेघः सानुमान् अवलोक्यते।

मातलिः–आयुष्मन्, एष खलु हेमकूटो नाम किंपुरुषपर्वतः परं तपस्विनां सिद्धिक्षेत्रम्। पश्य–

स्वायंभुवान्मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः।
सुरासुरगुरुः सोऽस्मिन् सपत्नीकस्तपस्यति।। 7–9।।

राजा–(सादरम्) तेन ह्यनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि। प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि।

मातलिः–आयुष्मन्, प्रथमः कल्पः।

(रथावतरणं नाटयित्वा) एताववतीर्णौ स्वः।

राजा–(सविस्मयम्) मातले,

उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः
प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः।
अभूतलस्पर्शतया निरुद्धति-
स्तवावतीर्णोऽपि न लक्ष्यते रथः।। 7–10।।

मातलिः–एतावानेवायुष्मतः शतक्रतोश्च रथस्य विशेषः।

राजा–कतमस्मिन्प्रदेशे मारीचाश्रमः।

शैला० (7-8)।। शैलशिखरादवरोहतीव। पर्णेति पर्णसमूहलीनतामैक्यम्। कृशभागे नष्टस्य सलिलस्य भक्त्या तनुभावनष्टसलिला {व्यक्तमिति}। तनुभावः कृशता। व्यक्तं स्फुटमिति शङ्करः।।

उदग्रम् (7-9)।। अत्यर्थम्[90]। सानुमान् पर्वतः। मरीचेर्मरीचिनाम्नो यो जातः कश्यप इत्यर्थः।।

उपो०।।7-10।। रथाङ्गं चक्रम्। नेमिः प्रान्तः।

---

90. उदग्रमत्यर्थात् इति 4118 इत्यत्र पठ्यते।

मातलिः–(हस्तेन दर्शयन्) पश्य,

वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरगत्वग्ब्रह्मसूत्रान्तर :
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यन्तसंपीडितः।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः।। 7–11।।

राजा–(विलोक्य) नमोऽस्मै कष्टतपसे।

मातलिः–(संयतप्रग्रहं रथं कृत्वा) एतावदितिपरिवर्धितमन्दारवृक्षकं प्रजापतेराश्रमपदं प्रविष्टौ स्वः।

राजा–अहो, स्वर्गादिदमधिकतरं निर्वृतिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।

मातलिः–(रथं स्थापयित्वा) अवतरत्वायुष्यमान्।

राजा–(साभिनयमवतीर्य) भवान् कथमिदानीम्।

मातलिः–समययन्त्रित एवायमास्ते रथः। तद्वयमप्यवतरामः। (तथा कृत्वा) आयुष्मन्, इतो दृश्यन्तामत्रभवतां सिद्धमुनीनां तपोवनभूमयः।

राजा–ननु विस्मयादुभयमप्यवलोकयामि।

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यद्वाञ्छन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी।। 7–12।।

मातलिः–उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना। (परिक्रम्याकाशे) वृद्धशाकल्य, किंव्यापारो भगवान्मारीचः। (आकर्ण्य) किं ब्रवीषि। एष दाक्षायण्या पतिव्रतापुण्यमधिकृत्य पृष्टस्तदस्यै कथयतीति। प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः।

(राजानमवलोक्य)

अस्यामशोकच्छायायामास्ताम् आयुष्मान् यावत्त्वामहमिन्द्रगुरवे निवेदयामि।

राजा–यथा भवान्मन्यते। (इति निष्क्रान्तो मातलिः।)

वल्मी०।। (7-11) सर्पकञ्चुक एव यज्ञोपवीतान्तरमस्य यज्ञोपवीती। यज्ञस्रगेव यज्ञोपवीतं तदन्तरं यस्येति शङ्करः।"अन्तरम–वकाशा–वधि–परिधाना–न्तर्धि–तादर्थ्ये"इत्यमरः। नीडः कुलायः। स्थाणुः शाखादिशून्यवृक्षः। अभ्यर्कबिम्बं सूर्यमण्डलस्याभिमुखम्।। कथमिदानीमिति "अव–तरिष्यामी"ति शेषः। तदा रथानवेक्षणादिति भावः। उभयं सुखं दुःखं चेत्यन्यः(?)।

प्राणा०।। (7-12) सत्कल्पवृक्षे०। विद्यमानकल्पतरौ। उत्सर्पिणी यथोत्तरवृद्धेति सुभेदः। दाक्षायण्यादित्या।

राजा–(निमित्तं सूचयित्वा)

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे मुधा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते।।7–13।।

(नेपथ्ये) मा खु मा खु चवलत्तणं करेहि। जहिं तहिं जेव अत्तणो पइदिं दंसेसि।

(मा खलु मा खलु चपलत्वं कुरु। यत्र तत्रैव आत्मनः प्रकृतिं दर्शयसि।)

राजा–(कर्णं दत्त्वा) अभूमिरियमविनयस्य। तत्को नु खल्वेवं निषिध्यते। (शब्दानुसारेणावलोक्य सविस्मयम्) अये, अयम् अनुरुध्यमानस्तापसीभ्याम् अबालसत्त्वो बालः।

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम्।
विलम्बिनं सिंहशिशुं करेणाहत्य कर्षति।।7–14।।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो बालस्तापस्यौ च)

बालः–यिम्भ ले सिंहशावआ यिम्भ। दन्ताइं दे गणइश्शं। (जृम्भस्व रे सिंहशावक, जृम्भस्व। दन्तान् ते गणयिष्यामि।)

प्रथमा–अविणीद, किं ति णो अपच्चणिव्विसेसाइं सत्ताइं विप्पकरेसि। संपहरदि विअ दे संरम्भो। ठाणे क्खु मुणिअणेण सव्वदमणो त्ति किदणामधेओ सि। (अविनीत, किं इति नः अपत्यनिर्विशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि। सम्प्रहरति इव ते संरम्भः। स्थाने खलु मुनिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयः असि।)

राजा–किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे हृदयम्। (विचिन्त्य) आम्। नूनमनपत्यता मां वत्सलयति।

द्वितीया–एसा तुमं केसरिणी लङ्घेदि जइ से पुत्तअं ण मुञ्चेसि। (एषा त्वां केसरिणी लङ्घयति यद्यस्याः पुत्रकं न मुञ्चसि।)

मनो० ।।(7-13)।। परिवर्ततेऽद्येति शेषः। श्रेयो यत्तत्पूर्वमवज्ञातम् इदानीं दुःखमेवेति भावः। यद्वा पूर्वावज्ञात-कल्याणं दुःखं यथा स्यात्तथा परिवर्तते दुःखेनेति शङ्करः।।

"मा खलु मा खलु चपलतां कुरु"। यत्र तत्रैवात्मनः प्रकृतिं स्वभावं दर्शयसि। युवानस्तरुणाः।

[अर्धपीतस्तनम्० ।। (7-14)] अर्द्धक्लिष्टो विपर्यस्तः केसरः। खलु बालः, विलम्बितं लम्बमानम्।।

जृम्भस्व रे सिंहशावक जृम्भस्व। मुख-व्यादानं विधेहि। दन्तांस्ते गणयिष्यामि। अविनीत किमिति नोऽपत्यनिर्विशेषाणि सत्त्वानि विप्रकुरुषे, सोदरनिर्विशेषेषु एषु अस्मिन् वा दुःखं ते(?) संरम्भः। स्थाने खलु मुनिजनेन "सर्वदमन" इति कृतनामधेयोऽसि।

एषा त्वां केसरिणी लङ्घयति, भविष्यदर्थे लट्, यद्यस्याः पुत्रकं न मुञ्चसि। अम्मो विस्मये। बलवत् खलु भीतोऽस्मि। "बलिकम्" अव्ययमत्यर्थवाचीति शङ्करः।।

बालः–(सस्मितम्) अम्मो, बलिअं खु भीदे स्मि। (अम्मो, बलीयः खलु भीतोऽस्मि।) (इत्यधरं दशति)

राजा–(सविस्मयम्)

महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधःक्षय इव स्थितः॥ 7–15॥

प्रथमा–वच्छ, मुञ्च इमं बालमइन्दअं। अण्णं दे कीळणअं दाइस्सं। (वत्स, मुञ्चेमं बालमृगेन्द्रम्, अन्यं ते क्रीडनकं दास्यामि।)

बालः–कहिं शे। देहि मे। (कुत्र एषः, देहि मे।) (इति हस्तं प्रसारयति)

राजा–(हस्तं विलोक्य) कथं चक्रवर्तिलक्षणमनेन धार्यते। तथा हि–

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो
विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः।
अलक्ष्यपत्त्रान्तरमिद्धरागया
नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम्॥ 7–16॥

द्वितीया–सुव्वदे, ण एसो सक्को वाआमेत्तकेण समइदुं। ता गच्छ, मम केरए उडए मङ्कणअस्स इसिकुमारअस्स केरओ वण्णअचित्तिदो मट्टिआमोरो चिट्ठदि। तं से उवहर। (सुव्रते, नैषः शक्यः वाङ्मात्रकेण शमयितुम्। तद्गच्छ। मदीये उटजे मङ्कणकस्य ऋषिकुमारकस्य वर्णकचित्रितः मृत्तिकामयूरः तिष्ठति। तमस्मै उपहर।)

प्रथमा–तधा। (तथा) (इति निष्क्रान्ता)

बालः–ताव इमिणा येव कीळिश्शं। (तावत् अनेनैव क्रीडिष्यामि।)

बीजं०॥ (7–15)॥ महतः कारणम्। शङ्करस्तु अयं बालो नोऽस्माकं तेजसः क्षत्रिय-रूपस्याहितमर्पितं बीजं रेतः प्रतिभातीत्याह। एधः क्षत्रिये काष्ठे क्षयार्थम्। एधः काष्ठे इति शङ्करः॥

मुञ्चेमं बालमृगेन्द्रम्। अन्यत्ते क्रीडनकं दास्यामि। कुत्र मे देहि। चक्रवर्तिलक्षणं अङ्कुशादिरेखारूपम्। तदुक्तम्–अङ्कुशं कुण्डलं चक्रं यस्य पाणितले भवेत्। चक्रवर्ती भवेन्नित्यं सामुद्रकवचो यथा॥ इति[91]॥]

प्रलोभ्य 0॥ (7–16)॥ प्रणयः प्रार्थनम्। संहताङ्गुलिः संश्लिष्टाङ्गुलिः करवत्तापि महापुरुषत्व सूचिका नवो यदापि जले पदे भुजारिति नरनारा[य]ण विशेषणमुक्तम्। जलेति करे आवर्तभेद इत्यन्यः। अलक्ष्यमदृश्य पत्रमभ्यन्तरं उषसा सन्ध्या उषः प्रत्युषसि क्लीबं पितृप्रस्वान्तयोषितीति कोषः। मुञ्चते मुञ्चैनं। न एवं शक्यो वाङ्मात्रेण शमयितुम् तद् गच्छ मदीये उटजे मङ्कणकस्य[92] ऋषिकुमारस्य वर्णकचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति, तमस्मै उपहर। तावदेतेनैव क्रीडिष्यामि। मुञ्चैनम्।

91. मैथिलपाठे शङ्करस्य टीकायाम् इतस्तः गृहीतोऽयम् [[कोष्ठे निवेशितः]] अंशः अत्र समाप्यते।

92. देवनागरी–वाचनायां मार्कण्डेयस्येति पाठो दृश्यते।

तापसी–(विलोक्य हसन्ती) मुच्च णं। (मुञ्चैनम्।)

राजा–स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै। (निःश्वस्य)

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा परुषीभवन्ति।। 7–17।।

तापसी–(साङ्गुलितर्जनम्) भो, ण मं गणेसि। (पार्श्वमवलोकयन्ती) को एत्थ इसि-कुमारआणं मज्झे। (राजानं दृष्ट्वा) भद्दमुह, एहि। मोआवेहि दाव इमिणा दुम्मोअहत्थग्गहेण डिम्भएण बाधीअमाणं बालमइन्दं।

(भो: न मां गणयसि। कोऽत्र ऋषिकुमारकाणां मध्ये। भद्रमुख, एहि मोचय तावदनेन दुर्मोचहस्तग्रहेण डिम्भकेन बाध्यमानं बालमृगेन्द्रम्।)

राजा–तथा। (इत्युपगम्य सस्मितम्) अयि भो महर्षिपुत्रक।

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना संयमी किमिति जन्मदस्त्वया।
सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि दूष्यते कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनः।। 7–18।।

तापसी–भद्दमुह, ण क्खु एसो इसिकुमारओ। (भद्रमुख, न खल्वेषः ऋषिकुमारकः।)

राजा–आकारसदृशं चेष्टितमेवास्य कथयति। स्थानप्रत्ययात्तु वयमतर्किणः। (यथाभ्यर्थितमनुतिष्ठन्बालकस्य स्पर्शमनुभूयात्मगतम्)

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण
स्पृष्टेषु गात्रेषु सुखं ममैवम्।
कां निर्वृत्तिं चेतसि तस्य कुर्याद्
यस्यायमङ्गात्कृतिनः प्रसूतः।। 7–19।।

दुर्लङ्घं ललितमीप्सितं यस्य। आलक्ष्य०।। (7-17) अङ्के क्रोडे य आश्रयोऽवस्थानं तत्र प्रणयिणः प्रार्थकाः स्पृहा नाम नाट्यालंकारोऽयमिति शङ्करः। भो न मां गणयसि। कोऽत्र ऋषिकुमारकाणां मध्ये तिष्ठतीति शेषः। भद्रमुख, एहि तावत्। मोचय एतेन दुर्मोचहस्तग्रहेण बाध्यमानं बालमृगेन्द्रम्।

एवं०।। (7-18) वृत्तिर्व्यवहारः संयमी व्रती जन्मदः पिता, पुण्याश्रमे[93] सुखं यस्य, पुण्याश्रमं सुखं यस्मादिति वा। कण्वस्य ते मलिनीक्रियते। भद्रमुख, न खल्वेष ऋषिकुमारकः।

अनेन०।। (7-19)।। कृतिनो भाग्यवतः।।

आश्चर्यमाश्चर्यम्। अस्य बालस्यासन्न(?)पि भद्रमुखे सम्वादिनी आकृति(तिः), विस्मितासि।

---

93. पुण्याश्रमेण इति 4118 इत्यत्र पठ्यते।

तापसी–(उभौ विलोक्य) अच्छरीयं अच्छरीयं। (आश्चर्यम् आश्चर्यम्।)

राजा–आर्ये, किमिव।

तापसी–इमस्स बालअस्स असंबद्धे वि भद्दमुहे संवादिणी आकिदि त्ति विम्हिद म्हि। अवि अ वामसीलो वि भविअ अवरिचिदस्स ण दे पडिलोमो संवुत्तो।

(अस्य बालकस्य असंबद्धे अपि भद्रमुखे संवादिनी आकृतिः इति। विस्मितास्मि। अपि च वामशीलः अपि भूत्वा अपरिचितस्य न ते प्रतिलोमः संवृत्तः।)

राजा–(बालकमुल्लापयन्) आर्ये, न चेन्मुनिकुमारकोऽयं तत्कोऽस्य व्यपदेशः।

तापसी–पोरवो त्ति। (पौरवः इति)

राजा–(स्वगतम्) कथमेकान्वयोऽयमस्माकम्। अतः खलु सम्भाव्यते। (प्रकाशम्) अस्त्येतत्कुलव्रतं पौरवाणाम्।

भवनेषु सुधासितेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
विहितैकयतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम्।। 7-20।।

कथं पुनरात्मगत्या मानुषाणामेष विषयः।

तापसी–जधा भद्दमुहो भणादि। अच्छरासम्बन्धेण उण इमस्स बालअस्स जणणी देवगुरुणो तवोवणे पसूदा। (यथा भद्रमुखः भणति। अप्सरःसंबन्धेन पुनः अस्य बालकस्य जननी देवगुरोः तपोवने प्रसूता।)

राजा–(आत्मगतम्) हन्त, द्वितीयमिदमाश्वासजननम्। (प्रकाशम्) अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी।

तापसी–को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णामं कित्तइस्सदि। (को तस्य धर्मदारपरित्यागिनः नाम कीर्तयिष्यति।)

राजा–(स्वगतम्) कथमियं कथा मामेव लक्षीकरोति। यदि तावदस्य शिशोर्नामतो मातरं पृच्छेयम्। (विचिन्त्य) अथवा अनार्यः परदारव्यवहारः।

अपि च, बालश्रील्पे(शीलो)पि भूत्वापरिचितस्य न ते प्रतिलोमः संवृत्तः। अपरिचितस्य ते वचनेन प्रकृतिस्थोऽयं संवृत्त इति पाठान्तरे।

उल्लापयन् चालयन् व्यपदिश्यते परिचीयतेऽनेनेति व्यपदेशो वंशादिः। पौरव इति।

भवने०।। (7-20)।। उशन्ति इच्छन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः। नियतमद्वितीयं मुनिव्रतं येषु। यथा भद्रमुखी भणति। अप्सरः सम्बन्धेन पुनरस्य जननी देवगुरोस्तपोवने प्रसूता।।

हन्त हर्षे। कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम कीर्तयिष्यति। परिभाषणं निर्वहणाङ्गमिदम्। तदुक्तम् वदन्ति परिभाषणं परिवादकृतं वाक्यमिति।

सर्वदमन पश्य, शकुन्तलावण्यम्। अथ च शकुन्तलावर्णं रूपम्। कुत्र सा मे आर्या माता।

(प्रविश्य मृन्मय-मयूरहस्ता तापसी) सव्वदमण, पेक्ख सउन्तलावण्णं।

(सर्वदमन, प्रेक्षस्व शकुन्तलावण्यम्।)

बालः–(सदृष्टिविक्षेपम्) कहिं शा मे अय्युआ। (कुत्र सा मे अज्जुका) (उभे प्रहसिते)

प्रथमा–णामसारिस्सेण उवच्छन्दिदो मादिवच्छलो। (नामसादृश्येन उपच्छन्दितः मातृवत्सलः।)

द्वितीया–इमस्स मोरस्स रमणीअत्तणं पेक्ख त्ति भणिदो सि। (अस्य मयूरस्य रमणीयत्वं प्रेक्षस्व इति भणितोऽसि।)

राजा–(स्वगतम्) कथं शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या। अथवा सन्ति पुनर्नामसादृश्यानि। अपि नाम मृगतृष्णिकेव नायमन्ते प्रस्तावो विषादाय कल्पेत।

बालः–अन्तिके लोअदि मे चडुलके एशे मऊलके। (अन्तिके, रोचते मे चटुलः एषः मयूरकः।) (इति क्रीडनकमादत्ते)

प्रथमा–(विलोक्य सावेगम्) अम्मो, रक्खागण्डओ से मणिबन्धे ण दीसदि। (अम्मो, रक्षागण्डकः अस्य मणिबन्धे न दृश्यते।)

राजा–आर्ये, अलमावेगेन। नन्वयमस्य सिंहशावकविमर्दात्परिभ्रष्टः। (इत्यादातुमिच्छति)

उभे–मा खु मा खु। (विलोक्य) कधं गहिदं जेव। (मा खलु मा खलु। कथं गृहीतमेव।) (उभे विस्मयादुरसि निहितहस्ते परस्परमालोकयतः)

राजा–किमर्थं भवतीभ्यां प्रतिषिद्धोऽस्मि।

प्रथमा–सुणादु महाभाओ। महप्पहावा एसा अवराइदा णाम सुरमहोसही इमस्स दारअस्स जादकम्मसमए भअवदा मारीचेण दिण्णा। एदं किल मादापिदरे अत्ताणअं च वज्जिअ अवरो भूमिपडिदं ण गेण्हदि। (शृणोतु महाभागः। महाप्रभावैषापराजिता नाम सुरमहौषधिः अस्य दारकस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता। एतां किल मातापितरौ आत्मानञ्च वर्जयित्वा अपरः भूमिपतितां न गृह्णाति।)

अज्जुका शब्दो मातरि देशीय इति शङ्करः। नामसादृश्येन उपच्छिन्दितः प्रलोभितमातृवत्सलः। एतस्य मयूरस्य रमणीयत्वं प्रेक्षस्वेति भणितोऽसि। अन्तिके, रोचते मे चटुलक एष मयूरः। "अन्तिका भगिनी ज्येष्ठा अत्रार्तिकेत्यपि साध्वित्याभिधानिकाः"। अन्तिका धात्रीति शङ्करः। अम्मो कष्टे, रक्षागण्डकोऽस्य मणिबन्धे न दृश्यते। गण्डको वीद इति ख्यातो जातुषभेदः, मणिबन्धे करमूले। मा खलु मा खलु संप्रक्ष्यसीति शेषः। कथं गृहीतमेवानेन। शृणोतु महाभागः महाप्रभावा खल्वेषौपराजिता नाम सुरमहौषधिः, एतस्य दारकस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता, एतां किल मातापितरावात्मनो वर्ज्जयित्वापरा भूमिपतितां न गृह्णाति। सा सर्पो भूत्वा तं दशति। अनेकशः। सहर्षमिति प्रहर्ष नामा नाट्यालङ्कारः।

राजा–अथ गृह्णाति।

प्रथमा–तदा सप्पो भविअ तं दंसदि। (तदा सर्पः भूत्वा तं दंसति।)

राजा–अथात्रभवतीभ्यां कदाचिद् अन्यत्र प्रत्यक्षीकृतमिदम्।

उभे–अणेअसो। (अनेकशः)

राजा–(सहर्षम्) तत्किं खल्विदानीं पूर्णामात्मनो मनोरथं नाभिनन्दामि। (इति बालकं परिष्वजते)

द्वितीया–सुव्वदे, एहि। इमं वुत्तन्तं णिअमवाउलाए सउन्तलाए गदुअ णिवेदेम्ह। (सुव्रते, एहि इमं वृत्तान्तं नियमव्याकुलायै शकुन्तलायै गत्वा निवेदयाव।) (इति निष्क्रान्ते)

बालः–मुञ्च मं। अय्युआशआशं गमिश्शं। (मुञ्च माम्। अज्जुकासकाशं गमिष्यामि।)

राजा–पुत्रक, मयैव सह मातरमभिनन्दयिष्यसि।

बालः–दुश्शन्ते मम तादे ण क्खु तुमं। (दुःषन्तः मम तातः, न खलु त्वम्।)

राजा–(सस्मितम्) एष विवाद एव मां प्रत्याययति।

(ततः प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला)

शकुन्तला–(सवितर्कम्) विआरकाले वि पइदित्थं सव्वदमणस्स ओसहिं सुणिअ ण मे आसङ्को अत्तणो भाअधेएसुं। अधवा जधा मिस्सकेसीए मे आचक्खिदं तधा सम्भावीअदि एदं। (विकारकाले अपि प्रकृतिस्थां सर्वदमनस्योषधिं श्रुत्वा न मे आसङ्कः आत्मनः भागधेयेषु। अथवा यथा मिश्रकेश्या मे आख्यातं तथा सम्भाव्यते एतत्।)

(इति परिक्रामति)

राजा–(शकुन्तलां दृष्ट्वा सहर्षखेदम्) अये, इयमत्रभवती शकुन्तला–

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति।। 7-21।।

तदुक्तं प्रहर्षः प्रमदाद्वाक्यमिति। सुव्रते, एहि। इमं वृत्तान्तं नियमव्याकुलायै शकुन्तलायै निवेदयावः। मुञ्च मां, आर्या(अज्जुका) सकाशं गमिष्यामि। दुःष्म(ष)न्तो मम तातो। न खलु त्वम्। विकारकालेऽपि प्रकृतिस्थां सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न मे आसङ्क आत्मनो भागधेयेषु। आसङ्कमशचुः(शुचः) प्राकृते अश्वासार्थः। अथवा यथा मिश्रकेश्या मे आख्यातं तथा संभाव्यते इदम्। वसने०।। (7-21) धूसरे मलिने रोलः केशविन्यासः तथा च भरतः अमलास्ववधारणमलकाञ्च कल्पनम्। अनुलेपनसंस्कारं न कुर्यात् पथिकाङ्गना। पाण्डुच्छायाङ्कुशतनुर्वेणीयुतशिरोरुहा। लम्बालकादीना केशाविवर्जित भूषणेति। न खल्वार्यपुत्रोऽयं तव। कः खल्वेष कृतरक्षामङ्गलं मे दारकं गात्रसङ्गेन दूषयति। दारकं बालकम्। आर्ये, एष कोऽपि पुत्रक इत्यालपति। हृदय, समाश्वसिहि। प्रहार्य निवृत्तमात्सर्येण अनुकम्पितास्मि दैवेन। आर्यपुत्र एवैषः।

शकुन्तला–(पश्चात्तापविवर्णं राजानमवलोक्य सवितर्कम्) ण क्खु अज्जउत्तो अअं। ता को णु क्खु एसो किदरक्खामङ्गलं मे दारअं गत्तसङ्गेण दूसेदि। (न खल्वार्यपुत्रोऽयम्। तत् कोऽनु खल्वेषः कृतरक्षामङ्गलं मे दारकं गात्रसङ्गेन दूषयति।)

बालः–(मातरमुपगम्य) अय्युए, एशे के वि पलकेलए मं पुत्तके त्ति आलवेदि। (अज्जुके, एषः कोऽपि परकीयः मां पुत्रकः इति आलपति।)

राजा–प्रिये, क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तम्। तदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानमिच्छामि।

शकुन्तला–(स्वगतम्) हिअअ, समस्सस समस्सस। पहरिअ णिव्वुत्तमच्छरेण अणुकम्पिद म्हि देव्वेण। अज्जउत्तो ज्जेव एसो। (हृदय, समाश्वसिहि समाश्वसिहि। प्रहार्य निर्वृत्तमात्सर्येणानुकम्पितास्मि दैवेन। आर्यपुत्रः एवैषः।)

राजा–

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थितासि मे सुमुखि।
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम्।। 7–22।।

शकुन्तला–जअदु जअदु। (जयतु जयतु।) (इत्यर्धोक्ते बाष्पकण्ठी विरमति)

राजा–प्रिये।

बाष्पेन प्रतिषिद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया।
यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलौष्टमिदं मुखम्।। 7–23।।

बालः–अय्युए, के एशे। (अज्जुके, कः एषः।)

शकुन्तला–वच्छ, भाअधेआइं पुच्छ। (वत्स, भागधेयानि पृच्छ।) (इति रोदिति)

राजा–

सुतनु हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते
किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत्।
प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेष्वपि वृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया।। 7-24।।

(इति पादयोः पतति)

स्मृति०।। (7–22) प्रमुखे सम्मुखे प्रतिवस्तूपमा।

बाष्पे०।। (7–23) अलकः केशभेदः। लोला अलका यत्र पाटलौष्ठेति च पाठः। आर्ये, क एषः। वत्स, भागधेयानि पृच्छ। भाग्यमेव भागधेयम्।

सुतनु०।। (7–24) प्रत्याख्यानेति निराकरणं विश्रियं, परिहाराख्य–नाट्यालङ्कारोऽयम्।

शकुन्तला–उत्थेदु उत्थेदु अज्जउत्तो। णूणं मम सुहप्पडिबन्धअं पुराकिदं तेसुं दिअसेसुं परिणामसुहं आसि जेण साणुक्कोसो वि अज्जउत्तो तधा संवुत्तो। (उत्तिष्ठतु उत्तिष्ठतु आर्यपुत्रः। नूनं मम सुखप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणामसुखम् आसीत्, येन सानुक्रोशः अप्यार्यपुत्रः तथा संवृत्तः।)

(राजा उत्तिष्ठति)

शकुन्तला–अध कधं अज्जउत्तेण सुमरिदो अअं दुक्खभाई जणो। (अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतः अयं दुःखभागी जनः।)

राजा–उद्धृतविषादशल्यः कथयामि।

मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते
यो बाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य
कान्ते प्रमृज्य विगतानुशयो भवामि।। 7–25।।

(इति यथोक्तमनुतिष्ठति)

शकुन्तला–(प्रमृष्टबाष्पाङ्गुलीयकं विलोक्य) अज्जउत्त। तं इदं अङ्गुलीअअं। (आर्यपुत्र, तदिदमङ्गुरीयकम्।)

राजा–अथ किम्। अस्माद् अद्भुतोपलम्भान्मया स्मृतिरुपलब्धा।

शकुन्तला–संपादिदं खु अणेण जं तधा अज्जउत्तस्स पच्चअकारणं दुल्लहं मे आसि। (सम्पादितं खल्वनेन यत् तथा आर्यपुत्रस्य प्रत्ययकारणम् दुर्लभं मे आसीत्।)

राजा–तेन हि, ऋतुसमागमाशंसि प्रतिपद्यतां लता कुसुमम्।

शकुन्तला–ण से विस्ससामि। अज्जउत्तो ज्जेव णं धारेदु। (न अस्य विश्वसिमि। आर्यपुत्रः एव एतत् धारयतु।)

प्रविश्य **मातलिः**–दिष्ट्या, धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखसन्दर्शनेन चायुष्मान्वर्धते।

राजा–सुहृत्संपादितत्वात्साधुतरफलो मे मनोरथः। मातले, न खलु विदितोऽयम् आखण्डलस्यार्थः।

तदुक्तम्–परिहारः परिज्ञेयं कृतानुचितमार्जनमिति। उत्तिष्ठ उत्तिष्ठत्वार्यपुत्र। नूनं मम सुखप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणतमासीत्। येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रस्तथा संवृत्तः। अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतोऽयं दुःखभागिनी जनः।

मोहा०।। (7–25) परिबाधमानः प्री(पी)डयन्। आर्यपुत्र तदिदम् अङ्गुरीयकम्। सम्पादितं खलु(ल्व)नेन यत्तदार्यपुत्रस्य प्रत्ययकारणं दुर्लभं मे आसीत्। नास्य विश्वसिमि। आर्यपुत्र एवैनं धारयतु। सुहृदां भवतां सम्पादितत्वात्। लज्जे खल्वार्यपुत्रेण सह गुरुजनसमीपं गन्तुम्।

मातलिः–(सस्मितम्) किमीश्वराणां परोक्षम्। एहि। भगवान्मारीचस्ते दर्शनमिच्छति।

राजा–प्रिये, अवलम्ब्यतां पुत्रः। त्वामेव पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि।

शकुन्तला–लज्जामि क्खु अज्जउत्तेण सद्धं गुरुअणसमीवं गन्तुं। (लज्जे खलु आर्यपुत्रेण सार्धं गुरुजनसमीपं गन्तुम्।

राजा–आचरितमेतदभ्युदयकालेषु। तदेहि तावत्। (इति परिक्रामन्ति)

(ततः प्रविशत्यदित्या सहासनोपविष्टो मारीचः)

मारीचः–(राजानमवलोक्य) दाक्षायणि।

पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी
दुःषन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता।
चापेन यस्य विनिवर्तितकर्म जातं
तत्कोटिमत्कुलिशमाभरणं मघोनः।। 7–26।।

अदितिः–सम्भावणीअप्पहावा खु से आकिदी। (सम्भावनीयप्रभावा खल्वस्य आकृतिः।)

मातलिः–भूपते, एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुषा दिवौकसां पितरावायुष्मन्तमेवावलोकयतः। तदुपसर्प।

राजा–मातले,

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं
भर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम्।
यस्मिन्नात्मभुवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं
द्वन्द्वं दक्षमरीचिसंभवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम्।। 7–27।।

मातलिः–अथ किम्।

राजा–(प्रणिपत्य) उभाभ्यामपि वां वासवनियोज्यो दुःषन्तः प्रणमति।

मारीचः–वत्स, चिरं पृथिवीं पालय।

अदितिः–जाद, अप्पदिरधो होहि। (जात, अप्रतिरथः भव।)

(शकुन्तला पुत्रसहिता पादयोः पतति)

पुत्रस्य०।। (7-26) कोटिमत् ति(ती)क्ष्णाग्रेशालि आभरणं भूषणमेव, न तु तेन युक्तमाचरतीत्यर्थः। सम्भावनीयप्रभावा आपन्नाकृतिः।

प्राहुः०।। (7-27) द्वादशधेति सूर्यस्येत्यर्थः। यज्ञेति इन्द्रं आत्मभुवो ब्रह्मणः परः पुरुषो नारायणः।

जात भर्तुर्बहुम[ता] भव, यावताराय(?)। अप्रतिहतरथो भव।

मारीचः–वत्से,

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः।
आशीरन्या न ते योज्या पौलोमीमङ्गला भव।।7–28।।

अदितिः–जाद, भत्तुणो बहुमदा होहि। अअं च दीहाऊ उहअपक्खं अलंकरेदु। ता एध उपविसध। (जात, भर्तुः बहुमता भव। अयं च दीर्घायुः उभयपक्षं अलङ्करोतु। तत् एत उपविशत।)

(सर्वे उपविशन्ति)

मारीचः–एकैकं निर्दिशन्।

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्।।7–29।।

राजा–भगवन्, प्रागभिप्रेतसिद्धिः पश्चाद्दर्शनमित्यपूर्वः खलु वोऽनुग्रहः। पश्यतु भगवान्।

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं
घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं विधि-
स्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः।।7–30।।

मातलिः–आयुष्मन्, एवं विश्वगुरवः प्रसीदन्ति।

राजा–भगवन्, इमामाज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विधिनोपयम्य कस्य चित्कालस्य बन्धुभि-रानीतां स्मृतिशैथिल्यात्प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मद्गोत्रस्य कण्वस्य। पश्चादेनामङ्गुरीयकदर्शनादूढपूर्वामवगतोऽस्मि। तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति।

यथा गजे साधुसमक्षरूपे
कस्मिन्नपि क्रामति संशयः स्यात्।
पदानि दृष्ट्वाथ भवेत्प्रतीति-
स्तथाविधो मे मनसो विकारः।।7–31।।

अङ्ग०।। (7-28) पौलोमीति अविधवा भवेत्यर्थः। शङ्करस्तु भर्ता इन्द्रतुल्यो भवतु, जयन्ततुल्यश्च पुत्रो भवत्वित्याह। आशीर्न्नाम नाट्यालङ्कारोऽयम्। जात, भर्तुर्बहुमता भव। अयञ्च ते दीर्घायुरुभयपक्षेऽलङ्करोतु। तदत्रोपविशतु।। दिष्ट्या०।। (7-29) दिष्ट्या आनन्दे श्रद्धा प्रसिद्धा वेदबोधिताचरणं विधिः।

उदेति०।। (7-30) प्रियोक्ति नाम नाट्यलक्षणमिदम्। तदुक्तं स्यात् संप्रीणयितुम् पूज्यं(?) प्रियोक्तिर्हर्षभाषणमिति। कस्यचित् कस्मिंश्चिदित्यर्थः। षष्ठी सप्तम्यो(म्य)भावात्।

यथा०।। (7-31) साधु आबाधितं समक्षं विद्यमानं रूपं यस्य। पदानि पदचिह्नानि।

मारीचः–वत्स, अलमात्मापराधशङ्कया। संमोहोऽपि त्वय्युपपन्न एव। श्रूयताम्।

राजा–अवहितोऽस्मि।

मारीचः–यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात्प्रत्याख्यानविक्लवां शकुन्तलामादाय दाक्षायणीमुपगता मेनका तदैव ध्यानादवगतवृत्तान्तोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणा प्रत्यादिष्टेति। स चाङ्गुरीयकदर्शनावसानः शापः।

राजा–(सोच्छ्वासमात्मगतम्) एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि।

शकुन्तला–(स्वगतम्) दिट्ठिआ। अकामपच्चादेसी अज्जउत्तो। ण उण सच्चं मं सुमरेदि। अधवा ण सुदो भवे अअं सुण्णहिअआए मए सावो, जदो सहीहिं अच्चादरेण संदिट्ठं भत्तुणो अङ्गुलीअअं दंसेसि त्ति। (दिष्ट्या। अकामप्रत्यादेशी आर्यपुत्रः। न पुनः सत्यं मां स्मरति। अथवा न श्रुतः भवेत् अयं शून्यहृदयया मया शापः, यतः सखीभिः अत्यादरेण संदिष्टं भर्तुः अङ्गुरीयकं दर्शयसि इति।)

मारीचः–वत्से, विदितार्थासि। तदिदानीं सहधर्मचारिणं प्रति न त्वया मन्युः करणीयः। पश्य–

शापादसि प्रतिहता स्मृतिलोपरूक्षे
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा।। 7–32।।

राजा–यथाह भगवान्।

मारीचः–वत्स, कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मादिक्रियः पुत्र एष शाकुन्तलेयः।

राजा–भगवन्, अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा।

मारीचः–तथा शौर्यस्वभावेन चक्रवर्तिनमेनमवगच्छतु भवान्। पश्य–

रथेनानुद्धातस्तिमितगतिनोत्तीर्णजलधि :
पुरा सप्तद्वीपाम् अवति वसुधामप्रतिरथः।

दिष्ट्या अकामप्रत्यादेशी आर्यपुत्रः। न पुनः सत्यं मां स्मरति। अथवा न श्रुतो भवेदयं शून्यहृदयया शापः। लकारश्चकारौ। यतः सखीभिरत्यादरेण सन्दिष्टं भर्तुरङ्गुरीयकं दर्शयिष्यसीति। शापा०।। (7-32) रुक्षे कलुषे अत्र हेतुः शापादिति। तमोऽज्ञानं मूर्च्छति स्फुरति।

रथेन०।। (7-33) सप्तद्वीपां सप्तद्वीपवतीं पुरा अवति पालयिष्यति भविष्यति ल(लृ)ट्। अनया पितृदुहितुर्मनोरथसम्पत्या कण्वोऽपि तावद्विज्ञातार्थः क्रियताम्। मेनका पुनरत्र मां परिचरन्ती सुसपिहितेन। मम मनोरथो व्याहतो भवत्या विहायसा आकाशेन।

इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्।। 7–33।।

राजा–भगवत्कृतसंस्कारेऽस्मिन्सर्वमाशंसे।

अदितिः–इमाए दुहिदिआए मणोरधसम्पत्तीए कण्णो वि दाव विण्णादत्थो करीअदु। मेणआ उण इध मं परिअरन्ती संणिहिदा जेव चिट्ठदि। (अनया दुहितुः मनोरथसम्पत्त्या कण्वः अपि तावत् विज्ञातार्थः क्रियताम्। मेनका पुनः इह मां परिचरन्ती सन्निहिता एव तिष्ठति।)

शकुन्तला–(स्वगतम्) मम मणोरधो वाहरिदो भअवदीए। (मम मनोरथः व्याहृतः भगवत्या।)

मारीचः–तपः प्रभावात्सर्वमिदं प्रत्यक्षं तत्रभवतः कण्वस्य। (विचिन्त्य) तथाप्यसौ दुहितुः सपुत्रायाः पत्या परिग्रहात्प्रियमस्माभिः श्रावयितव्यः। कः कोऽत्र भोः।

प्रविश्य **शिष्यः**–भगवन्, अयमस्मि।

मारीचः–गालव, मद्वचनादिदानीमेव विहायसा गत्वा तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा पुत्रवती शकुन्तला दुर्वाससः शापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुःषन्तेन गृहीतेति।

शिष्यः–यथाज्ञापयति भगवान्। (इति निष्क्रान्तः)

मारीचः–(राजानं प्रति) वत्स, त्वमपि सापत्यदारः सख्युराखण्डलस्य रथमास्थाय स्वां राजधानीं प्रतिष्ठस्व।

राजा–यथाज्ञापयति भगवान्।

मारीचः–सम्प्रति हि–

तव भवतु बिडोजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं प्रीणयालम्।
युगशतपरिवृत्तैरेवमन्योन्यकृत्यै –
र्नयतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयौ ।। 7–34।।

राजा–भगवन्, यथाशक्ति श्रेयसि प्रयतिष्ये।

मारीचः–वत्स, किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि।

तव०।। (7–34) बिडौजा इन्द्रः प्राज्यं प्रचुरम्। किं ते भूय इति निर्वहणाङ्क काव्यसंहारोऽयम्। तदुक्तं वरप्रदानसंप्राप्तिः काव्यसंहार इष्यत इति।।

राजा–भगवन्, अतः परमपि प्रियमस्ति। तथाप्येतदस्तु।

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतभक्तिरात्मभूः।। 7–35।।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

।। इति सप्तमोऽङ्कः।।

पुन०।। (7-35) श्रुतिमतां वेदविदां महीयतां पूजिता भवतु। प्रसन्निति यावत् नीललोहितः शिखः(वः) आत्मनाम्बाभावेन परिगता आश्रिता शक्तिः सकलभुवनशासनानुग्रहक्षमं सामर्थ्यं यस्तु नित्यशक्तिरित्यर्थः। यद्वा परिगतशक्तिः सगौरीकः आगमे शक्तिपदेन गौर्याविधानात्। आत्मभूरिति क्वचित् पाठः। प्रशस्ति(?)सामर्थ्यकम् इदं तदुक्तं.......भूपतेः शान्तिरस्तु प्रशस्तिरित्यभिधीयते इति।।

इति महामहोपाध्याय-श्रीविष्णुपण्डित-तनुजन्म
श्रीचन्द्रशेखर-चक्रवर्तिकृतावभिज्ञानशकुन्तलटीकायां
[ज्ञान]सन्दर्भदीपिकायां[94] सप्तमाङ्कविवरणं समाप्तम्।।

श्रीहरये नमः।। श्रीरामाय नमः।।
शकाब्दाः 1728।। ॐ गङ्गायै नमः।।[95]
।। शुभं भूयात्।।

---

94. मातृका 4117 इत्यत्रैव ज्ञानसन्दर्भदीपिकेति नाम पठ्यते।
95. मातृका 4118 इत्यत्र लेखनकालो नैव लिखितः।।

परिशिष्ट–1

सं०	चन्द्रशेखरेण निर्दिष्टाः श्लोकाः।।	अङ्कः	क्रमः	पृष्ठांकः
1	अक्लिष्टबालतरुपल्लव०	6	23	210
2	अतः समीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्०	5	27	188
3	अद्यापि नूनं हरकोपवह्नि०	3	3	135
4	अधरः किसलयरागः कोमल०	1	21	108
5	अध्याक्रान्ता वसतिरमुना०	2	15	130
6	अनवरतधनुर्ज्यास्फालन०	2	4	124
7	अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं०	2	11	128
8	अनिर्दयोपभोग्यस्य रूपस्य०	3	30	148
9	अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो०	3	5	135
10	अनुकारिणि पूर्वेषां युक्ति०	2	17	131
11	अनुमतगमना शकुन्तला सा तरुभि०	4	12	167
12	अनुयास्यन् मुनितनयां सहसा०	1	29	116
13	अनेन कस्यापि कुलांकुरेण०	7	19	226
14	अनेन लीलाभरणेन ते प्रिये०	3	32	149
15	अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं०	7	2	220
16	अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती०	4	3	159
17	अपयास्यति मे शोकः कथं०	4	23	173
18	अपराधमिमं ततः सहिष्ये यदि०	3	24	145
19	अप्यौत्सुक्ये महति दयित०	3	27	147
20	अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये०	4	21	172
21	अभिमुखे मयि संवृतमीक्षितं०	2	12	128
22	अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिर०	5	12	180
23	अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा०	3	9	136

सं०	चन्द्रशेखरेण निर्दिष्टाः श्लोकाः।।	अङ्कः	क्रमः	पृष्ठांकः
24	अमी वेदीं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः०	4	10	166
25	अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको०	3	16	141
26	अयं स ते श्यामलतामनोहरं०	3	35	150
27	अयं स यस्मात् प्रणयावधीरणा०	3	17	141
28	अयमगविवरेभ्यश्चातकैर्नि०	7	7	221
29	अरिहसि मे चूअङ्कुर दिण्णो०	6	3	198
30	अर्थो हि कन्या परकीय एव०	4	24	174
31	अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्ट०	7	14	224
32	अशिशिरतरैरन्तस्तापैर्विवर्ण०	3	15	140
33	असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा०	1	22	110
34	अस्मात् परं बत यथास्मृति०	6	28	214
35	अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमध०	4	19	170
36	अस्यास्तुंगमिव स्तनद्वयमिदं०	6	16	207
37	अहन्यहन्यात्मन एव ताव०	6	32	217
38	अहिणवमहुलोहभाविओ०	5	8	177
39	आ जन्मनः शाठ्यमशिक्षितो०	5	28	188
40	आ परितोषाद् विदुषां न साधु०	1	2	97
41	आअम्बहरिअवेण्टं ऊससिअं विअ०	6	2	197
42	आखण्डलसमो भर्ता जयन्त०	7	28	233
43	आचार इत्यधिकृतेन मया०	5	1	175
44	आमूलशुद्धसंततिकुलमेतत्०	6	29	215
45	आलक्ष्यदन्तमुकुलान०	7	17	226
46	इतः प्रत्यादिष्टा स्वजनमनुगन्तुं०	6	10	203
47	इदं किलाव्याजमनोहरं वपु०	1	17	106
48	इदमनन्यपरायणमन्यथा०	3	22	144
49	इदमप्युपकृतिपक्षे सुरभि मुखं०	3	37	152
50	इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्ट०	5	20	184
51	इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना०	1	18	106
52	उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं०	4	17	170
53	उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनी०	3	26	147

सं०	चन्द्रशेखरेण निर्दिष्टाः श्लोकाः।।	अङ्कः	क्रमः	पृष्ठांकः
54	उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं०	7	30	233
55	उन्मितैकभ्रूलतमाननमस्याः०	3	18	142
56	उपकृत्य हरेस्तस्या भवाल्लंघु०	7	1	220
57	उपहितस्मृतिरङ्गुलिमुद्रया०	6	9	201
58	उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः०	7	10	222
59	उल्ललइ दब्भकवलं मई०	4	14	168
60	एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं०	6	13	205
61	एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना०	7	18	226
62	एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी०	6	33	217
63	एषा कुसुमनिषण्णा तृषिता०	6	22	210
64	औत्सुक्यमात्रमवसादयति०	5	5	176
65	कः पौरवे वसुमतीं शासति०	1	25	111
66	कठिनमपि मृगाक्ष्या वल्कलं०	1	20	107
67	कथं नु तं कोमलबन्धुरा०	6	14	206
68	कर्कन्धूनामुपरि तुहिनं रञ्जय०	4	4	159
69	का कथा बाणसंधाने ज्या०	3	1	134
70	कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न०	5	34	191
71	कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु०	2	1	121
72	कार्या सैकतलीनहंसमिथुना०	6	20	209
73	किं कृतकार्यद्वेषाद् धर्मं प्रति०	5	19	183
74	किं तावद् व्रतिनामुपोढतपसां०	5	10	179
75	किं शीकरैः क्लमविमर्दिभि०	3	25	146
76	कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां०	5	15	181
77	कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता०	5	31	189
78	कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः०	1	14	103
79	कृतं न कर्णार्पितबन्धनं०	6	21	209
80	कृताः शरव्यं हरिणा तवासुरा०	6	35	218
81	कृतावमर्शामनुमन्यमानः०	5	21	184
82	कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद्०	2	18	132
83	कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि०	1	6	100

सं०	चन्द्रशेखरेण निर्दिष्टाः श्लोकाः।।	अङ्कः	क्रमः	पृष्ठांकः
84	केयमवगुण्ठनवती नातिपरि०	5	14	181
85	क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृग०	2	19	133
86	क्षणात्प्रबोधमायाति लंघ्यते०	5	2	175
87	क्षामक्षामकपोलमानन०	3	12	138
88	क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा०	4	7	164
89	खणचुम्बिआइँ भमरेहिँ उअह०	1	4	98
90	गच्छति पुरः शरीरं धावति०	1	34	119
91	गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो थ०	3	28	148
92	गाहन्तां महिषा निपानसलिलं०	2	6	125
93	ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहु०	1	7	100
94	चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि०	1	24	110
95	चारुणा स्फुरितेनायमपरिक्षत०	3	36	151
96	चित्ते निवेश्य परिकल्पित०	2	10	127
97	चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका०	6	4	198
98	जाने तपसो वीर्यं सा बाला०	3	2	134
99	ज्वलति चलितेन्धनो ग्निर्विप्रकृत०	6	37	219
100	णावेक्खिओ गुरुअणो इमीअ०	5	17	182
101	तदाशु कृतसंधानं प्रतिसंहर०	1	11	102
102	तदेषा भवतः पत्नी त्यज वैनं०	5	29	188
103	तपति तनुगात्रि मदनस्त्वाम्०	3	20	143
104	तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मि०	3	4	135
105	तव भवतु बिडौजाः प्राज्यवृष्टि०	7	34	235
106	तव सुचरितमङ्गुरीय नूनं०	6	12	204
107	तवास्मि गीतरागेण हारिणा०	1	5	99
108	तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता०	3	39	154
109	तस्याग्रभागाद् गृहनीलकण्ठै०	6	31	216
110	तीव्राघातादभिमुखतरुस्कन्ध०	1	33	118
111	तुज्झ ण आणे हिअअं मम०	3	19	142
112	तुज्झे ज्जेव पमाणं जाणध०	5	26	187
113	तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुर्विटप०	1	32	118

सं०	चन्द्रशेखरेण निर्दिष्टाः श्लोकाः।।	अङ्कः	क्रमः	पृष्ठांकः
114	त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां०	7	6	221
115	त्वं दूरमपि गच्छन्ती हृदयं०	3	29	148
116	त्वन्मतिः केवला तावत् प्रतिपाल०	6	38	219
117	त्वमर्हतां प्राग्रहरः स्मृतो०	5	16	182
118	दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत०	2	13	129
119	दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव०	6	24	211
120	दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी०	7	29	233
121	दीर्घापाङ्गविसारिनेत्र०	6	15	206
122	दुःषन्तेनाहितं तेजो दधानां०	4	6	162
123	धर्म्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः०	1	12	102
124	न खलु न खलु बाणः संनिपात्यो०	1	10	101
125	न तिर्यगवलोकितं भवति चक्षु०	5	24	187
126	न नमयितुमधिज्यमुत्सहिष्ये०	2	3	123
127	नियमयसि विमार्गप्रस्थिता०	5	7	177
128	निराकृतनिमेषाभिर्नेत्रपंक्ति०	2	8	126
129	नीवाराः शुककोटरार्भकमुख०	1	13	103
130	नैतच्चित्रं यदयमुदधि०	2	16	130
131	परिग्रहबहुत्वे पि द्वे प्रतिष्ठे०	3	23	144
132	पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं०	4	11	166
133	पादन्यासं क्षितिधरगुरोर्मूर्ध्नि०	4	5	159
134	पिपासाक्षामकण्ठेन याचितं०	3	33	149
135	पुडइणिवत्तन्तरिअं वाहरिओ०	4	18	170
136	पुत्रस्य ते रणशिरस्ययम्०	7	26	232
137	पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन०	3	13	139
138	प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा०	5	3	175
139	प्रजागरात् खिलीभूत०	6	25	211
140	प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधि०	6	6	200
141	प्रथमं साराङ्गाक्ष्या प्रियया०	6	7	200
142	प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो०	7	16	225
143	प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः०	7	35	236

सं०	चन्द्रशेखरेण निर्दिष्टाः श्लोकाः।।	अङ्कः	क्रमः	पृष्ठांकः
144	प्रागेव जरसा कम्पः सविशेषेण०	6	30	216
145	प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता०	7	12	223
146	प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो०	7	27	232
147	बाष्पेन प्रतिषिद्धे पि जयशब्दे०	7	23	230
148	भव हृदय साभिलाषं संप्रति०	1	28	116
149	भवनेषु सुधासितेषु पूर्वं क्षिति०	7	20	227
150	भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः०	5	13	180
151	भानुः सकृद्युक्ततुरंग एव०	5	4	176
152	भूत्वा चिराय सदिगन्तमही०	4	22	172
153	मणिबन्धनगलितमिदं संक्रान्तो०	3	31	149
154	मनोरथाय नाशंसे किं बाहो०	7	13	224
155	मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ०	5	25	187
156	महतस्तेजसो बीजं बालो यं०	7	15	225
157	महाभागः कामं नरपतिरभिन्न०	5	11	180
158	मानुषीभ्यः कथं नु स्यादस्य०	1	26	115
159	मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्व०	1	8	100
160	मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना०	6	8	201
161	मुहुरङ्गुलिसंवृत्ताधरोष्ठं०	3	38	153
162	मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति०	5	32	189
163	मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्यु०	2	5	124
164	मोहान्मया सुतनु पूर्व०	7	25	231
165	यतो यतः षट्चरणो भिवर्तते०	1	23	110
166	यथा गजे साधुसमक्षरूपे०	7	31	233
167	यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा०	1	9	101
168	यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा०	5	30	189
169	यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां०	2	14	129
170	यद्यत्साधु न चित्रे स्मिन्०	6	17	207
171	ययातेरिव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता०	4	9	166
172	यस्य त्वया व्रणविरोहणम्०	4	16	169
173	या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं०	1	1	95

सं०	चन्द्रशेखरेण निर्दिष्टाः श्लोकाः।।	अङ्कः	क्रमः	पृष्ठांकः
174	यात्येकतो स्तशिखरं पतिरोषधी०	4	2	159
175	यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं०	4	8	165
176	येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः०	6	26	213
177	यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं०	6	34	218
178	रथेनानुद्धातस्तिमितगतिना०	7	33	234
179	रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिः०	6	5	199
180	रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च०	5	9	178
181	रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि०	4	13	167
182	रहः प्रत्यासत्तिं यदि सुवदना०	3	40	154
183	ललितोप्सरोभवं किल मुनेरपत्यं०	2	9	127
184	वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरग्०	7	11	223
185	वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाम०	7	21	229
186	वाचं न मिश्रयति यद्यपि०	1	31	118
187	विचिन्तयन्ती यम् अनन्यमानसा०	4	1	156
188	विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां	7	5	221
189	वृथैव संकल्पशतैरजस्रमनङ्ग०	3	6	135
190	वैखानसं किमनया व्रतमाप्र०	1	27	115
191	व्यपदेशमाविलयितुं समीहसे०	5	22	185
192	शक्योरविन्दसुरभिः कणवाही०	3	8	136
193	शमप्रधानेषु तपोवनेषु गूढं०	2	7	125
194	शशिकरविशदान्यास्तथा०	3	11	137
195	शहये किल ये वि णिन्दिदे०	6	1	193
196	शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति०	1	15	104
197	शापादसि प्रतिहता स्मृतिलोप०	7	32	234
198	शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रम०	1	16	105
199	शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखी०	4	20	171
200	शैलानामवरोहतीव शिखराद्०	7	8	222
201	संकल्पितं प्रथममेव मया०	4	15	168
202	संदष्टकुसुमशयनान्याशु०	3	21	143
203	संमीलन्ति न तावद् बन्धनकोशा०	3	7	136

सं०	चन्द्रशेखरेण निर्दिष्टाः श्लोकाः।।	अङ्कः	क्रमः	पृष्ठांकः
204	संरोपिते प्यात्मनि धर्मपत्नी०	6	27	214
205	सख्युस्ते स किल शतक्रतोरवध्य०	6	36	218
206	सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां०	5	18	183
207	सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि०	1	19	107
208	सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि०	5	33	190
209	साक्षात् प्रियामुपगतामपहाय०	6	18	207
210	सायंतने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते०	3	41	154
211	सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि०	7	4	220
212	सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं०	7	3	220
213	सुतनु हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीक०	7	24	230
214	सुभगसलिलावगाहाः पाटलिसंसर्ग०	1	3	97
215	स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिल०	3	10	137
216	स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वम्०	5	23	187
217	स्निग्धं वीक्षितमन्यतो पि नयने०	2	2	121
218	स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता०	3	14	139
219	स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या०	7	22	230
220	स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ०	1	30	117
221	स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो०	6	11	204
222	स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे०	5	6	176
223	स्वायंभुवान्मरीचेर्यः प्रबभूव०	7	9	222
224	स्विन्नांगुलीनिवेशाद् रेखा०	6	19	208
225	हरकोपाग्निदग्धस्य दैवेनामृत०	3	34	150

परिशिष्ट–2

(सन्दर्भदीपिका में निर्दिष्ट ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों की अ-कारादि क्रम से नामावली)

1. अद्भुतसागर:–(1)–15
2. अनन्तार्णव:–(2)–3
3. अमर:–(1)–4, 7, 8, 12, (2)–2, 8, 12, (3)–6, 15, 25, (4)–9, (5)–9, 14, 19, 28, (7)–11,
4. अमरटीका–(6)–30,
5. आगम:–(7)–35,
6. कविकण्ठहार:–(1)–25,
7. कविकल्पलतिका–(3)–5,
8. कालिदास:–(1)–1,
9. काव्यमीमांसक:–(1)–6,
10. कोष:–(1)–16, 20, (2)–10, (3)–24, (5)–21,
11. गुरव:–(1)–10,
12. चतुर्भुजमिश्र:–(1)–1,
13. तीरभुक्तीयग्रन्थ:–(1)–20,
14. त्रिकाण्डशेष:–(4)–6,
15. त्रिलोचनमिश्र:–(1)–1, 23, 24, (3)–5, (6)–33,
16. दर्पणकार: (विश्वनाथ:)–(3)–38, (5)–4,
17. दाक्षिणात्यग्रन्थ:–(1)–20, (6)–16,
18. दुर्गटीका–(2)–15,
19. देशी–(4)–18, (5)–19,
20. नव्या:–(1)–1, 14,
21. नाट्यलोचन:–(1)–23, 24, (3)–5, (6)–33,
22. पाणिनिसूत्रम्–(1)–15, (2)–1 से पूर्व,
23. पुराणपुस्तकम्–(5)–24,

—•—

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूचिः

A Reconstruction of the Abhijnanaśakuntalam, Ed. Prof. Dileep Kumar Kanjilal, Sanskrit College, Calcutta, 1980

Abhijnanaśakuntala, (The purer Devanagari Text), Ed. Prof. P.N. Patankar, Pub. Shiralkar&Co., Poona, 1902

Abhijnana Śakuntalam, Ed. Sharad Ranjan Rai, Calcutta, 1908

Abhijnana Śakuntalam, Ed. S.K. Belvalkar, Pub. Sahity Akademi, New Delhi, 1965

Die Kac'mirer Śakuntala–Handschrift, Ed. Karl Burkhard, Published in SITZUNGSBERICHTE Der Philosophisch & Historiischen Classe, Wein, Germany, 1884

Kalidāsa's Śakuntala, Ed. Richard Pischel, Harvard University Press, Cambridge, 1876, (Second Edition in 1922.

Patankar, P.N. (1902), TheAbhijnanaśakuntala, Poona: Shiralkar & Co, Boodhwar Peith, Poona.

Pischel, R. (1876] (Seond edition & 1922), Kalidāsa's Śakuntala, an Ancient Hindu Drama, Cambridge: Harvard University Press.

Sacuntala Annulo Recognita, (Textum Recensionis Devanagaricae Recognovit)] Ed. Carolus Burkhard, Vratislaviae, Impensis J.U. Kerni, Bonnensis, 1872

The Text of Śakuntala, B.K. Thakore, Pub. D.B. Taraporewala sons & Co., Bombay, 1922

अभिज्ञानशकुन्तलम्, (टीकाकार–शङ्कर–नरहरि), सं. श्री रमानाथ झा, प्रका. मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा, 1957, प्रथम संस्करण।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, (टीकाकार–राघव भट्ट), सं.नारायण राम, प्रका. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2006, द्वितीय संस्करण।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, (टीकाकार–काटयवेम), सं. चेलमचेर्ल रंगाचार्य, प्रका. आन्ध्रप्रदेश साहित्य अकादेमी, हैदराबाद, 1982, प्रथम सं.

अभिज्ञानशकुन्तलम्, (टीकाकार–नवकिशोरकर शास्त्री, अनु. रामतेज पाण्डेय, प्रका. चौखम्बा संस्कृत सीरीझ, वाराणसी, 1960, चतुर्थ सं.

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, (टीकाकार–घनश्याम), सं. पूनम पंकज रावळ, प्रका. सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदावाद, 1997, प्रथम संस्करण।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, (टीकाकार–श्रीनिवासाचार्य, सं. गणेश काशीनाथ काळे, प्रका. अज्ञात, मद्रास, 1916, प्रथम संस्करण

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, (टीकाकार–अभिराम), सं. जे.के. बालसुब्रह्मण्यम्, प्रका. श्रीवाणीविलास मुद्रणालय, श्रीरङ्गम्, 1917, प्रथम संस्करण।

बेलवालकर, ए. (1965), अभिज्ञानशाकुन्तलम्, दिल्ली: साहित्य अकादेमी.

बेलवालकर, एस.के. (1962 (वि.सं. 2019), निसर्ग कन्या शकुन्तला (शोध- आलेख). In अ.-श. चतुर्वेदी, कालिदास ग्रन्थावली, (pp. 7×60-), अलीगढ: भारत प्रकाशन मन्दिर.

कालिदास–अपनी बात, (भारतीय दृष्टि)। ले. पं.श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी, कालिदास संस्थान, वाराणसी, 2004, प्रथम संस्करण।

कालिदास–ग्रन्थावली, सं. पं. श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रका. कालिदास संस्थान, वाराणसी, 1986, द्वितीय संस्करण।

कालिदास–ग्रन्थावली, (भाग–1, 2), अनु. पं. श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी, सं. मिथिलाप्रसाद त्रिपाठी,प्रका. कालिदास संस्कृत अकादेमी, उज्जैन, 2009

काञ्चीलाल, द. (1980), अभिज्ञानशकुन्तलम्, कोलकाता: संस्कृत कॉलेज, 1 बंकीम चेटर्जी स्ट्रीट, कोलकाता–700073.

काञ्चीलाल, द. (1980), अभिज्ञानशकुन्तलम्, कोलकाता: संस्कृत कॉलेज.

काटयवेम, (1982), अभिज्ञानशाकुन्तलम्, हैदराबाद: आन्ध्रप्रदेश संस्कृत अकादेमी.

नाट्यशास्त्र, सं. बलदेव उपाध्याय, प्रका. चौखम्बा ओरिएन्टालिया, वाराणसी, 1980, चतुर्थ संस्करण।

नवकिशोरकर, (1960), अभिज्ञानशाकुन्तलम्, वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सिरीझ.

प्राकृत–प्रकाश, सं. अनु. मथुराप्रसाद दीक्षित, प्रका. चौखम्बा संस्कृत सीरीझ, वाराणसी, 1959, चतुर्थ संस्करण।

महाभारत–आदिपर्वन्, सं. वी.एस. सुकथणकर, प्रक. भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्युट, पूर्णे, 1933, प्रथम संस्करण।

रमानाथ झा. (1957). अभिज्ञानशकुन्तलम् (शंकर–नरहरिकृतयोष्टीकयोः समेतम्), दरभंगारू मिथिला विद्यापीठ.

राघवभट्ट. (2006), अभिज्ञानशाकुन्तलम्. दिल्ली: राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान.

राय, शरद रञ्जन. (1908), अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कोलकाता.

—•—